श्लोकार्थ—उस द्वारका में सर्व लोकपालों की सम्पत्ति से सजाये और उनसे पूजित भगवान् का अन्तःपुर था, जिसमें विश्वकर्मा ने अपना सर्व चातुर्य दिखलाया है ॥७॥

सुबोधिनी—एवंप्रकारेण नारदो दृष्टवानिति। तदा लौकिकोत्कर्षः सम्पद्यते। तच्च तस्यानभिप्रेतमिति। सिद्धे हि लौकिकत्वे तत्र बुद्धिस्थैर्ये लौकिकस्य निरोधः सम्पद्यत इति। **तस्यां** द्वारकायाम्। हरेरन्तःपुरं **श्रीमत्**, स्वतः शोभायुक्तम्। अनेन वैकुण्ठातिरेकतत्र निरूपितः। लक्ष्मीस्थितिर्वा। अन्यत्रावतारेषु अवतीर्णैव लक्ष्मीस्तिष्ठति, न मूलरूपेणेति। उपपत्त्या अन्तःपुरं वर्णयति। **सर्वधिष्ण्यपैरर्चितं स्वकौशलं त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन प्रदर्शितमिति** प्रकारद्वयेन। रत्नस्वर्णादयस्तु पुरे एव निरूपिताः न भगवदन्तःपुरे विशेषं सम्पादयन्ति। वक्तव्यश्च विशेषः। अतो भूमिष्ठाः पदार्थाः साधनभावान्निरूपिताः। इन्द्रादयो हि धिष्ण्यपाः लोकपालाः। तेषामपि परम्परोपार्जितान्यतिदुर्लभानि रत्नादीनि पूजासाधनानि भवन्ति। तैरर्चितमिति। तन्निर्माणार्थं तैस्तानि दत्तानीत्येके, यतः अग्रे त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा शिल्पाचार्येण हरेरर्थे स्वकौशलं प्रदर्शितम्, अतिनैपुण्येन निर्मितम्। रत्नानि इन्द्रादिभिर्दत्तानि, विश्वकर्मणा तु सम्यग्योजितानीत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—नारद ने इस प्रकार से जो देखा तो उससे लौकिक उत्कर्ष प्रकट होने लगा, वह उसको अभिप्रेत नहीं था लौकिक सिद्ध होने से उसमें बुद्धि की स्थिरता से लौकिक निरोध होता है, उस द्वारका में भगवान् का अन्तःपुर स्वतः शोभा से युक्त था, इससे उसमें वैकुण्ठ का आवेश निरूपण किया है अथवा लक्ष्मी यहां ही विराजती है यह सिद्ध किया है अन्य अवतारों में लक्ष्मी अवतार लेकर आती है, यहां तो मूलरूप से ही रहती है उपपत्ति से द्वारका में दो प्रकार से अन्तःपुर का वर्णन करते हैं (१) सर्व लोकपालों से पूजित और दूसरा विश्वकर्मा ने अपना कौशल्य सम्पूर्ण प्रकार प्रकट किया है। रत्न और सुवर्ण आदि का तो नगर में ही निरूपण किया है। भगवान् के अन्तःपुर में वर्णन नहीं किया, वहां तो विशेषता दिखाते हैं, और उसमें विशेष ही कहना चाहिये, अतः भूमि में स्थित पदार्थ साधन भाव ने निरूपण किये हैं। इन्द्र आदि जो लोकपाल हैं उनके पास परम्परा से इकट्ठे किये हुए जो दुर्लभ रत्न आदि हैं वे पूजा के साधन होते हैं अर्थात् वे पूजनीय होते हैं, उनसे वह अन्तःपुर सुशोभित था, कितनेक कहते हैं कि अन्तःपुर के निर्माण के लिये लोकपालों ने वे रत्न दिए थे, जिनसे शिल्प के आचार्य विश्वकर्मा ने भगवान् के लिये अन्तःपुर में अपना कौशल्य दिखलाया है अर्थात् विशेष निपुणता (चतुराई) प्रकट की है, शारांश (तात्पर्य) यह है कि वहां जो रत्न जड़े हुए थे वे लोकपालों ने दिये हैं और विश्वकर्मा ने उनको सम्यक् प्रकार से जोड़ा है, जिससे प्रभु का गृह विशेष दीप्तिमान् था ॥७॥

आभास—एवं सामान्यतोऽन्तःपुरं वर्णयित्वा, तत्रस्थान् गृहान् प्रत्येकं वर्णयितुं विभागमुक्त्वैकं गृहं वर्णयति **तत्र षोडशभिरिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य रीति से अन्तःपुर का वर्णन कर उसमें स्थित प्रत्येक गृह का विभाग कर एक गृह का वर्णन 'तत्र षोडषभिः' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम्।**
विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥८॥

श्लोकार्थ—वहाँ उस दीप्तिमान् अन्तःपुर में भगवान् की पत्नियों के सोलह सहस्र सद्म सुशोभित थे, जिनमें से एक बड़े भवन में नारदजी ने प्रवेश किया ॥८॥

सुबोधिनी—ते गृहाः स्वतः प्रधानभूता अपि परस्परमेकस्यापि सर्वे शोभाजनका भवन्ति। समप्राधान्ये तु विशिष्टो रसो नोत्पद्यत इति यदेव गृहं निकटे स्थितम्, तत्रैव नारदस्य विशिष्टबुद्धिरुत्पन्नेति तत्र प्रविष्टः। एकमपि गृहं षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम्। ते च गृहाः पत्नीनामेव। तन्निकटे गतस्य तदेव गृहं महत्त्वेन भासत इति महदित्युक्तम्, न तु गृहेषु न्यूनाधिकभावोऽस्ति। तथा सति भगवतस्तत्र वैषम्यं स्यात्। सर्वत्र विवाहरमणपुत्रसम्पदां तुल्यत्वात् ॥८॥

व्याख्यार्थ—वे सब गृह स्वतः अपने आप में प्रधान भूत होते हुए भी प्रत्येक गृह सर्व द्रष्टाओं को अपनी ओर आकर्षण कर रहा था, यदि सबकी समान प्रधानता वा शोभा होती तो विशिष्ट रस पैदा न हो सकता, इस कारण से जो गृह नारद के समीप होता, उसमें ही नारद की विलक्षण श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न हो जाती, इसलिए उस एक में प्रवेश किया, एक भी गृह अर्थात् प्रत्येक गृह सोलह हजार सद्मों से समलङ्कृत था, वे गृह भगवत्पत्नियों के थे, 'महत्' शब्द का भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि किसी भी घर के निकट जाने वाले को वह ही घर महान् देखने में आता था इसलिये भवन को 'महत्' विशेषण दिया है, घरों में न्यून वा अधिक भाव नहीं है, सर्व में समानता न होती तो भगवान् में वैषम्य दीखता, सर्वत्र विवाह रमण पुत्रादि सम्पदा समान थीं अतः न्यूनाधिक भाव नहीं था ॥८॥

आभास—अतस्तं वर्णयति स्थालीपुलाकन्यायेन **विष्टब्धमिति**।

आभासार्थ—अतः स्थाली पुलाक न्याय से उसका वर्णन 'विष्टब्धं' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**विष्टब्धं विद्रुमैः स्तम्भैर्वैडूर्यफलकोत्तमैः।**
इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ॥९॥

श्लोकार्थ—विद्रुम मणि के खम्भे जिसमें लगे हुए हैं, उन पर वैदूर्य मणि के उत्तम पट्टे लगे हैं, इन्द्र नील मणि की भींतें और अखण्ड कान्ति वाली इन्द्र नील मणियों के कारण सबकी कान्ति बढ़ रही है, जिससे महल की शोभा विशेष हो रही थी ॥९॥

सुबोधिनी— पुरुषार्थचतुष्टयसम्पन्नमिति ज्ञापयितुं चतुर्भिः। प्रवालस्तम्भैर्विष्टब्धं धृतम्। वैडूर्यनिर्मितफलकैस्तदाच्छन्नम्। अनेन स्तम्भा उपरिप्रसारितदारुरूपाश्च द्विविधा ज्ञातव्याः।

उपरिफलकानामेव वैडूर्यमयत्वम् । स्थूलफलकाः स्तम्भेष्वेव विशालाः स्थापिताः । तत्रापि कक्ष्यान्तर्गतस्तम्भानां तथात्वं वक्तव्यमिति धरणीस्तम्भाश्चात्र विद्रुममया ज्ञातव्याः । इन्द्रनीलमयैर्मणिभिः कुड्यानि । जगती भूमिः कुट्टिमा तत्रत्या । अलङ्कृतमिति सम्बध्यते । न सूर्यादिभिरहता त्विड्यस्याः तादृश्या जगत्यालङ्कृतमिति ॥९॥

व्याख्यार्थ—प्रवाल युक्त चारु स्तम्भों से यह जताया है कि यह गृह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों से युक्त हैं । वे स्तम्भ वैदूर्य मणि के पट्टों से आच्छादित हैं, इससे यह समझाया है कि स्तम्भ दो प्रकार के थे । ऊपर जो प्रसारित थे वे काष्ठरूप थे, और उनके ऊपर जो पट्टे लगे थे वे वैदूर्य मणि के थे वे स्थूल बड़े-२ पट्टे काष्ट के स्तम्भों पर जड़े गये थे इन थंभो में भी जो कटि के अन्तंगत स्तम्भ थे वे वैसे थे, और जो दूसरे जो पृथ्वी पर स्तम्भ खड़े किये गये थे वे विद्रुम मणियों से जड़ित थे, इन्द्र नील मणियों से भीतें और पृथ्वी के फर्श भी उनके थे, जिससे सारा महल उत्तम प्रकार से चमक रहा था, वहाँ के प्रकाश को सूर्यादि का प्रकाश भी कम नहीं कर सकता था ॥९॥

श्लोक—**वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।**
दान्तैरासनपर्यङ्कैर्मण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥१०॥

श्लोकार्थ—मोतियों की झालर लटक रही है, ऐसे विश्वकर्मा के बनाए हुए चँदोवा, हाथी दाँत के उत्तम मणियों से खचित आसन व पलङ्गों से घर सुशोभित था ॥१०॥

सुबोधिनी—वितानैश्चन्द्रातपैस्त्वष्ट्रा निर्मितैरित्यद्भुतत्वम् । मुक्तादामानि विलम्बन्ते येष्विति । दन्तनिर्मितैरासनैः पर्यङ्कैश्चालङ्कृतम् । मण्युत्तमैर्मणिश्रेष्ठैरलङ्कृता आसनपर्यङ्काः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—विश्वकर्मा के निर्मित चंदवाओं से अद्‌भुत शोभित हो रहा था उनमें मोतियों की झालरें लटक रही थी, हाथी दान्तों से बने हुए आसन और पलङ्गों से गृह सजाया हुआ था वे आसन और पलङ्ग उत्तम मणियों से अलङ्कृत थे ॥१०॥

आभास—स्त्रियः पुरुषाश्च दासीदासरूपाः शोभायामवश्यं वक्तव्या इति तान्निर्दिशति **दासीभिरिति** ।

आभासार्थ—पुरुष तथा स्त्रियाँ दास और दासियों के रूप में जो वहाँ रहती थी उनकी भी शोभा अवश्य कहनी चाहिये इसलिये 'दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः' श्लोक से उनका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम् ।**
पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीषसुवस्त्रमणिकुण्डलैः ॥११॥

श्लोकार्थ—गले में पदक पहिरे तथा सुन्दर वस्त्रों से अलङ्कृत दासियाँ और अङ्गरखा, पगड़ी एवं सुन्दर वस्त्र तथा मणियों के कुण्डलों से सुशोभित पुरुष थे, वैसे दास-दासियों से घर अलङ्कृत था ॥११॥

सुबोधिनी—नित्याभरणेषु सत्स्वेव पदकाभरणमिति निष्ककण्ठीभिरित्यनेन कटककुण्डलाद्याभरणानि सूचितानि । सुवासोभिरिति । सर्वतः शोभार्थमुक्तम् । यादृशैरेव वस्त्रैः शोभा सम्पद्यते । अन्यथा शोभाकथनं व्यर्थ स्यात् । पुम्भिरप्यलङ्कृतम् । पाश्चात्यो वेष इति । उत्तमानि कञ्चुकानि उष्णीषाणि मध्ये बन्धकानि मणियुक्तानि कुण्डलानि च येषामिति सर्वतोऽलङ्कारो भगवद्गृहदासानामुक्तः ॥११॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'निष्कयण्ठीभिः' पद का आशय स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि पदक आभूषण तो नित्य पहिना जाता है अतः यहां 'निष्ककण्ठीनां' कहने से बताया है कि पदक के सिवाय अन्य जो सुवर्ण के कड़े कुण्डल आदि होते हैं वे भी पहने थे सुन्दर सुन्दर वस्त्र भी धारण किये थे, जिससे चारों तरफ शोभा का होना कहा है, जिस प्रकार के वस्त्रों से शोभा हो वैसे वस्त्र धारण किये थे नहीं तो शोभा का कहना ही व्यर्थ हो जाता, न केवल स्त्रियों से शोभित था किन्तु पुरुषों से भी अलङ्कृत था, पुरुषों का वेष पाश्चात्य था, उत्तम अङ्गरखे, पगड़ी और मणियों से जड़े हुए कड़े और कुण्डल जिन्होंने धारण किये हैं वैसे दास थे भगवान् के गृह में जो दास और दासियां थीं वे इस प्रकार अलङ्कारादि धारण किये हुए थे जिससे गृह की शोभा बढ रही थी ॥११॥

आभास—सार्वकालीनशोभामुक्त्वा रात्रौ विशेषतः शोभामाह **रत्नप्रदीपनिकरेति** ।

आभासार्थ—सर्व समय की सब शोभा का वर्णन कर रात्रि की विशेष शोभा 'रत्न प्रदीप' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्तध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।**
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षैर्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥१२॥

श्लोकार्थ—रत्नों के समूह की कान्ति से गृह का अन्धकार नाश हो रहा है और महल की जालियों से निकले हुए अगर के धूप को देख, उसे मेघ समझ मयूर छज्जों पर बैठ शब्द करते हुए नृत्य कर रहे थे ॥१२॥

सुबोधिनी—रत्नसमूहकान्तिभिर्निरस्तं ध्वान्तमन्धकारो यत्र । रात्रौ गार्हस्थ्ये कामरसो वर्ण्यत इति उद्दीपनविभावान्वर्णयति । विचित्रवलभीषु मणिमया निर्मितवक्रदारुषु मयूराः स्थिताः सन्तो नृत्यन्ति । अङ्गेति सम्बोधनं स्नेहसूचकम् । तेनास्याः कथायाः भगवद्भोगविषयत्वाद्योगिचिन्त्यत्वमेव, न तु बाह्यतया साधारणत्वमिति सूचितम् । नृत्ये ऽलौकिकं हेतुं वर्ण-

यति। यत्र विहितागुरुधूपं गृहसंस्कारार्थं कृतं गवाक्षमार्गेण निर्यान्तं निरीक्ष्य घनोऽयमिति तेषां बुद्धिरुत्पन्नेति घनबुद्धयः। अत एव ऊर्ध्वं नदन्तो जाताः। मेघागमे हि तेषां नृत्यं भवति। नृत्यदर्शने च रस आविर्भूतो भवतीति, गीता-वाद्यरहितं नृत्यं न शोभां करोतीति, उन्नादो हि द्विःस्वभावो निरूपितः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—जहां घर में रत्न समूह के प्रकाशों से अन्धकार नष्ट हो गया है, गार्हस्थ्य में रात्रि के समय काम रस का वर्णन किया जाता है, इसलिये काम को जगाने वाले विभावों का वर्णन करते हैं, विचित्र भींतों पर बनाये हुए मणि निर्मित छज्जों पर मयूर खड़े हो नाच करते हैं, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन स्नेह का सूचक है, इससे यह कथा, भगवद्भोग सम्बन्धी होने से योगियों के ही चिन्तन करने योग्य है, न कि बाह्यपन से इस कथा का साधारणत्व है यह सूचन किया है, मयूरों के नृत्य में अलौकिक हेतु का वर्णन करते हैं-गृह को शुद्ध एवं सुगन्धित करने के लिये जो अगुरु धूप किया है वह धूप जालियों से बाहर निकलता देख, मयूरों ने समझा कि ये मेघ हैं, जिससे वे जोर से केका ध्वनि करने लगे, क्योंकि जब मेघ आते हैं तब उनको देख मयूर नृत्य भी करते हैं उनका नृत्य देखने से रस प्रकट होता है, गीत तथा वाद्य के बिना नृत्य की शोभा नहीं होती है, इसलिये यहाँ मयूरों की केका गीत तथा वाद्य दोनों को प्रकट करती है अतः दोनों प्रकार की है यह दिखाया है ॥१२॥

आभास—यदर्थमेतन्निरूपितं तन्निरूपयति **तस्मिन्निति**।

आभासार्थ—जिसके लिये इतना निरूपण किया, अब उसका 'तस्मिन्' श्लोक से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तस्मिन्समानगुणरूपवयस्सुवेषदासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या।**
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्मदण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥१३॥

श्लोकार्थ—उस गृह में अपने समान वय रूप, सुन्दर वेष और गुणोंवाली सहस्र दासियों से मिलकर श्रीमती रुक्मिणीजी सोने के दण्ड वाला चँवर हस्त में लेकर जिस समय यादव पति श्रीकृष्ण को पवन कर रहीं थी, उस समय नारदजी ने भगवान् का दर्शन किया ॥१३॥

सुबोधिनी—समाना गुणा औदार्यादयः रत्युपयोगिनो वा मृदुत्वादयः। रूपं सौन्दर्यम्। वयस्तारुण्यम्। सुवेषो वस्त्रादिभिः। रसो हि निर्बद्धः शङ्कां करोतीति, स्वल्पश्च न पोषको भवतीति, महारसानुभवार्थं दास्यो निरूप्यन्ते। नायिकानां मेलने भिन्नस्वभावत्वात् रसो नोत्पद्यत इति, तासां च कामना नैवंविधेति, केवल-भोगार्थत्वं वारयितुमाह **गृहिण्येति**। **अनुसवं** सर्वकालं दासीसहस्रयुतया भार्यया चमरव्यजनेन सात्त्वतपतिं वस्तुतः स्वपतिं परिवीजयन्त्या सह

सात्वतपतिं ददर्शेति सम्बन्धः। चमरकृतं व्यजनं उद्दीपनकरम्, तथा सुवर्णदण्डयुक्तं च। अयं भगवत्यद्भुतः प्रकारो निरूपितः। नैवंविधः समानानां प्रकारो लोके सामान्यानां सम्भवति। अनेन रात्रावयं भोगकाले गत इति सूचितम्। ॥१३॥

व्याख्यार्थ—दासियों में भी श्री रुक्मिणीजी जैसे गुण थे उनका वर्णन करते हैं, १-उदारता आदि गुण अथवा रति क्रीडा के उपयोगी मृदुत्व आदि गुण उनमें भी थे, २-सौन्दर्य, ३- युवावस्था ४-सुन्दर वस्त्र आदि इत्यादि में समानता प्रकट की है, इस प्रकार समानता वाली इतनी दासियों की क्या आवश्यकता है ? शङ्का का समाधान करते हैं कि काम रस का भोग एकान्त में ही होता है, जिससे उस समय मन में यह शङ्का बनी रहती है कि कोई प्रतिबन्ध करने वाला तो आता नहीं ? मन में इस प्रकार शङ्का उत्पन्न होने से रस उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये प्रतिबन्ध को रोकने के लिये दासियों की आवश्यकता थी, यदि काम क्रीड़ा स्वल्प समय हो तो वह रस पोषक नहीं होता है उस समय रस पुष्ट न होने से पूर्ण महान् रस की प्राप्ति नहीं होती है, अतः महान् रस के अनुभव करने के लिये दासियों का निरूपण करते हैं, यदि अनेक नायिका रूप विभाव होवें तो रस उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि प्रत्येक का स्वभाव पृथक् पृथक् होता है अतः रसोत्पत्ति उनसे नहीं होती है, इसलिये नायिका एक ही गृहिणी दिखायी है, अन्य दासियों अनेक प्रकार के कटाक्षादि से पोषित रस विशेष उद्दीप्त होता है जिसका अनुभव मुख्य नायिका गृहिणी से प्राप्त होता है, इसलिये वे दासियां केवल उद्दीपन करने के लिये हैं न कि भोगार्थ हैं। भोगार्थ महान् रसानुभव के लिये तो 'गृहिणी' मुख्या नायिका है वह, सर्व काल सहस्र दासियों से युक्त हो, चँवर के पवन से यादवपति को वस्तुतः अपने पति की सेवा कर रही थी, तब नारदजी ने जाकर उस लीला के दर्शन किये, चँवर का वायु उद्दीपन करने वाला है, उसमें भी सुवर्ण दण्डवाला विशेष है यह अद्भुत प्रकार भगवान् में निरूपण किया, वह प्रकार सामान्य और समानों में नहीं होता है इससे यह दिखाया कि नारदजी रात्रि में भोग के समय वहां गये हैं ॥१३॥

आभास—तत्र भगवता आतिथ्यप्रकारमाह **तं सन्निरीक्ष्येति** त्रिभिः।

आभासार्थ—'तं सन्निरीक्ष्य' से तीन श्लोकों में भगवान् ने जिस प्रकार अतिथि सत्कार किया उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तं सन्निरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः**
श्रीपर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-
जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥१४॥

श्लोकार्थ—नारदजी को देखते ही सकल धर्मधारियों में परम श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी तुरन्त रुक्मिणीजी के पलङ्ग से उठ खड़े हो गए और किरीट सहित मस्तक से उन (नारदजी) के चरणों को प्रणाम कर हाथ जोड़ उनको अपने आसन पर बिठाये ॥१४॥

सुबोधिनी—कायिकमानसिकवाचनिकैः। कायिकपूजा सर्वेणापि स्वयोग्या कर्तव्या। अतो भगवानपि तं दृष्ट्वा स्वपदे निवेशितवानिति निरूप्यते। नह्यतस्मादधिका पूजा सम्भवति। अन्या या लौकिकी सा सर्वसाधारणी अन्यदोषत्वेन निरूप्यते। एवंकरणे हेतुमाह **भगवानिति**। अन्यथा अन्यस्माद्भगवति को विशेषः स्यात्। यदि स्वपदे नोपवेशयेत्। **सहसोत्थित** इति तं प्रति लौकिकभावस्थैर्यं सूचितम्। अन्यथा स्वधर्माविर्भावे सेवकं प्रति भगवदुत्थानं नोचितं स्यात्। 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति भगवत्प्रतिज्ञा। स च लौकिकबुद्ध्या भगवन्तं दृष्टवानिति भगवानपि तथैव चकार। **श्रीपर्यङ्कत** इति। अनौचित्यं निरूपितम्। केवललौकिकप्रकारेणापि तथात्वं भवतीति वैदिकप्रकारमाह **सकलधर्मभृतां वरिष्ठ** इति। धर्मभृतो निरन्तरधर्मकर्तारः। ते जीवा एव भवन्ति। तेषां मध्ये श्रेष्ठ इति सजातीयोत्कर्षात् बहिर्दृष्टिरेव तस्य स्थिरीक्रियते। अत एव भगवान् पादयुगलमानम्य। तत्रापि शिरसा धर्मनिष्ठां सूचयितुम्। किरीटजुष्टेनेति लोकनिष्ठा। न केवलं स्वयं तद्धर्मावलम्बनं कृतवान्, किन्तु तं चापि स्वधर्मैर्योजितवानित्याह साञ्जलिः **स्वे आसने अवीविशदिति**। स्वासने तं निवेशयामासेत्यर्थः। अन्तर्भावितणिच्प्रयोगः। भगवानेव तत्र वस्तुतः स्वधर्मं स्थापितवानिति स्वयमेव तत्रोपविष्ट इति धर्मव्यत्यासं स्थापयितुं अवीविशदित्युक्तवान्। आसनं च श्रीपर्यङ्कमित्येव लक्ष्यते। तत एवोत्थित इति स्वपदेनापि तदेवेति गम्यते। आसनपदेन स्वसिहासनमिति। तथापि अग्रे पृथुकोपाख्याने 'निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के' इति वाक्यात् पर्यङ्कमेवासनस्थानीयम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने नारदजी का कायिक, मानसिक और वाचिक तीनों प्रकार आतिथ्य किया जिसका तीन श्लोकों से वर्णन करते हैं, काया से अतिथि का पूजन सत्कार सबको अपनी योग्यतानुसार करना ही चाहिये अतः भगवान् ने भी उनको देखते ही लाकर अपने स्थान पर विराजमान किया, यों निरूपण किया जाता है क्योंकि कायिक पूजन इससे विशेष अन्य कोई नहीं है और दूसरी जो लौकिक कायिक सेवा है वह अन्य शोषत्व से निरूपण की जाती है, इस प्रकार करने में कारण दिखाते हैं कि आप भगवान् हैं,यों न करें तो दूसरों से भगवान् में कौनसी विशेषता देखने में आवें, यदि अपने स्थान पर उनको विराजमान न करें, तुरन्त उठ खड़े हुये जिससे उनके प्रति लौकिक भाव की स्थिरता दिखाई, यदि लौकिक भाव न होवे तो और अपना भगवद्धर्म प्रकट करते तो सेवक के आने पर उठ कर खड़ा होना उचित न होता। भगवद्गीता में भगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरे पास जिस भाव से आते हैं वा शरण लेते हैं उनका भजन मैं उसी भाव से करता हूं, अतः नारद इस समय लौकिक भाव से भावित होकर आया था जिससे भगवान् ने भी उसका आतिथ्य लौकिक भाव प्रकट करते हुए किया है, 'श्रीपर्यङ्कत' रुक्मिणीजी के पलङ्ग से, यह तो अनुचित निरूपण किया है, केवल लौकिक प्रकार से भी वैसे हो सकता है, इसलिए वैदिक प्रकार भी दिखाते हैं कि आप समस्त धर्मधारियों में परमोत्तम हैं, 'धर्मधारी वे कहे जाते हैं, जो निरन्तर धर्मकर्त्ता होते हैं अर्थात् सर्व समय में धर्म पर चलने वाले हो, वे जीव होते हैं, उनमें श्रेष्ठ हैं', इस प्रकार सजातीय उत्कर्ष दिखाकर नारद की बहिर्दृष्टि ही स्थिर की जाती है, इस कारण से ही भगवान् ने नारद के चरणों में मुकुट सहित सिर से प्रणाम किया है, सिर से प्रणाम कर अपनी धर्म में निष्ठा प्रकट कर दिखाई है और मुकुट से लोक-निष्ठा को सूचित किया है, केवल आपने उसके धर्मों का अवलम्बन नहीं किया है, किन्तु उसमें भी अपने धर्मों को प्रवेश कराया है, वे कहते है कि

हाथ जोड़कर उसको अपने आसन पर विराजमान[1] किया, भगवान् ने ही वास्तविक रीति से अपने धर्म उसमें स्थापित किए, यों 'अवीविशत्' पद कह कर धर्म व्यत्यास स्थापन किया, यह दिखाया है अर्थात् जहाँ आप विराजे थे, वहाँ नारद को बिठाया और जहाँ नारद के बैठने का स्थान था, वहाँ आप विराजे; इस प्रकार धर्म व्यत्यास प्रकट दिखाया, यहाँ 'आसन' तो रुक्मिणीजी का पलङ्ग ही था, यों समझा जाता है, उससे ही आप खड़े हुए थे, 'स्व' अपना स्थान कहा, जिसमें भी पर्यङ्क ही आसन था, यों जाना जाता है, 'आसन' पद से 'अपना सिहासन' इतना ही कहा है, तो भी पृथुकोपाख्यान में 'निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के' इस वाक्य से पलङ्ग ही आसन है ॥१४॥

श्लोक—**तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना**
बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं
तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—जगत् के जो गुरु हैं, उनमें भी उत्तम भक्तों के पति भगवान् ने उसके चरण धोकर वह जल अपने मस्तक पर चढ़ाया, जिस भगवान् के चरणों का जल (गङ्गा) सबको पवित्र करने वाली तीर्थरूप है, ऐसे प्रभु ब्राह्मणों के हितकर होने से इसको देव मानते हैं, भगवान् ने अपने गुण और नाम के अनुरूप उचित कार्य ही किया ॥१५॥

सुबोधिनी—ततस्तस्य **चरणाववनिज्ये**ति कायिकोऽपि व्यापारः मानसशेषत्वेन निरूप्यते। स्वतः प्रक्षालनं भक्त्यैव सम्भवति। **तदपः** पादावनेजनीरापः स्वस्मिन् नारदधर्मविशाद्भक्तानां भगवच्चरणारविन्दोदकं धार्यमेवेति स्वमूर्ध्ना अबिभ्रत्। नन्वेवमपि लोको भगवान्माहात्म्याभिज्ञः कथं मन्येत, तत्राह **जगद्गुरुतरोऽपी**ति। यद्यपि जगतामत्यन्तं गुरुः शास्त्रप्रणेता उपदेष्टा प्रेरकः उपदेशश्च। तथापि सतां पतिर्भवति। 'यद्यदाचरति श्रेया'निति वाक्यात् भगवत्कृतमेव भगवदीयः करोतीति सतां पालनार्थं तथा कृतवान्। अन्यथा गजेन्द्रवद्वैष्णवानामुपद्रवोऽपि सम्भवेत्। तस्माद्भगवता युक्तमेव भक्तरक्षार्थं कृतमिति **हि**शब्दार्थः। नन्वेवं सति भक्तिमार्गे ब्राह्मणविरोधः स्यात्, तत्राह **ब्रह्मण्यदेव** इति। ब्राह्मणानां हितस्तेषां कार्यसाधको देवः। ब्रह्मण्यश्चासौ देवश्चेति तेषामेव पूज्यः। इदं भगवतो गुणनाम तदैव युक्तं भवति, यदि तन्मनोरथं साधयेत्। ब्राह्मणाश्च पूजां वाञ्छन्ति, नत्वन्नसत्रम्। तद्भगवत्येव तद्धर्मप्रवर्तके अन्यः प्रवर्तेत, न तु यस्मिन्कस्मिंश्चित्। ननु एतावतापि कथं लोकः प्रवर्तेत, तत्राह **तस्यैव यच्चरणशौचमि**ति। अशेषाणि तीर्थानि यस्मिन् गङ्गाजले 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी चे'ति वाक्यात्। अनेन स्वापकर्षभावोऽपि निरूपितः ॥१५॥

---

[1] 'अवीविशत्' यह प्रयोग अन्तर्भावितणिच् प्रयोग है।

व्याख्यार्थ—पलङ्ग पर विराजमान करने के पश्चात् भगवान् ने नारदजी के चरण धोये, यह धोने का कार्य कायिक होते हुए भी मानस शेषत्व से निरूपण किया जाता है, स्वतः पादों (चरणों) का धोना भक्ति से ही होता है, पाद प्रक्षालन का वह जल भगवान् ने अपने मस्तक पर पधराया; क्योंकि उस समय भगवान् में नारदजी के धर्म का आवेश था, अतः भक्तों को भगवच्चरणारविन्द का जल अपने मस्तक पर धारण करना चाहिए, इस प्रकार होवे तो भी भगवान् के माहात्म्य को जानने वाले इस बात को कैसे मानेंगे? इस पर कहते हैं कि जगत् के बहुत गुरु हैं, जैसे कि शास्त्र बनाने वाले, उपदेश देने वाले, प्रेरणा करने वाले इत्यादि हैं, इन सब में भगवान् ही उत्तम महान् गुरु हैं, तो भी भक्तों के पति हैं, 'यद्यदा चरति श्रेष्ठः' इस गीता वाक्यानुसार जो कुछ आवरण भगवान् करते हैं, उनको देखकर भगवदीय भी करते हैं, इसलिए भक्तों के रक्षार्थ भगवान् ने यों किया है, यों न करते तो गजेन्द्र की तरह वैष्णवों को उपद्रव भी हो सकता। 'हि' शब्द इसलिए दिया है कि भगवान् ने यह कार्य जो किया है, वह भक्तों की रक्षा के लिए किया है, इसलिए योग्य ही किया है, यदि यों है तो भक्ति मार्ग में विरोध होगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्मण्य देवः' ब्राह्मणों के हित को सिद्ध करने वाले देव हैं अर्थात् वह कार्य करते हैं, जिससे ब्राह्मणों का हित होवे, ब्रह्मण्य और वही देव हैं, अतः उनका ही पूज्य है, भगवान् नाम और गुण तब ही सार्थक हो, जब ऐसा कार्य करे, जिससे ब्राह्मणों का मनोरथ सिद्ध हो जाय, ब्राह्मण तो पूजा सत्कार चाहते हैं, न कि अन्न का सत्र अर्थात् भरपूर अन्न मिले, किन्तु अनादर हो, वह नहीं चाहते हैं, केवल सत्कार से प्रसन्न होते हैं, यह तब हो सकता है, जब धर्म प्रवर्तक भगवान् इस प्रकार कर मार्ग बतावें न कि जैसा-वैसा अन्य बतावें तो हो सकता है, एतावता भी लोक कैसे प्रवृत्त होंगे? इस पर उत्तर देते हैं कि उस भगवान् के चरण से निकला जो जल है, 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च' इस शास्त्रानुसार उसमें सब तीर्थ हैं, इतना होते हुए भी नारद के चरण का जल सिर पर चढ़ा कर अपने अपकर्ष का अभाव भी निरूपण किया है ॥१५॥

आभास—स्तोत्रमाह **सम्पूज्येति**।

आभासार्थ—'सम्पूज्य' श्लोक से स्तुति करते हैं—

श्लोक—**सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो**
नारायणो नरसखो विधिनोदितेन।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया
तं प्राह प्रभो भगवते करवाम ते किम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—नर के मित्र नारायण, पुराण ऋषि देवर्षि श्रेष्ठ नारदजी का विधि अनुसार पूजन कर, अमृत समान मिष्ट स्वल्प वाणी से वार्तालाप कर पूछने लगे कि हे प्रभो! आपके लिए मुझे क्या कर्त्तव्य है? ॥१६॥

सुबोधिनी—पूजाया अनुवादः उत्तरशेषत्वेन। तेन पूजा वाक्यापेक्षया हीना निरूपिता। **देवर्षिवर्यमि**ति। अनेन देवा ऋषयश्च पूजितेन प्रीता भवन्तीति। गार्हस्थ्ये ऋणत्रयापाकरणे आवश्यके द्वयमनेनैव भवतीति तस्यावश्यकता सूचिता। ऋषिरिति। नारायणोऽयं अनिरुद्धांशेनैवं करोतीति सूचितम्। पुराणः ऋषिर्नारायण एव, तथापि वेदोद्गमरूपोऽपि भवतीति तन्निराकरणार्थं **नारायणो नरसख** इति निरूपितम्। तस्य च अस्यैव प्रकरणस्यान्ते प्रत्यापत्तिं वक्ष्यति। 'प्रत्येष्यतां निकाशं म' इति वाक्ये। **विधिनोदितेने**ति पूजायां प्रकार उक्तः। अन्यथा ऐश्वर्येण राजसी पूजा प्राप्नोति। वाण्या अमृतया अतिमिष्टया आभाष्य, भो भो नारदेत्युक्त्वा, तं नारदं प्राह। सर्वोत्कर्षः स्वस्वामित्वं स्वस्य च तदाज्ञाकारित्वं पदत्रयेणाह **भगवते**, हे **प्रभो, ते किं करवामे**ति। तृतीयं पदत्रयात्मकं त्वत्सेवा त्रिविधाप्यत्र कर्तव्येति सूचनार्थम्। तदाज्ञापयेति वाक्यशेषाभिप्रायः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—उत्तर शेषत्व से पूजा का अनुवाद है, इससे वाक्य की अपेक्षा से पूजा हीन निरूपण की है। 'देवर्षिवर्यमिति' इससे देव और ऋषि पूजित होने से प्रसन्न होते हैं, गृहस्ताश्रम में तीन ऋणों का उतारना आवश्यक है, दो तो इससे ही उतर जाते हैं इसलिये उसकी आवश्यकता सूचित की है, 'ऋषिरिति' इस पद का भावार्थ बताते हैं कि, यह नारायण अनिरुद्ध का अंश है अतः यों करता है, पुराण ऋषि नारायण ही है तो वेदोद्गमरूप भी होते हैं इसलिये उसके निराकरण के लिए कहा है कि यह नारायण नर का सखा है, उसकी और इसकी भी प्रकरण के अन्त में प्रत्यापत्ति (निर्णय) कहेंगे, 'प्रत्येष्यतां निकाशं म' इति वाक्ये। विधि नोदितेन पद से पूजा का प्रकार कहा है, जो यों नहीं कहते तो ऐश्वर्य के कारण विधि अनुसार पूजा न होकर राजसी पूजा हो जाती। अति मिष्ट अमृत सम वाणी से भो भो नारद! यों सप्रेम सम्बोधन कर नारद को तीन पदों-(१) भगवते, (२) हे प्रभो, (३) ते- से सूचित करने लगे कि (१) आप सब ऋषि आदि में श्रेष्ठ हैं, २-अपना स्वामीपन, ३-हम आपके आज्ञाकारी हैं, अतः आज्ञा कीजिए आपके लिये हमारा क्या कर्त्तव्य है? तीन पदों का यह भी भावार्थ है कि आपकी तीन प्रकार की सेवा भी हमको करनी चाहिए, वह बतलाइए आज्ञा कीजिए ॥१६॥

आभास—तत्रोत्तरमाह नारदः **नैवाद्भुतमिति**।

आभासार्थ—'नैवाद्भुतं' श्लोक से नारदजी उत्तर देते हैं—

श्लोक—नारद उवाच—**नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे**
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम्।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वेच्छावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने कहा कि हे सर्व समर्थ! हे सकल लोकों के नाथ! हे उरुगाय! आप सब सज्जनों पर स्नेह रखते हैं; क्योंकि लोकनाथ हैं, दुष्टों को दमन

करते हैं कारण कि जगत् का धारण, पालन और कल्याण करने के वास्ते ही यह आपका इच्छानुसारी अवतार है, अतः यह ब्राह्मण पूजन करना आपके लिए कोई अद्भुत कर्म नहीं है ॥१७॥

सुबोधिनी—वक्तव्यं तु न किञ्चित्, कृतानुमोदनं तु कर्तव्यं भवति। अन्यथा पूजा कृतैव न स्यात्। अनङ्गीकारात्। तत्स्वतोऽङ्गीकारे अयुक्तं स्यात्, अतो भगवदीयधर्मत्वेनाभिनन्दनमुच्यते। हे विभो, सर्वकरणसमर्थ। एतद्ब्राह्मणपूजनं त्वयि नाद्भुतम्, अखिललोकाः शिक्षणीया इति। भगवांश्चाखिललोकनाथः। त्रिविधं हि कर्म जगद्रक्षार्थं क्रियते। खलानां दमः, अन्तर्यामितया सर्वसख्यम्, एतादृशी ब्राह्मणपूजा च। एतस्य कर्मणः बन्धहेतुत्वमाशङ्क्य निराकरोति **निःश्रेयसायेति**। अन्येषामपि मोक्षार्थमेतत्करणं श्रोतॄणां कीर्तयितॄणां च। युक्तश्चायमर्थः। अन्यथा त्रिविधानि कर्माणि लोकानां न शान्तानि भवेयुः। सजातीयनिवर्तकाभावात्। एतज्जीवैरपि कर्तुं शक्यत इति भगवतो विशेषं वक्तुमाह **जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां सहेति**। स हि जगत् स्वात्मनि धारयति, पालयति च। **स्वेच्छावतारेति** सम्बोधनं तादृशस्यापि कर्मकरणं लीलार्थमिति सूचयति। सप्तम्यन्तं वा पदं हेतुप्रकथनाय, अन्यथा कथं लोकाः कीर्तयेयुः, कथं वा मुक्ता भवेयुरिति। अत्र प्रमाणमाह **विदामेति**। **सुष्ठ्विति** अनुभवश्रुतिभ्याम्, न तु तर्कमात्रेण ॥१७॥

व्याख्यार्थ—कहने योग्य तो नवीन कुछ नहीं है केवल किये हुए कार्य का अनुमोदन करना है, यदि किये हुए कार्य की अङ्गीकृति न की जावे तो की हुई पूजा, मानों की ही नहीं है यों समझा जाय, स्वतः अङ्गीकार करने में भी औचित्य नहीं, अतः भगवदीय धर्मपन से अभिनन्दन कहा जाता है, हे विभो ! अर्थात् सर्व करण समर्थ, यह जो आपने ब्राह्मण का पूजन किया है, वह आप में अद्भुत नहीं है, भगवान् होने से आप अखिल लोक नाथ हैं, जिससे सब लोकों को आपको शिक्षा देनी है, आप लोक रक्षा के लिये तीन प्रकार के कर्म करते हो १- खलों का दमन करते हो, अन्तर्यामी होते से सब से मैत्री करते हो और इस प्रकार की ब्राह्मण पूजा करते हो, इस प्रकार त्रिविध कर्म करने से तो बन्धन होगा ? जिसके उत्तर में कहा है कि निःश्रेयसाय, यह कर्म दूसरों के भी मोक्ष के लिये करते हो, इन कर्मों के श्रवण करने वाले तथा कीर्त्तन करते वालों का भी मोक्ष हो, अतः यह अर्थ उचित है, अन्यथा ये लोकों के त्रिविध कर्म सजातीय निवर्तक के अभाव से, शान्त न हो सके, यह जीव भी तो कर सकते हैं तो भी भगवान् में इनकी विशेषता दिखाते हैं कि भगवान् ये कर्म जगत् की स्थिति तथा रक्षण के साथ करते हैं, जीव यों नहीं कर सकते हैं, प्रभु जगत् को अपने स्वरूप में धारण करते हैं एवं पालन करते हैं कारण कि स्वेच्छावतारी के भी ऐसे कर्म लीलार्थ ही हैं, यह सूचन होता है, 'त्वयि' सप्तमी विभक्ति हेतु कहने के लिये है, नहीं[1] तो लोक, उन कर्मों का कीर्तन कैसे करें ? और उनकी मुक्ति कैसे हो ? इसमें प्रमाण देते हैं, कि हम अनुभव और शास्त्र श्रवण से अथवा वेदों की श्रुतियों से इसको अच्छी तरह जानते हैं, न कि केवल तर्कों से जानते हैं ॥१७॥

१- यदि भगवान् इस प्रकार की लीला कर कर्म न करें तो

आभास—एवं कृताभिनन्दनं कृत्वा भगवदुक्तं नान्यथा कर्तव्यमित्यभिप्रेत्य स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रसङ्गात् प्रार्थयते **दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के किये कर्मों का अभिनन्दन कर भगवान् का कहा हुआ अन्यथा नहीं करना चाहिये, यों ध्यान में लाकर प्रसङ्ग से अपने कुछ अभिलषित को "**दृष्ट**" श्लोक से प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—**दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं**
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्याय-
श्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥१८॥

श्लोकार्थ—अगाध ज्ञान वाले ब्रह्मादि देव, जिन चरणों का ध्यान करते हैं, जो चरण मनुष्य मात्र के मोक्ष रूप हैं और संसार कूप में पड़े हुओं का उससे निकलने के लिए आश्रय हैं, उन चरणों के मैंने दर्शन किए, अतः अब आप ऐसी कृपा करो जिससे उन चरणों का सदैव ध्यान करता हुआ भ्रमण करूँ एवं ऐसी स्मृति सर्वदा रहे ॥१८॥

सुबोधिनी—यदेतत् दृष्टम्, तद्ध्यायन् सर्वत्र चरामीति स्वाध्यवसायः। **अत्र** यथा स्मृतिः स्यात्, तथा अनुगृहाणेति कर्तव्यप्रार्थना। दुर्लभं ह्येतदेव। प्राप्तेऽपि बहवो बाधकाः। अतः स्मृतिर्भविष्यतीति न विश्वासः। कर्तव्यं च मम नान्यत्। अतश्चरणस्मरणार्थमनुग्रह एव कर्तव्यः। **दृष्टमित्यनेन** ज्ञानपक्षो निराकृतः। भगवच्चरणयोरेव जीवब्रह्मत्वात् स्वात्मपरमात्मसाक्षात्कारः सिद्ध एव। मोक्षपक्षमपि व्यावर्तयति। जनताया एवापवर्गं करोतीति। तत्रास्मदपवर्गे कः सन्देह इति भावः। एतास्मान्नान्यद्दुर्लभमस्तीत्यभिप्रायेणाह। **अगाधबोधैः** पूर्णज्ञानैरपि ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमेव, न तु साक्षाद्द्रष्टुं शक्यम्। तस्माद्ब्रह्मादीनामप्येतदेव दुर्लभमिति नातः परतरं किञ्चिन्मृग्यम्। अनेन चरणस्य ऐहिकपारलौकिकफलेभ्योऽपि महत्त्वं निरूपितम्। किञ्च। भक्तिमार्गस्यैतदेव प्रवर्तकमित्याह **संसारकूपेति**। 'यावन्नृकाय'मिति न्यायेन शास्त्रानुसारेण ये स्वहितं न कृतवन्तः, 'तान्नो चेत् प्रमत्त'मिति न्यायेन विषयाः कूपे (निपातयन्ति। ते कूपे) पतिताः, तेषामुत्तरणे तीर्थाभावात् पक्षाभावाच्च कर्मवल्ली अन्तरेव संवृता नोपरिनयतीति, ज्ञानं च सूत्रवत् नो पर्याकर्षतीति, भगवच्चरणारविन्दद्वयमेव संसारकूपे पतितानां तत उत्तरणे अवलम्बनं भवति। अतो मार्गत्रयेऽप्येतदेव शरणमिति ध्यायंश्चरामि। एतावदुक्त्वा भगवता अनुज्ञातः निर्गत इति ज्ञातव्यम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—मेरा यही सदैव उद्यम वा कार्य रहे, जिन चरणों के दर्शन किए हैं, उनका ध्यान करता हुआ अटन करूँ, अध्यवसाय (व्यापार) की जैसे स्मृति बनी रहे, वैसी कृपा कीजिए, इस

प्रकार अनुग्रह करने की प्रार्थना इसलिए की है कि एक तो आपका ध्यान सदैव रहे, यह दुर्लभ है और दूसरा यदि ध्यान किया जाय वा होवे तो भी उसमें बाधक बहुत होते हैं, अतः भगवान् के चरणों के ध्यान करने की स्मृति रहेगी, ऐसा विश्वास नहीं होता है, इसके सिवाय मेरा दूसरा कर्त्तव्य ही नहीं है, अतः चरणों की स्मृति के लिए आपको मेरे ऊपर अनुग्रह ही करना चाहिए, आपके अनुग्रह बिना यह दुर्लभ एवं बहुत बाधकों वाला ध्यान हो नहीं सकता है, अतः कृपा करो, यह प्रार्थना है, केवल मुझे ऐसा ज्ञान है, इस पक्ष का भी निराकरण करने के लिए कहा है कि मैंने प्रत्यक्ष दर्शन किए, भगवच्चरण जीव और ब्रह्मरूप होने से अपनी आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार सिद्ध ही है अर्थात् भगवान् के चरण अक्षर ब्रह्मरूप हैं और जीव अक्षर का अंश है, अतः अंश का अंशी अक्षर से अभेद होने से जीव अक्षर रूप ही है, जिससे जीव को अक्षर का साक्षात्कार सिद्ध ही है, मोक्ष के लिए प्रार्थना करना, इस पक्ष का भी निराकरण करता है, जब ये चरण ही जनता का मोक्ष करते है, तब हम लोगों के मोक्ष में कौनसा सन्देह है ? जो हम मोक्ष के लिए प्रार्थना करें, इनसे अन्य कोई भी दुर्लभ नहीं है, इस अभिप्राय को प्रकट सिद्ध करने के लिए नारदजी कहते हैं कि ये चरण पूर्ण ज्ञानी ब्रह्मादि को भी चिन्तन करने योग्य है; क्योंकि ये चरण ऐसे दुर्लभ हैं कि साक्षात् देखने में अशक्य हैं, इस कारण से ब्रह्मादिकों को भी इनके दर्शन दुर्लभ हैं, इनसे परे कुछ ढूँढ़ने योग्य नहीं है, यों कह कर ऐहिक और पारलौकिक फलों से भी चरणों का महत्त्व निरूपण किया है और विशेषता यह है कि भक्ति मार्ग के प्रवर्तक ये चरण ही हैं, जब तक मनुष्य शरीर है, तब तक शास्त्रों में कहे हुए अपने धर्मों का पालन करना चाहिए, किन्तु जो इस प्रकार धर्मों का पालन न कर अपना हित नहीं कर सकते हैं, उनको विषय संसार कूप[1] में ढकेल देते हैं, वह कूप कर्म बेलों से बन्द हो जाने के कारण उससे निकलना कठिन हो जाता है, ऐसे कूप में पड़े हुए को निकालने के लिए तीर्थ की भी सामर्थ्य नहीं, ज्ञान भी सूत्र की तरह ऊपर नहीं खींच सकता है, ऐसी अवस्था में केवल भगवच्चरण युगल ही संसार कूप में पतितों का अवलम्बन है, अतः कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों के होते हुए भी यह चरण युगल ही रक्षक हैं, इसलिए इसका ध्यान करता हुआ घूम रहा हूँ, इतना कहकर भगवान् से आज्ञा लेकर पधार गए, यों जानना चाहिए ॥१८॥

आभास—ततो निर्गतस्य गृहान्तरप्रवेशमाह **ततोऽन्यदाविशद्गेहमिति** ।

आभासार्थ—'ततोऽन्यदाविशद्गेहं' श्लोक में कहते हैं कि वहाँ से गए हुए, नारदजी ने दूसरे गृह में प्रवेश किया—

श्लोक—**ततोऽन्यदाविशद्गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।**
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! पश्चात् वह नारदजी, कृष्ण पत्नी के दूसरे गृह में, योगेश्वरों के ईश्वर की योग माया को जानने की इच्छा से गये ॥१६॥

---

[1]– अहन्ता ममता रूप कूप

सुबोधिनी—अन्यत्पूर्वोक्तं समानम् । **कृष्णपत्न्या** इति । भगवान् पूर्वगृहे दृष्ट इति नारदस्य भगवत्पत्नी वात्र स्थास्यतीति बुद्धिरिति **कृष्णपत्न्या** इत्युक्तम् । स तु कृपां प्रार्थयित्वा निर्गतः। ततोऽपि बहिर्मुखत्वाद्गृहान्तरमेव प्रविष्टः । यतो नारं द्यति खण्डयति व्यसनस्वभावः । तस्य गृहान्तरप्रवेशे मनीषितमाह **योगेश्वरेश्वरस्येति** । तत्रापि योगस्यैव गतिर्दुर्ज्ञेया, अलौकिकत्वात् । तत्रापि योगेश्वरस्य । यो योगमपि वशीकृतवान्, तेषामपीश्वरो भगवान् । तस्यापि योगमाया । तस्या विवित्सा, यस्याः वैभवं भगवानपि न मन्यते एतावदिति । **अङ्गे**त्यप्रतारणार्थं सम्बोधनम् ॥

व्याख्यार्थ—दूसरा सर्व, पहले कहे हुए के समान है, कृष्ण पत्नी के दूसरे गृह में गये, यों कहने का आशय यह था कि नारदजी ने मन में समझा था कि इस घर में तो कृष्ण विराजते हैं दूसरे गृह में केवल कृष्ण की दूसरी पत्नी ही होगी,इसलिये कृष्ण पत्नी के गृह में कहा है, वह नारदजी,कृपा हो,यह प्रार्थना कर वहां से निकले,इसके अनन्तर भी नारदजी में बहिर्मुखता थी जिससे दूसरे गृह में देखने के लिए गये,क्योंकि नारदजी व्यसनों को खण्डन करनेवाले हैं इसलिये खण्डनार्थ व्यसनों की पर्यालोचना करने के स्वभाव वाले होने से बहिर्मुख कहा है, उनका गृहान्तर प्रवेश में जो विचार था वह कहते हैं, 'योगेश्वरेश्वरस्य' योग की ही गति नहीं जानी जाती है क्योंकि अलौकिक है, उसमें फिर योगेश्वरों की गति कैसे जानी जायेगी? जो योगेश्वर योग को अपने वश में रखते हैं,उन योगेश्वरों के भी थे, भगवान् ईश्वर हैं उनकी भी फिर योगमाया, उसको जानने की इच्छा से गृहान्तर में प्रविष्ट हुए थे, जिसके वैभव को भगवान् भी नहीं जान पाता है, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि, इसमें प्रतारणा (छल) नहीं है ॥१६॥

आभास—तत्र स्थितस्य भगवतः पूर्वदृष्टापेक्षया भिन्नमेव सन्निवेशमाह **दीव्यन्तमक्षैरिति** ।

आभासार्थ—उस अन्य गृह में स्थित भगवान् पहले गृह में देखे हुए की अपेक्षा से दूसरी ही लीला कर रहे हैं जिसका वर्णन 'दीव्यन्तमक्षै' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।**
(पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥२०॥)

श्लोकार्थ—वहाँ भी देखा तो भगवान्, उद्धवजी और प्रिया के साथ चौपड़ खेल रहे हैं, भगवान् नारदजी को देखते ही उठ खड़े हो गए और परम प्रेम से आसन आदि देकर उनकी पूजा की ॥२०॥

सुबोधिनी—सर्वत्र तादृश एव सन्निवेशो वक्तव्यः, येन पूर्वगृहे स्थितस्य शीघ्रं समागमनशङ्कापि न सम्भवति । तत्रापि 'भगवन्तं ददर्श'ति पूर्वा क्रियैवानुसन्धेया । परं प्रियया भार्यया उद्धवेन च सह अक्षैर्दीव्यन्तमिति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—सब स्थानों में वैसा ही सम्यक् प्रवेश कहना चाहिये, जिससे पहले घर में बैठे हुए की यहाँ शीघ्र आ जाने की शङ्का भी न हो सके, वहाँ भी भगवान् को देखा पहले कही हुई क्रिया का अनुसन्धान करना चाहिए, विशेष में प्यारी भार्या तथा उद्धवजी से चौपड़ खेलते हुए प्रभु को देखा ॥२०॥

आभास—तस्य नारदस्य भगवान् मायया तथा प्रदर्शयतीति बुद्धिव्यावृत्त्यर्थं भगवान् किञ्चिदुक्तवानित्याह **पृष्टश्चाविदुषेवासाविति** ।

आभासार्थ—भगवान् यह सब माया से दिखा रहे हैं, नारद की ऐसी बुद्धि का बदलने के लिए भगवान् 'पृष्टश्चाविदुषेवासौ' श्लोक में कुछ कहते हैं—

श्लोक—**पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदायातो भवानिति ।**
क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—मानो अनजान हैं, ऐसे बन कर भगवान् ने नारदजी से पूछा कि आप कब पधारे हैं? आप तो पूर्ण हो, हम अपूर्ण आपकी क्या सेवा कर सकते हैं? ॥२१॥

सुबोधिनी—असौ पूर्वदृष्ट एव भगवान्, प्रत्यभिज्ञानस्य दृढत्वात्, तथापि कदायातो भवान् इति पृष्टवान् । असौ नारदो भगवता पृष्टः, यथा सः स्वाकारगोपनं करोति परीक्षार्थम्, तथा भगवानपि कृतवानित्यभिप्रायेणाह **तथा अविदुषेवेति** । चकारात्पूजा । कृतं सर्वं कृतवान् । स्तुतिं च कृतवानित्याह **क्रियते किं नु पूर्णानामिति** । पूर्ववद्भगवन्नारदयोः धर्मव्यत्यासो द्रष्टव्यः । तदोपपद्यत एव । पूर्णानां भवतां अपूर्णैरस्मदादिभिः किं कर्तव्यमिति । यथा अज्ञाननाट्यम्, एवं तत्कार्यनाट्यवाक्यमपीति केचित् । लौकिकी वा भाषा तन्मोहार्था, तद्बुद्धौ भगवान्परिच्छिन्नो भासत इति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन भगवद्वचनमित्यपरे ॥२१॥

व्याख्यार्थ—यह भगवान् पहले देखे हुए ही हैं इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान दृढ़ है, तो भी आप कब आये? यों पूछे गये, इस नारद से भगवान् ने पूछा, जिस प्रकार नारदजी परीक्षार्थ अपने स्वरूप को छिपाते हैं, वैसे भगवान् भी अपने को छिपाते हैं, इसलिये कहा है कि 'अविदुषा' मानों अनजान की तरह पूछा 'च' पद से पूजा कही है, जो कर्त्तव्य करना चाहिये वह सब किया और स्तुति की, वह कहते हैं कि 'क्रियते किं नु पूर्णानाम्' हम अपूर्ण, आप पूर्णों की क्या सेवादि कर सकते हैं, यों कहकर नारद और भगवान् के धर्म का परस्पर व्यत्यास[1] बताया है, अथवा यों कहने से भगवान् और नारद में धर्म का व्यत्साय देखना चाहिये, तब ही यह कहना बन सकता है, पूर्ण जो आप[2] हैं उनका अपूर्ण

१-बदलना, २-नारद

हम क्या करहैं ? जैसे अज्ञान से नाट्य किया जाता इसी तरह यह कार्य नाट्य का वाक्य भी है, यों कोई कहते हैं, अथवा यह लौकिकी भाषा उसको मोहित करने के लिये हैं उसकी[1] बुद्धि में भगवान् परिछिन्न भासते हैं, यों 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार भगवान् के वाक्य हैं, यों अन्य कहते हैं ॥२१॥

आभास—तथापि समागतस्य भगवद्गुणनिर्धारार्थं प्रवर्तमानस्य हितं कर्तव्यमिति भक्तिशास्त्रमनुसृत्याह **अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन्निति** ।

आभासार्थ—तो भी भगवान् के गुणों का निर्धार करने के लिये जो सभा में आया है उसका हित करना चाहिये, यों भक्ति शास्त्र का अनुसरण कर 'अथापि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मञ्जन्मैतच्छोभनं कुरु ।**
स तु विस्मित उत्थाय तूर्णमन्यदगाद्गृहम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—तो भी हे ब्रह्मन् ! कुछ आज्ञा कर जन्म सफल करो, नारदजी तो विस्मय में पड़ गए और वहाँ से उठकर अन्य गृह में शीघ्र चले गए ॥२२॥

सुबोधिनी—अस्मान्प्रति ब्रूहि, किञ्चित्प्रार्थयेत्यर्थः । **ब्रह्मन्निति** ब्राह्मणस्य याचनमुचितमिति । किञ्च । एतन्मम जन्म अवतारः भक्तोद्धारक एवेति । तत्र मुख्यो भवानिति स्वात्मानं पूर्णं कुर्वन् जन्म शोभनं कुरु । स्वजन्म वा । ततो यज्जातं तदाह **स तु विस्मित उत्थायेति** । पारमार्थिकमेतद्वचनं न भवतीति स्वमनसि निश्चित्य, मां वञ्चयति, शीघ्रं तत आगत्येति सम्भावनां कुर्वन्, शीघ्रमुत्थाय, ततो गत इत्याह । हेत्वदर्शनाद्विस्मितो जातः । भगवतो वैभवेन समागमनं निराकरोति **तु**शब्दः । उत्थाय तूर्णमिव अन्यद्गृहमगात् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—हमको कहो, अर्थात् प्रार्थना करो, हे ब्रह्मन् ! इस सम्बोधन देने का आशय प्रकट करते हैं कि ब्राह्मण को याचना करनी योग्य ही है, और विशेष यह है कि मेरा यह अवतार भक्तों के उद्धार के लिये ही है, उनमें मुख्य भक्त आप हैं, इसलिये अपनी आत्मा को पूर्ण बना कर मेरा जन्म वा अवतार सफल करो अथवा अपना जन्म सफल करो, भगवान् के इन वचनों के कहने के पश्चात् जो कुछ हुआ वह कहते हैं नारद ने सोचकर निश्चय किया, भगवान् जो कुछ वचन कह रहे हैं वे पारमार्थिक नहीं है, यों कहकर मुझे ठगते हैं, इस प्रकार सम्भावना कर, वहाँ से शीघ्र उठकर दूसरे गृह में गये, भगवान् ने कोई हेतु नहीं दिखलाया इससे अचम्भे में पड़ गये, 'तु' शब्द से भगवान् के वैभव से समागमन का निराकरण करते हैं ॥२२॥

आभास—तत्र सन्निवेशान्तरमाह **तत्राप्यचष्टेति** ।

१-नारद की

आभासार्थ—वहां प्रवेश के अनन्तर जो देखा वह 'तत्राप्यचष्ट' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुतान् शिशून् ।**
ततोऽन्यस्मिन्गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—वहाँ भी भगवान् को छोटे-२ बालकों को खिलाते देखा, वहाँ से फिर अन्य गृह में देखा तो भगवान् स्नान की तैयारी कर रहे हैं ।।२३।।

सुबोधिनी—**शिशून्** पुत्रादीन् । तत्र भगवन्तं दूरादेव सन्निवेशान्तरस्थितं दृष्ट्वा, तत्त्वसङ्ख्यापर्यन्तं तत्तद्भावस्थितं भगवन्तं पश्यन्, तत्र तत्र प्रविश्य, ततस्ततो निर्गत इत्याह **ततोऽन्यस्मिन्नित्यादि** । अथोवाचेत्यतः प्राक्तनेन । **मज्जनाय** मर्दनानन्तरं स्नानाय कृत उद्यमो येन ।।२३।।

व्याख्यार्थ—छोटे छोटे पुत्रादिकों को न कि प्रौढ़ों को खेलाते भगवान् स्थित थे, वहां दूर से ही प्रवेशानन्तर, भगवान् को उस उस भाव में स्थित अन्य अन्य गृहों में और प्रवेश कर २४ प्रकार से देखता हुआ निकल गया, अन्यत्र देखा तो प्रभु शरीर का मर्दन (मालिश) कर स्नान के लिये तैयारी कर रहे हैं ।।२३।।

श्लोक—**जुह्वन्तं च वितानाग्नीन्यजन्तं पञ्चभिर्मखैः ।**
भोजयन्तं द्विजान्क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ।।२४।।

श्लोकार्थ—कहीं आह्वनीय अग्नि में होम करते थे, कहीं पञ्च यज्ञ कर रहे थे, कहीं ब्राह्मणों को भोजन कराते थे और कहीं पाँच यज्ञों से शेष अन्न से स्वयं भोजन करते थे, इस प्रकार भगवान् को पृथक्-२ कार्य करते नारद ने देखा ।।२४।।

सुबोधिनी—**वितानाग्नीन्** यज्ञविताने स्थितान् गार्हपत्यादीन् । 'सोमं विधाय अवभृथस्नानानन्तरं सा यावद्रात्रेः संतिष्ठत' इति न्यायेन मध्यरात्रावप्यग्निहोत्रहोमः । तथैवान्यत्र पञ्च मखाः देवयज्ञादयः पञ्चगृहेषु । क्वापि गृहे द्विजान् भोजयन्तं रात्रिभोजनेन । ततोऽवशेषितं भुञ्जानं गृहान्तरे । एते नव गृहाः पूर्वोक्तैः सह द्वादश ।।२४।।

व्याख्यार्थ—गार्हपत्य आदि अग्नि में होम कर रहे थे, 'सोमं विधाय' मन्त्र में कहा है कि, सोम यज्ञ को करने के बाद यज्ञीय स्नान कर उसके अनन्तर रात्रि हो जाय तो मध्य रात्रि में भी अग्नि होत्र होम करना ही चाहिये. इसी प्रकार अन्य गृहों में पञ्च यज्ञ अर्थात् देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, और ब्रह्म यज्ञ आदि पांच यज्ञ गृहों में कर रहे थे, किसी गृह में, ब्राह्मणों को रात्रि भोजन से, भोजन कराते थे, दूसरे गृह में उससे बचे हुए अन्न से स्वयं भोजन करते थे, नव गृह, पूर्व कहे हुए गृहों सहित द्वादस हुए ।।२४।।

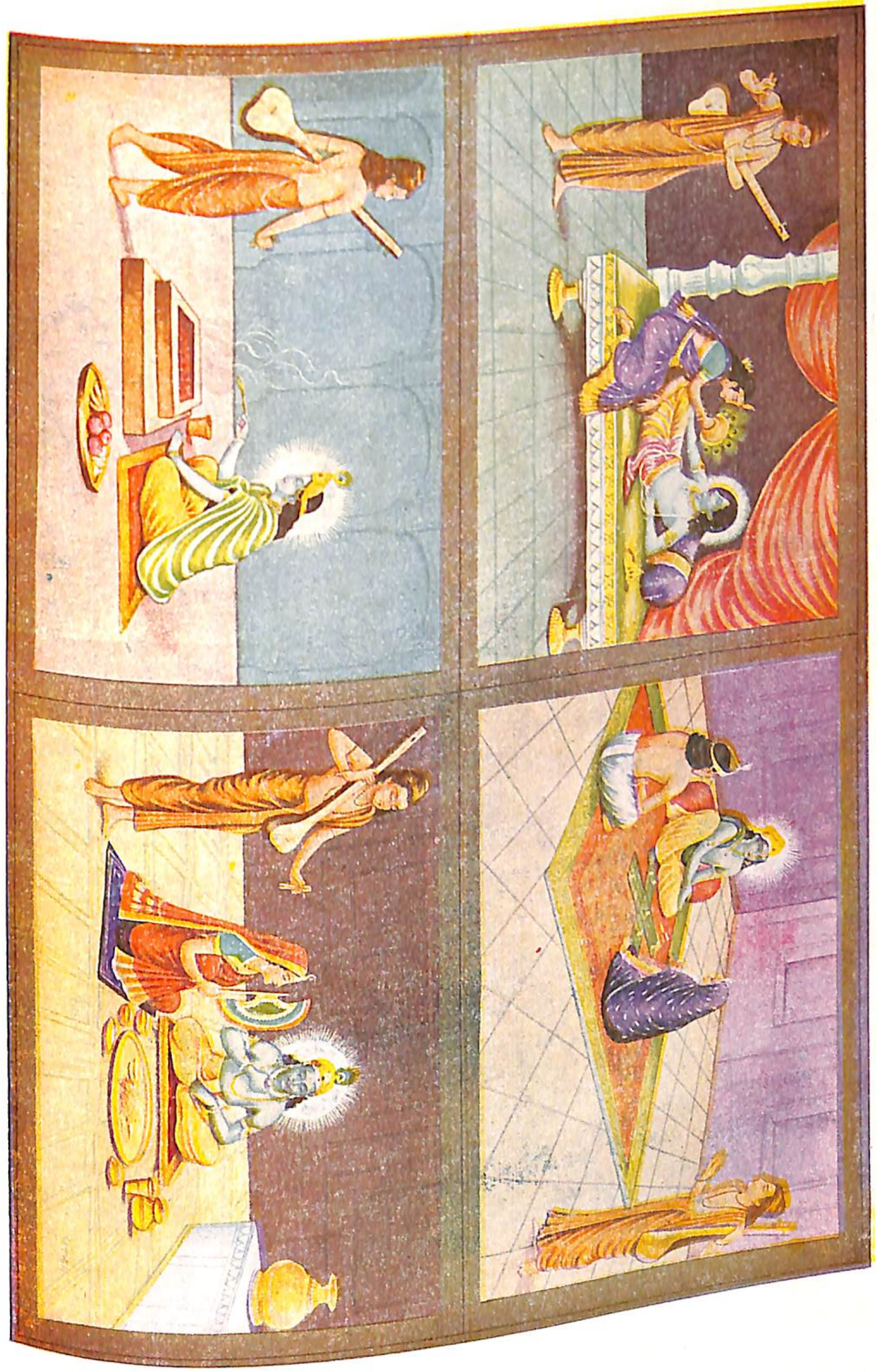

भगवान्‌का ऐश्वर्य

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

आभास—पुरुषार्थचतुष्टयं साधयन्तमाह ।

आभासार्थ—पुरुषार्थ चतुष्ट्र की सिद्धि कर रहे भगवान् का 'क्वापि सन्ध्या' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।**
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥२५॥

श्लोकार्थ—कहीं सन्ध्योपासना कर रहे थे, कहीं वाणी का संयम कर ब्रह्म का जप करते थे, कहीं तो तलवार और ढाल लेकर यह किस प्रकार चलानी चाहिए ? इसका शास्त्रों में कही हुई नीति-अनुसार अभ्यास करते थे ॥२५॥

सुबोधिनी—तत्र धर्मे क्वापि सन्ध्यामुपासीनम्, अन्यत्र जपन्तम्, तस्यैव विशेषणं वाग्यतमिति । मौनव्रतधरं भिन्नमितिविमर्शः । एकत्र **असिचर्मभ्यां चरन्तं असिवर्त्मसु** शास्त्रोक्तखड्गमार्गशिक्षासु ॥२५॥

व्याख्यार्थ—वहां धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये कहीं सन्ध्योपासना करते थे, अन्यत्र जप करते थे,'वाग्यतं' पद 'जपन्तं' का विशेषण है,अतः मौन व्रत धारण के साथ ब्रह्म का जप कर रहे थे, एक किसी स्थान पर तलवार और ढ़ाल का अभ्यास शास्त्रानुसार कर रहे थे ॥२५॥

श्लोक—**अश्वै रथैर्गजैक्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।**
क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च बन्दिभिः ॥२६॥

श्लोकार्थ—नारद ने कहीं घोड़े, हस्ती और रथ पर बैठे फिरते हुए भगवान् को देखा, कहीं तो आप पलङ्ग पर पोढ़े-२ बन्दीजनों की स्तुति सुन रहे हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—तथैव अश्वै रथैर्गजैः सह विचरन्तम् । गदाग्रजं भक्तरक्षार्थं तथा यतमानमित्यर्थः **पर्यङ्के क्वचिच्छयानम्** । अन्यत्र बन्दिभिः स्तूयमानम् । दशधाऽयं धर्मो निरूपितः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—कहीं देखा तो भगवान् भक्तों की रक्षा के लिये घोड़े, रथ और हस्ती पर चढ़ फिर रहे हैं, कहीं पलङ्ग पर पोढे हुए बन्दी जनों की की हुई स्तुति सुन रहे है ॥२६॥

आभास—अर्थं निरूपयति **मन्त्रयन्तमिति** ।

आभासार्थ—'मन्त्रयन्तं' श्लोक में 'अर्थ' का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।**
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम् ।।२७।।

श्लोकार्थ—किसी गृह में उद्धवादि मन्त्रियों से मन्त्रणा कर रहे हैं, कहीं वारविलासितियों से वेष्टित हो जलक्रीडा कर रहे हैं ।।२७।।

सुबोधिनी—कामं निरूपयति **जलक्रीडारतमिति** ।।२७।।

व्याख्यार्थ—इस २७ वें श्लोक के प्रथम अर्द्ध 'मन्त्रयन्तं में अर्थ विषयक मन्त्रणा का वर्णन है और उत्तरार्द्ध 'जल क्रीडारतं' में काम का निरूपण है ।।२७।।

आभास—मोक्षं निरूपयन् सर्वाण्यङ्गानि निरूपयति **कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्य** इति।

आभासार्थ—मोक्ष का निरूपण करते हुए सर्व अङ्गों का 'कुत्रचित्' श्लोक से निरूपण करते है—

श्लोक—**कुत्रचचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलंकृताः ।**
इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ।।२८।।

श्लोकार्थ--किसी स्थान पर देखा तो अलङ्कृत की हुई गौ ब्राह्मणों को दान कर रहे है और अन्यत्र इतिहास, पुराण और भगवद्गुणों को सुन रहे हैं ।।२८।।

सुबोधिनी—शृण्वन्तमिति इतिहासपुराणानीति विशेषः । **मङ्गलानि** भगवद्गुणान् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—इतिहास पुराण सुनते थे यह विशेष है, मङ्गलानि भगवद्गुणों को भी सुन रहे थे ।।२८।।

आभास---ऋणमपाकुर्वन्निवाह **हसन्तमिति** ।

आभासार्थ—मानों ऋण को उतार कर 'हसन्तं' श्लोक में कहतेहैं—

श्लोक--**हसन्तं हास्यकथया कदाचित्प्रियया गृहे ।**
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ।।२६।।

श्लोकार्थ--कभी गृह में हास्य कर प्यारी के साथ हँस रहे हैं, कहीं धर्म का कार्य कर रहे हैं और कहीं अर्थ तथा काम का सेवन कर रहे हैं ।।२६।।

सुबोधिनी—त्रैवर्गिकं तत्रैव शेषभूतमाह **धर्मं सेवमानमिति** ।।२६।।

व्याख्यार्थ—'धर्मं सेवमानं' इस श्लोक में यहां ही त्रैवर्गिक शेष रूप से वर्णन कर दिया है ।।२६।।

श्लोक--**ध्यायन्तमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम् ।**
शुश्रूषन्तं गुरून्क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया ।३०।

श्लोकार्थ--कहीं प्रकृति से परे पुरुष का एकान्त में ध्यान कर रहे हैं, कहीं इच्छित काम और भोगादि योग्य पदार्थों से गुरुओं की सेवा कर रहे हैं, ऐसे श्री-कृष्ण को नारदजी ने देखा ।।३०।।

सुबोधिनी—**ध्यायन्तमेकमिति** निदिध्यासितम् । **शुश्रूषन्तं गुरूनिति** । गुरुसेवा त्रिविधा ।।

व्याख्यार्थ—अकेले प्रकृति से परे पुरुष का ध्यान करते हुए अर्थात् निदिध्यासन करते हुए और तीन प्रकार की गुरु सेवा करते हुए प्रभु के नारद जी ने दर्शन किये ।।३०।।

आभास—एवमलौकिकपुरुषार्थानुक्त्वा लौकिकं व्यवहारमाह **कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चिदिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार अलौकिक पुरुषार्थों का वर्णन कर 'कुर्वन्तं विगृहं' श्लोक से लौकिक व्यवहार कहते हैं—

श्लोक—**कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित्सन्धिं चान्यत्र केवलम् ।**
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—कहीं किसी के साथ विग्रह कर रहे हैं तो कहीं सन्धि कर रहे हैं, कहीं बलरामजी के साथ मिल सज्जनों के कल्याण का विचार कर रहे हैं, ऐसे प्रभु को नारदजी ने देखा ।।३१।।

सुबोधिनी—राज्यान्तरशिष्टा नाङ्गीकृताः । सन्धावङ्गीकृताः । **केवलमित्यनेन** समयभेदेनापि सन्धिविग्रहौ निरूपितौ । ततो लोकन्यायेन बलभद्रेण सह मन्त्रणं कथं **सतां शिवं भवेदिति** । अलौकिकेन वा कलावुत्पत्स्यमानानाम् ।।३१।।

व्याख्यार्थ—अन्य राज्यों के शिष्टों का यों ही अङ्गीकार नहीं किया, किन्तु सन्धि में अङ्गीकार किया, 'केवल' पद देकर यह सूचित किया है कि समय भेद से सन्धि और विग्रह का निरूपण

किया, अर्थात् सन्धि के समय सन्धि और विग्रह के समय विग्रह करते थे, इस कारण से लोक न्यायानुसार बलभद्र के साथ यह मन्त्रणा करते थे कि सत्पुरुषों का कल्याण कैसे हो ? कलियुग में उत्पन्न हुए पुरुषों का तो अलौकिक प्रकार से ही कल्याण हो सकेगा ।।३१।।

श्लोक—**पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपपादनम् ।**
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्त विभूतिभिः ।।३२।।

श्लोकार्थ—कहीं बड़ी धूम-धाम के साथ पुत्रों का योग्य वधूओं के साथ और कहीं कन्याओं का योग्य वरों के साथ विधिवत् विवाह कर रहे हैं ।।३२।।

सुबोधिनी—पुत्राणां विवाहो दुहितॄणां च । विधिपूर्वकमुपपादनं **काले** युक्तसमये । किञ्च । पुत्राणां दारैः सह विभूतिभिः कल्पयन्तम् । क्वचिद्गृहे पुत्रं सभार्यं परमोत्सवयुक्तं करोतीत्यर्थः । तथा दुहितॄणामपि तत्सदृशैर्वरैः जामातृसहितानां विभूतिभिः कल्पयन्तम् । जामातृसहिता दुहितरः ऐश्वर्यादिसम्पन्नाः कृता इत्यर्थः ।।३२।।

व्याख्यार्थ—पुत्रों का और कन्याओं का, उचित समय में अर्थात् शुभ मुहूर्त योग्यवय में शास्त्र विधि अनुसार कर रहे थे और विशेष में कहते हैं कि पुत्र तथा पुत्रवधुओं को बहुत आभूषण वस्त्रादि विभूतियों से विभूषित किया था, किसी गृह में स्त्री सहित पुत्र को परमोत्सव युक्त करते थे, वैसे ही कन्याओं को भी उनके समान वरों के साथ अलङ्कार वस्त्र आदि विभूतियों से सुसज्जित किया था, अर्थात् जवाँईयों सहित बेटियों को ऐश्वर्यादि युक्त किया था ।।३२।।

श्लोक—**प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान् ।**
वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ।।३३।।

श्लोकार्थ—कहीं अपनी (सन्तानों को) कन्याओं को वर के घर रवाने करते और कहीं पीछा बुलाने के कार्यों में तत्पर तथा योगेश्वरों के ईश्वर के किए हुए अपने बालकों के महोत्सवों को दिखाकर लोगों को विस्मय में डालते हुए भगवान् को नारदजी ने देखा ।।३३।।

सुबोधिनी—तासामेव प्रस्थापनं उपनयनं च भर्तृगृहात्स्वगृहे समानयनम् । पुत्रवधूनां वा अपत्यानां महोत्सवान् कल्पयन्तमिति सम्बन्धः । आवश्यकत्वादनभिनिवेशेन करणं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं महतीं समृद्धिमुपपादयति **वीक्ष्येति**। योगेश्वराणामपीश्वरत्वात्सामग्रीमनेकविधां अनायासेन शीघ्रं सम्पादयति । ततो येषां महोत्सवानां सम्बन्धिनो लोकाः तां दृष्ट्वा अभूतपूर्वत्वाद्विसिस्मिरे ।।३३।।

व्याख्यार्थ—कन्याओं को ससुराल भेजते फिर वहाँ से मंगाते, और पुत्रवधुओं का तथा पुत्रों का महोत्सव करते हुए भगवान् को नारद ने देखा, ये कार्य आवश्यक करने, होने से, अभिनिवेश के सिवाय करना सम्भव होता है जिसकी व्यावृत्ति के लिये महती समृद्धि तैयार करते हैं, जिसका वर्णन 'वीक्ष्य योगे विसिस्मिरे' कहकर किया है, आप योगेश्वरों के भी स्वामी हैं अतः बिना परिश्रम के अनेक प्रकार की सामग्री आपने शीघ्र तैयार करली है, महोत्सव से सम्बन्ध रखने वाले लोक उन अभूतपूर्व सामग्रियों को देख कर चकित हो गये ।।३३।।

आभास—एवं लौकिकधर्मेषु केवललौकिकानुपपाद्य तदनुरूपधर्मानुपपादयति **यजन्तं स्वकलान् देवानिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार लौकिक कर्मों में केवल लौकिक का वर्णन कर उनके योग्य धर्मों को 'यजन्तं स्वकलान्' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**यजन्तं स्वकलान्देवान्क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः ।**
पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं कूपाराममठादिभिः ।।३४।।

श्लोकार्थ—कहीं बड़े-२ यज्ञों द्वारा अपनी कलायुक्त देवों का यजन करते हुए और कहीं कूप, आराम और मठ आदि बनाकर उनके वास्तु पूजन धर्म को करते हुए भगवान् को नारदजी ने देखा ।।३४।।

सुबोधिनी—स्वस्य कला येषु । भगवदावेशयुक्तान् । **ऊर्जितै** लौकिकसाधनैः पुष्टैः । **क्रतुभिर्यज्ञादिभिः** शान्तिकपौष्टिकैर्वा । पूर्तमप्याह **पूर्तयन्तमिति** । कूपारामादिप्रतिष्ठार्थं देवतावाहनं कृत्वा अधिवासने उपविष्टमित्यर्थः । आरामा वाटिकाः, तत्र आलयाः गृहाः, देवस्थानानि वा । तामसादिभेदा उक्ता इति । अन्येषां तदादित्वम् ।।३४।।

व्याख्यार्थ—जिन देवों में अपनी कला है, अर्थात् जो देव भगवदावेश युक्त हैं, उनका पूजन, लौकिक साधनों से पुष्ट, शान्तिक और पौष्टिक यज्ञों द्वारा कर रहे हैं, भगवान् को नारदजी ने देखा और कहीं देखा तो प्रभु कूप, आराम एवं मठ आदि की प्रतिष्ठा के लिये देवताओं का आवाहन कर अधिवासन में बैठे हैं, आराम (बाग) उसमें विश्राम के लिये गृह अथवा देव स्थान, तामस आदि भेद कहे हैं, 'आदि पद से अन्य भी समझ लेने ।।३४।।

श्लोक—**चरन्तं मृगया क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।**
घ्नन्तं ततः पशून्मेध्यान्परीतं यदुपुङ्गवैः । ३५।।

श्लोकार्थ—कहीं तो सैन्धव (अश्व) पर चढ़कर शिकार खेलते हुए, वहाँ यादव श्रेष्ठों से घिरे हुए, पवित्र पशुओं को मारते हुए श्रीकृष्ण को नारदजी ने देखा ।।३५।।

सुबोधिनी— ततोऽन्तःपुरस्थपर्वतोपवनादिषु सैन्धवं समुद्रोद्भवं हयमारुह्य मृगयां चरन्तम्। रात्रावपि गृहे प्रविष्टः गृहस्थैस्तथोक्तः मृगयास्थाने तथाविधं दृष्टवानित्यर्थः। तथैव क्वचिन्मेध्यान्पशून् श्राद्धाद्यर्थं घ्नन्तम्। तत्रान्येषामप्यर्थं तथा करोतीति ख्यापयितुं परीतं यदुपुङ्गवैरित्युक्तम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् अन्तःपुरस्थ पर्वत और उपवन आदि में समुद्र से उत्पन्न अश्व पर बैठ कर शिकार खेलते हुए प्रभु को नारद ने देखा, रात्रि के समय गृह में प्रविष्ट हुए, गृहस्थों ने वैसा ही कहा, अर्थात् शिकार खेलने के स्थान पर वैसा देखने में आये, उसी तरह कहीं श्राद्ध आदि के लिये पवित्र पशुओं का वध करते हुए प्रभु को नारद ने देखा, यादव श्रेष्ठों से घिरे हुए थे जिसका आशय है कि पवित्र पशुओं का वध दूसरों के लिये भी कर रहे थे ॥३५॥

आभास—गुप्तचर्यां चरन्तं दृष्टवानित्याह **अव्यक्तलिङ्गेति** ।

आभासार्थ—छिपे हुए कार्य करते हुए को देखा जिसका वर्णन 'अव्यक्त लिङ्ग' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।**
क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥३६॥

श्लोकार्थ—अपनी प्रजा अथवा अन्तःपुर वाला कोई भी न जान सके, इसी प्रकार प्रजा तथा अन्तःपुरस्थों के भावों को जानने की इच्छा वाले प्रभु गुप्त प्रकार से फिर रहे थे, जिनको नारद ने देखा ॥३६॥

सुबोधिनी—अव्यक्तानि लिङ्गानि सत्त्वासत्त्वख्यापकानि। यासां प्रकृतीनां स्त्रीणामन्तःपुरे गृहादिकं येषां तेषामपि तस्य तस्य सतोऽसतो वा भावबुभुत्सया क्वचिच्चरन्तम्। गूढरीत्या यथा राज्ञां गुप्तचर्या भवति। तत्रैव नारदः स्वयमपि तादृशधर्मपर इति। नारदादीन् भगवान् पुनरन्वेषतीति। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति समानशीलत्वात्तत्र भगवत्साक्षात्कारो जातः ॥

व्याख्यार्थ—जिनके चिन्ह (भावादि) प्रकट नहीं ऐसी स्त्रियों के, और अन्तःपुर में गृहों वाले पुरुषों के, सत् अथवा असत् भावों को जान लेने की इच्छा से राजाओं की तरह गुप्त रूप से फिरते हुए भगवान् को नारद ने देखा, उस समय नारद भी गुप्त रूप में था 'नरदादीन् भगवान् पुनरन्वेषतीति', 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इन वाक्यों के अनुसार समान शील होने से भगवान् ने नारद को देखा और नारद ने भगवान् का साक्षात्कार किया ॥३६॥

आभास—ततो निकटे मिलितः, पलायनेऽप्यशक्तः, लज्जितः सन् किञ्चिद्भगवन्तमुवाचेत्याह **अथोवाचेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् ऐसे निकट में मिले जो नारद भाग भी न सका, अतः लज्जित होके भगवान् को कुछ 'अथोवाच' श्लोक में कहने लगा—

श्लोक—**अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।**
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इन्द्रियों के ईश भगवान् ने मनुष्य भाव को स्वीकारते हुए जो योग माया का प्रभाव नारद को दिखाया, उसको देख मानो हँसता हुआ भगवान् को कहने लगा ॥३७॥

सुबोधिनी—**हृषीकेश**त्यनेन स्वापराधो निवारितः। भगवतैव तथा प्रेरित इति। आदावन्योन्यदर्शनेन प्रहसनम्। ततो लज्जया विषादादिवेति। एतावद्दर्शनेन नारदस्य किं मौढ्यमासीत्, आहोस्विद्भगवदचिन्त्यैश्वर्यपरिज्ञानेन तथात्वम्, अथवा मायैषैवेति। मायापक्षे सर्वथा प्राकृतबुद्धिः। प्रथमपक्षे तु नारदस्य सर्वथा प्राकृतत्वम्। मध्यमे तूभयोरुत्तमत्वमिति। त्रयोऽपि बुद्धिविशेषा नारदबुद्धौ न स्फुरिताः, किन्तु योगपतिरेषेति स्वस्य भगवतश्च तुल्यतया परिज्ञानं मध्यमभावश्च स्फुरित इति ज्ञापयन्नाह **योगमायोदयं वीक्ष्ये**ति। योगमाय(ा)या दिव्या अपि गतयो भवन्तीति कथमियमेव लीला दृष्टेत्याशङ्क्याह **मानुषीमीयुषो गतिमि**ति। योगेश्वरो हि यादृशीं रतिं वाञ्छति, तदनुरूपा भवति। योगमाया योगस्याधिदैविकी देवता, साधनरूपा वा भगवच्छक्तिस्तथेति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—नारद ने भगवान् को हृषीकेश कहा, जिसका भावार्थ है कि आप इन्द्रियों के स्वामी हैं जैसे इन्द्रियों को प्रेरणा देते हो वैसे ही इन्द्रियाँ करती हैं, अतः मेरी इन्द्रियों को भी आपने ही इस प्रकार प्रेरित किया है जिससे यों करनें में मेरा दोष नहीं है, परस्पर देखने से पहले हँसने लगे, पश्चात् लज्जा आई, मानों अपना विषाद् प्रकट करने लगा इस प्रकार दर्शन करने से क्या मूर्ख वा अज्ञान हुआ ? या भगवान् के अचिन्त्यैश्वर्य ज्ञान के होने से पुरुषोत्तम के स्वरूप का ज्ञान हुआ ? अथवा नारद ने यों समझा कि यह माया ही है, यदि यह माया ही है ऐसा ज्ञान हुआ तो सवर्था बुद्धि प्राकृत बनी रहेगी, प्रथम[1] पक्ष में तो नारद का सर्व प्रकार से प्राकृतपन होगा, मध्यम पक्ष में[2] तीनों भी बुद्धि विशेष, नारद की बुद्धि में स्फुरित न हुवे, किन्तु यह योग गति है अपना और भगवान् का सादृश्य है ऐसा मध्यम भाव का ज्ञान स्फुरित हुवा यह जताते हुए कहते हैं कि 'योगमायोदयं' योग माया की गतियां दिव्य होती है तो कैसे यह ही लीला देखी। इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि 'मानुषी मीयुषो गतिं' योगेश्वर जिस रति की इच्छा करते हैं उसके

---

[1] मौढ्य पक्ष में नारद का प्राकृतत्व होगा तो भगवत्स्वरूप का अज्ञान रहेगा।

[2] मध्यम पक्ष में ब्रह्म ही अनन्त मूर्ति है यह भाव उत्तम है, अर्थात् योग बल से नाना रूप धारण करते हैं यह मध्यम भाव उत्तम है,यह मध्यम भाव प्रमाण मार्ग में उत्तम है।

अनुरूप सर्व क्रिया होती है, 'योगमाया' योग की आधिदैविकी देवता है अथवा साधन रूप भगवच्छक्ति नानारूप है ।।३७।।

आभास—तावन्मात्रं ज्ञातं विनिश्चित्य तत्रैव पर्यवसितमतिः अधिकार्थापरिज्ञानात् नायकोत्कर्षाभावे प्रमेयभक्तिमार्गो न साधीयानिति ततो निवृत्तिं वाञ्छन्निव प्रमाणबलेनैव भक्तिमार्गमुपदेक्ष्यामीति निश्चित्य भगवन्तं प्रार्थयते **विदामेति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—मध्यम पक्ष मात्र से जो जान लिया उसका ही निश्चय कर उसमें ही बुद्धि स्थिर कर दी, क्योंकि अधिक अर्थ का ज्ञान नहीं था नायक के उत्कर्ष को भी न समझ सका जिससे ऐसी बुद्धि हुई कि प्रमेय भक्ति मार्ग अच्छा नहीं है इसलिये उससे निवृत्ति की मानों इच्छा करता हुआ, प्रमाण बल से ही भक्ति मार्ग का उपदेश करूंगा, यह निश्चय कर भगवान् को 'विदाम' और 'अनुजानीहि' दो श्लोकों से नारद प्रार्थना करता है—

श्लोक—**विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि योगिनाम् ।**
योगेश्वरात्मन्निर्भाता भवत्पादनिषेवया ।।३८।।

अनुजानीहि मां देवलोकांस्ते यशसाप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायंल्लीला भुवनपावनीः ।।३९।।

श्लोकार्थ—हम जानते हैं कि आपकी योगमाया को योगी भी नहीं जान सकते हैं, योगेश्वरात्मन् उस योगमाया को आपके चरणों की सेवा से मैंने अब जाना है । ३८।।

आप मुझे अब आज्ञा दो कि मैं जगत् को पवित्र करने वाली आपकी लीलाओं का गान उन लोगों में करता फिरूँ, जो लोग आपके यश से पूर्ण हो अर्थात् आपके भक्त हो । ३९।।

सुबोधिनी—ते योगमायाः यथेच्छं प्रवर्तमानस्य तत्तदिच्छापूरिकाः विदामः । इदं ज्ञानं स्वस्यैवासाधारणमिति ज्ञापयितुमाह **दुर्दर्शा अपि योगिनामिति** । कारणपरिज्ञानं योगिनामपि दुर्लभम् । कार्यस्य लौकिकपरिज्ञानात्कारणजिज्ञासैव नोत्पद्यत इति । तर्हि तव कथमुत्पन्नेत्याशङ्कायामाह **योगेश्वरात्मन् भवत्पादनिषेवया निर्भाता इति** । योगेश्वराणामस्मदादीनामात्मत्वेन स्फुरितो भवानेव पादभजने हेतुरिति सम्बोधनम् । चरणसेवा तु योगमायापरिज्ञाने हेतुः । अत एतावत्कालं कृता प्रमेयबलभक्तिः एतदर्थपरिज्ञान एवोपक्षीणा जातेति एतन्मतपरित्यागेन कीर्तनमार्गेणैव स्थास्यामीति प्रार्थयते **अनुजानीहीति** देवलोकानिन्द्रादिस्थानानि ते यशसा आप्लुतान् व्याप्तानि उद्गायन् पर्यटामि । भुवनपावनीः लीलाः पूर्वसिद्धा एव । एतासामदृष्टानां शास्त्रे प्रसिद्ध्यभावात् एता असम्मता इत्यर्थादुक्तं भवति ।।३८-३९।।

व्याख्यार्थ—हम जानते हैं कि आपकी योगमायाएँ, जो मनुष्य जैसी जैसी इच्छा करते हैं, उनकी वे इच्छाएँ पूर्ण करती हैं । यह ज्ञान मुझे ही असाधारण है, यह जताने के लिये कहता है कि आपको योग मायाओं के प्रभाव का ज्ञान योगियों को भी दुर्दर्शा है अर्थात् जानने में नहीं आता है, इसका क्या कारण है जिसको योगी भी नहीं जान सकते हैं लौकिक परिज्ञान होने से कार्य के कारण की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) ही उत्पन्न नहीं होती है यदि यों है तो तुझे जानने की इच्छा कैसे जगी ? इसके उत्तर में कहता है कि 'योगेश्वरात्मन् भवत्पाद निषेवया निर्भाता' अस्मदादि योगेश्वरों की आप आत्मा हैं, ऐसी स्फुरणा होने से ही आपके चरणों के भजन करने में प्रवृत्ति हुई अर्थात् हम लोग आपके चरणों का भजन करते हैं इसमें आत्मा होने से आप ही हेतु हैं, इसलिए 'योगेश्वरात्मन्' सम्बोधन दिया है, चरण सेवा तो योगमाया के परिज्ञान में हेतु है, अतः इतने समय तक की हुई प्रमेय बल भक्ति इसके अर्थ के परिज्ञान में समाप्त हो गई, इसलिये यह मत छोड़ कीर्त्तन मार्ग से ही रहूंगा, यों प्रार्थना करता है कि आज्ञा दीजिये कि आपके यश से पूर्ण इन्द्रादि देवों के स्थानों में भुवनों को पवित्र करने वाली आपकी पूर्व सिद्ध लीलाओं का गान करता हुआ भ्रमण करता रहूं इन अदृष्ट गुप्त लीलाओं की शास्त्रों में प्रसिद्धि होने से वे असम्मत हैं ।।३८-३९।।

आभास—तत्र भगवान् विचारार्थं प्रवृत्तोऽपि अपरिज्ञानात् खिन्नो जातः मार्गमेव परित्यक्तुं वाञ्छतीति निश्चित्य प्रबोधयति **ब्रह्मन् धर्मस्येति** ।

आभासार्थ—इस विषय का विचार कर भगवान् ने जान लिया कि नारद इसके तत्त्व को न जानने से खिन्न हुआ है, अतः इस मार्ग को छोड़ना ही चाहता है, इसलिये 'ब्रह्मन् धर्मस्य' श्लोक से नारद को समझाते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-**ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।**
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ।।४०।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! धर्म का वक्ता, कर्त्ता और अनुमोदक भी मैं हूँ, अतः उसकी शिक्षा के लिए मैं आचरण करता हुआ रहता हूँ, हे पुत्र ! खेद मत कर ।।४०।।

सुबोधिनी—केवलकथने वेदादौ क्रियाप्रवेशाभावे लोको न मन्यत इति धर्मस्याहं कर्तापि यदि क्रियमाणस्यानुमोदनं न कुर्यां वचनाचरणादिभिः, तदापि लोको न प्रवर्तेतेति तस्य धर्मस्यानुमोदिताप्यहम् । अतो लोके धर्मप्रवृत्त्यर्थं तच्छिक्षयन् लोके धर्मं ग्राहयन् इमं लोकमास्थितः । अयं भावः समाश्रित इत्यर्थः । इति स्वकृतस्य नानाविधधर्मस्याभिप्रायो वर्णितः । ननु त्वद्वञ्चनार्थं माया प्रदर्शितेति पक्षं निवारयितुं सम्बोधनमाह **पुत्रेति** । लीलायाः तत्त्वापरिज्ञानान्मा खिद । तत्त्वं तूक्तमिति ।।४०।।

व्याख्यार्थ—यदि मैं धर्म का केवल वक्ता रहूं और वैसे आचरण न करूं तो लोग मेरे कथन

को माने ही नहीं, तथा लोग धर्म का आचरण ही न करें, इसलिये मैं आचरण कर उसका अनुमोदन भी हूँ, अतः लोक में धर्म की प्रवृत्ति हो, तदर्थ उसको सिखाते हुए, लोक में मनुष्यों को धर्म का ग्रहण कराते हुए स्थित हूँ, इसलिए यह मानुष भाव स्वीकार किया है, यों आपने जो नाना प्रकार के कर्म किये, उनका अभिप्राय वर्णन किया, 'पुत्र' यह सम्बोधन देकर नारद को निश्चय कराया कि यह जो मैने लीलाएँ तुझे दिखाई वह माया नहीं थी किन्तु लोगों के शिक्षार्थ आचरण था, तू इस तत्व को नहीं जानता है इससिये खेद करता है अतः खेद न कर मैने अब तत्व तुझे बता दिया है ॥४०॥

आभास—ततस्तस्य दृष्टं दर्शनानन्तरमध्यवसायं च श्लोकद्वयेनाह **इत्याचरन्तमिति।**

आभासार्थ—पश्चात् देखा, देखने के अनन्तर उसने जो उद्यम किया उसका वर्णन दो श्लोकों से शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इत्याचरन्तं सद्धर्मान्पावनान्गृहमेधिनाम् ।**
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥४१॥
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः ॥४२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस तरह गृहस्थ को पवित्र करने वाले, पवित्र सद्धर्मों का सब गृहों में आचरण करते हुए एक ही उसी श्रीकृष्ण को नारदजी ने देखा । ४१।।

अनन्त शक्ति भगवान् की योग माया का महान् उदय बार-बार देखकर नारदजी को अचम्भा लगा और कौतुक में पड़ गए ॥४२॥

सुबोधिनी—सतां त्रिविधानां सर्वविधान् धर्मान् गृहमेधिनां पावनान् पवित्रकरान्। एवं चेत्कश्चिदाचरति भगवानाचचारेति, तदा पवित्रो भवतीति। अतोऽनन्तमूर्ति तमेव सर्वगेहेषु सन्तं ददर्श। ततो यज्जातं तदाह **कृष्णस्येति**। अनन्तानि वीर्याणि यस्येति। लीलयैवं स्त्रीषु स्थितिः, न तु वस्तुतः। यतोऽयं सर्वशक्तिः। तत्रापि योगमायायाः महानुदयोऽयम्। न कदाप्येवं दृष्टः। अतो धर्मधर्मिणोरलौकिको भावो दृष्ट इति विस्मितः। पुनर्दर्शने जातकौतुकश्च जातः ॥४१-४२॥

व्याख्यार्थ—धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों वाले गृहस्थी सत्पुरुषों के जो भी पवित्र करने वाले सब धर्म हैं उनको इस प्रकार यदि कोई करता है, तो भगवान् ने कर दिखाये हैं, इनको जब गृहस्थी करता है तब पवित्र होता है, अतः उस एक ही अनन्त मूर्ति को सब गृहों में देखा, पश्चात् जो हुआ वह कहते हैं, 'कृष्णस्य········कौतुकः' अनन्त वीर्य वाले कृष्ण की स्त्रियों में जो इस प्रकार स्थित है, वह लीला से है,न कि वस्तु स्वरूप से है क्योंकि यह सर्व शक्तिमान् हैं। इसमें भी यह लीला योगमाया का महान् उदय है, इस प्रकार कभी भी न देखा, अतः धर्म और धर्मी दोनों का अलौकिक भाव देखा, इसलिये चकित हुआ, फिर दर्शन किया तो पुनः कौतुक में पड़ गया ॥४१-४२॥

श्लोक—**इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना ।**
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन्ययौ । ४३।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम में जिसकी श्रद्धा है, वैसे श्रीकृष्ण ने नारदजी की सम्यक् प्रकार से पूजा की, जिससे नारदजी प्रसन्न हो, उनका ही स्मरण करते हुए रवाने हुए । ४३।।

सुबोधिनी—ततः सादरदर्शनानन्तरमर्थकामधर्मेषु श्रद्धितात्मना भगवता **सम्यक् सभाजितो** ब्राह्मणबुद्ध्या ऋषिबुद्ध्या च यथेष्टं भोजनादिना सन्तुष्टः तमेव भगवन्तमनुस्मरन् ययौ। न तु प्रमाणबलमाश्रित्य ॥४३॥

व्याख्यार्थ—आदर सहित दर्शन कर लेने के बाद अर्थ, काम और धर्म में श्रद्धा वाले भगवान् श्री कृष्ण ने ब्राह्मण बुद्धि से और ऋषि बुद्धि से नारदजी को यथेष्ठ भोजनादि से सन्तुष्ट करते हुए सत्कार किया, अनन्तर उन ही श्रीकृष्ण को स्मरण करते हुए नारदजी ने प्रस्थान किया प्रमेय, मार्ग का त्याग करने की इच्छा वाले नारदजी का भगवान् ने जो सत्कार किया, वह प्रमेय बल का आश्रय लेकर ही किया न कि प्रमाण बल का आश्रय लिया ॥४३॥

आभास—एवं नारददृष्टां भगवल्लीलामुपपाद्योपसंहरति **एवं मनुष्यपदवीमिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार नारद की देखी हुई लीला का प्रतिपादन कर अब 'एवं मनुष्य पदवी' श्लोक से उपसंहार करता है—

श्लोक—**एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।**
मेनेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥४४॥

श्लोकार्थ—जिन्होंने सबके उद्धार के लिए सकल शक्तियों को धारण कर मनुष्यों के मार्ग का स्वीकार किया है, वे प्रभु नारायण ये ही हैं, सोलह हजार उत्तम स्त्रियों ने लज्जा, सौहृद और हास्य से जिनकी सेवा की है, वे नारायण ही हैं, यों नारद ने मन में निश्चय कर लिया ॥४४॥

सुबोधिनी—तद्धर्माणामनाचरणे तत्तदनुसर्पणं न भवतीति मनुष्यपदवीमनुवर्तमानः षोडशसहस्रवराङ्गनानां सव्रीडादिभिर्जुष्टो मेने। मनुष्यपदव्यामप्यागतः मूलरूप एवेति ज्ञापयितुमाह

नारायण इति । तस्यैवंकरणे किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह **अखिलभवाय गृहीतशक्तिरिति** । सर्वेषामुद्भवार्थं सात्त्विक्यः शक्तयः सर्वाः संगृहीताः । तत्र मनुष्येषु धर्माप्रवृत्तौ सर्वेषामुद्भवो न भवतीति तथा करणम् । **अङ्गे**त्यप्रतारणाय सम्बोधनम् । अष्टमहिषीणां न विवाद इति नरकासुरपरिगृहीतानामेव षोडशसहस्रवराङ्गनानामिति वरशब्देन तत्तद्दास्यो व्यावर्तिताः । अन्या वा गोप्यः संगृहीताः । क्रीडापूर्वको योयं सौहृदनिरीक्षणविशेषः तत्पूर्वको हासः तेन जुष्ट इति । त्रिविधो भावो निरूपितः तामससात्त्विकादिभेदेन ।।४४।।

व्याख्यार्थ—यदि प्रभु स्वयं धर्म, अर्थ और काम का आचरण कर स्वयं न दिखाते तो लोक में उनका आचरण कोई नहीं करता, अतः भगवान् ने मनुष्य नाट्य कर स्वयं आचरण कर मनुष्यों को आचरण की शिक्षा दी है, मनुष्य रूप में सोलह हजार उत्तम स्त्रियों से लज्जा सौहृद से निरीक्षण तथा हास्य द्वारा सेवित हो रमण कर रहे हैं, इस प्रकार मनुष्य रूप में आकर लीला करते हुवे भी आप मूल रूप ही हैं, यह सिद्ध करने के लिये श्लोक में नारायण कहा हैं, जब आप नारायण ही हैं तो इस प्रकार मानव रूप क्यों धारण किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, सकलों के उद्धार के लिये ही सब सात्विक शक्तियां धारण कर मनुष्य रूप से प्रकट हुवे हैं मनुष्य धर्माचरण में स्वतः स्वयं प्रवृत्त न होंगे यदि धर्माचरण न करेंगे तो उद्धार न होगा, इसलिये आपने शिक्षार्थ स्वयं करके दिखाया है, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन देकर बताया है, कि इसमें किसी प्रकार प्रतारणा (ठगी) नहीं है यहां आठ पटराणियों का विवाद नहीं है, इसलिये नरकासुर के यहाँ से लाई हुई सोलह हजार श्रेष्ठ स्त्रियों को कहा है, 'वर' शब्द से वहां से लाई दासियों को पृथक् कर दिया है, अथवा अन्य गोपियों का संग्रह किया है, क्रीड़ा सहित जो यह सौहृद निरीक्षण पूर्वक हास उससे सेवित, अर्थात् उन षोडश सहस्र वराङ्गनाओं ने भगवान् की सेवा लज्जायुक्त प्रेम सहित निरीक्षण कर हास करते हुए की है, जिससे तामस सात्विक राजस भेद से त्रिविध भाव निरूपण किया है ।।४४।।

आभास—एवं रमणमुपसंहृत्य लौकिकीयं लीला धर्मार्थिभिर्न श्रोतव्येति शङ्कां वारयितुं फलश्रुतिमाह **यानी**ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रमण का उपसंहार कर, अब यह लौकिकी लीला धर्मार्थियों को न सुननी चाहिये इस शङ्का का समाधान करने के लिये इसको सुनने का फल क्या होगा ? वह बताते हैं—

श्लोक—**यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः**
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार ।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते
वा भक्तिं लभेत भगवत्यपवर्गमार्गे ।।४५।।

श्लोकार्थ—विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण रूप हरि ने जो असाधारण कर्म किए हैं, वे दूसरा कोई नहीं कर सकता है अथवा समझो कि ये कर्म अपने लिए ही किए हैं, हे अङ्ग ! उन्हें जो मनुष्य गाते हैं, सुनते हैं और अनुमोदन करते हैं, वे मोक्ष मार्ग रूप भगवान् में भक्ति प्राप्त करते हैं ।।४४।।

सुबोधिनी—सर्वविधकर्मकरणे भगवतो हेतुमाह । विश्वस्य विलयः । उद्भव उत्पत्तिः, वृत्तिः स्थितिः, तेषां हेतुः । अत एवानन्यविषयाणि कर्माणि चकार । नह्यन्यो जगदुत्पत्त्यादिहेतुर्भवति, लीलायां च नान्यं प्रवेशयति, किन्तु स्वयमेव तत्र तत्राविष्टः तथा करोति । अतो नान्यो विषयः । विशेषलीलायाः प्रयोजनं **हरि**रिति । अतो य एतां लीलां गायति, स्वत एवानन्देन कीर्तयति वा, अन्यैर्गीयमानां शृणोति, असन्निहितो वा, कालान्तरे कथावसाने वा, अनुमोदते, श्रोतृवक्तृकथाः, सः भक्तिं लभेत, भगवति पूर्णपुरुषे । भक्तेरन्यत्र विनियोगाभावायाह **अपवर्गमार्ग** इति । मोक्षे नान्यो मार्गोऽस्तीत्यर्थः ।।४५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् जो कुछ कार्य करते हैं उसमें कोई कारण होता है, अतः सर्व प्रकार के इतने कर्म करने में हेतु कहते हैं, प्रथम विश्व के संहार, उत्पत्ति और पालन इनका हेतु कहते हैं भगवान् ने वे कर्म किये जो अन्य नहीं कर सकते हैं अतः आप ही इनके कारण हैं दूसरा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार नहीं कर सकता है, जिससे दूसरा इनका कारण बन ही नहीं सकता है। लीला में दूसरे का प्रवेश नहीं कराते हैं, किन्तु स्वयं ही वहाँ वहाँ प्रविष्ट हो वैसी वैसी लीला करते हैं, अतः अन्य विषय नहीं है अर्थात् केवल भगवान् की लीला ही है, लीला कार्य है भगवान् कारण हैं। कार्य कारण से पृथक् वस्तु नहीं है, इसलिये यह सर्व लीला मात्र जगत् भी भगवद्रूप ही है, जिसका कारण भी भगवान् ही है, अतः कहते हैं कि 'विशेष लीला का प्रयोजन हरि है, अतः जो इस लीला का गान करता है स्वतः ही आनन्द से कीर्तन करता है और दूसरों से गाई हुई श्रवण करता है निकट वा दूर बैठ कर अथवा कालान्तर या कथा के अन्त में सुनता है वा श्रोता एवं वक्ता की कथा का अनुमोदन करता है वह पूर्ण पुरुष भगवान् में भक्ति को प्राप्त करता है, उस भक्ति का विनियोग भी मोक्ष मार्ग में होता है अर्थात् उस भक्ति से मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है, इस भक्ति के बिना मोक्ष की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है ।।४५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे विंशोध्यायः ।।२०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"नारद संशय"

राग धनाश्री :—

हरि की लीला देखि नारद चकित भए।
मन यह करत विचार गोमती तट गए॥
अलख निरंजन निराकार अच्युत अबिनासी।
सेवत जाहि महेस सेस, सुर माया दासी॥
धर्म स्थापन हेत पुनि, धारचौ नर औतार।
ताकौं पुत्र कलत्र सौं, नहिँ संभवत पियार॥
हरि कै षोडस सहस, आठ पतिवर्ता नारी।
सबकौ हरि सौं हेत, सबै हरि जू की प्यारी॥
जाकै गृह द्वै नारि हैं ताहि कलह नित होइ।
हरि बिहार किहिँ विधि करत नैननि देखौं जोइ॥
द्वारावति रिषि पैठि, भवन हरिजू के आए।
आगे ह्वै हरि नारि सहित, चरननि सिर नाए॥
सिंहासन बैठारि के, धोए चरन बनाइ।
चरनोदक सिर धरि कह्यौ, कृपा करि रिषिराइ॥
तब नारद हँसि कह्यौ, सुनौ त्रिभुवनपति राई।
तुम देवनि के देव, देत हौ मोहिँ बड़ाई॥
बिधि महेस सेवत तुम्हैं, मैं बपुरा किहिँ माहिँ।
कहैं तुम्हैं प्रभु देवता, या मैं अचरज नाहिँ॥
और गेह रिषि गए, तहाँ देखे जदुराई।
चँवर ढुरावति नारि, करति दासी सेवकाई॥
रिषि कौ आवत देखि हरि कियौ बहुत सनमान।
ह्याँ हूँ तैं नारद चले, करि ऐसौ अनुमान॥
जा गृह मैं हौं जात जात, स्याम आगैं ही आवत।
तातैं छाँड़ि सुभाव जाउ अबकैं मैं धावत॥
जहँ नारद स्रम करि गए, तहँ देखे घनस्याम।
बालनि सौं क्रीडा करत, कर जोरे खरी बाम॥
जहाँ जहाँ रिषि जाइँ तहाँ तहँ हरि कौं देखैं।
कहुँ कछु लीला करत, कहुँ कछु लीला पेखैं॥
यौं ही सब गृह मैं गए, लह्यौ न मन बिस्राम।
तब ताकौं ब्याकुल निरखि हँसि बोले घनस्याम॥

नारद मन कौ भरम तोहिँ एतौ भरमायौ।
मैं व्यापक सब जगत, बेद चारौ मोहिँ गायौ॥

मैं करता मैं भोगता, मो बिनु और न कोइ।
जो मोकौं ऐसौ लखै, ताहि भरम नहिँ होइ॥

बूझौ सब गृह जाइ, सबै जानत मोहिँ यौं ही।
हरि कौं हमसौं प्रीति, अनत कहुँ जात न क्यौं ही॥

मैं उदास सब सौं रहौं, यह मम सहज सुभाइ।
ऐसौ जानै मोहिँ जो, मम माया तरि जाइ॥

तब नारद कर जोरि कह्यौ, तुम अज अनंत हरि।
तुम से तुम ही ईस नहीं द्वितीया कोउ तुम सरि॥

तुब माया तुव कृपा बिनु, सकै नहीं तरि कोइ।
अब मोकौं कीजै कृपा, ज्यौं न बहुरि भ्रम होइ॥

रिषि चरित्र मम देखि, कछु अचरज मति मानौ।
मो तैं द्वितीया और कोउ मन माहँ न आनौ॥

मैं करता मैं भोगता, नहिँ या मैं कछु संदेहु।
मेरे गुन गावत फिरौ, लोगनि कौ सुख देहु॥

नारद करि परनाम, चले हरि के गुन गावत।
बार बार हरि रूप ध्यान, हिरदै मैं ध्यावत॥

यह लीला अचरज की, सूरदास कही गाइ।
ताकौं जो गावै सुनै, सो भव जल तरि जाइ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७०वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६७वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २१वाँ अध्याय

सात्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"सप्तम अध्याय"

भगवान् श्रीकृष्ण की नित्यचर्या और उनके पास जरासन्ध के कैदी राजाओं के दूत का आना

कारिका—**सात्त्विकानां निरोधे तु प्रमेयबलतः पुरा।**
षड्भिः सर्वे निरुद्धास्ते साधनेनोच्यतेऽधुना ॥१॥

कारिकार्थ—पहले ६ अध्यायों से सात्विकों का निरोध प्रमेय बल से भगवान् ने किया, अब इस अध्याय में साधन से करेंगे, जिसको कहा जाता है ॥१॥

कारिका—**षड्भिरेव तथाध्यायैर्धर्मोऽत्र भगवत्कृतः ।**
कारितश्च द्विरूपो हि वर्ण्यतेऽन्यनिषेधने ॥२॥

कारिकार्थ—निरोध प्रकरण में छः अध्यायों से कराया हुआ भगवत्कृत धर्म दो रूपों से अन्य का निषेध करते हुए वर्णन किया है ॥२॥

कारिका—**तत्रैकविंशेत्वध्याये धर्मो हि भगवत्कृतः ।**
निरूप्यते यतो लोका जाता हरिपराः स्वतः ॥३॥

कारिकार्थ—यहाँ पुनः इक्कीसवें अध्याय में भगवत्कृत धर्म का निरूपण किया जाता है, जिससे लोक स्वतः हरि के परायण हुए ॥३॥

कारिका—**सर्वान् धर्मान् विशेषेण तत्तद्भेदेन चैव हि ।**
पूर्वाध्याये निरूप्यैव ह्याह्निकं ह्यत्र रूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—पहले ६ अध्यायों में सर्व धर्मों को और उन धर्मों के विशेष भेदों का वर्णन कर, इस अध्याय में आह्निक का निरूपण किया गया है ॥४॥

कारिका—**तेनैव शुद्धचित्तास्ते राजानः सात्त्विकास्तथा ।**
प्रपन्नाः सर्वथा कृष्णे प्रयोजनमिदं मतम् ॥५॥

कारिकार्थ—उस आह्निक करने से सात्विक राजा शुद्ध चित्त वाले हुए और कृष्ण की शरण गए, यही प्रयोजन है ॥५॥

कारिका—**अन्यथा ह्याह्निको धर्मो निष्प्रयोजनतां व्रजेत् ।**
सभायां गमनं चैव रक्षां सूचयति क्षतात् ॥६॥

कारिकार्थ—यदि वे राजा लोग शुद्ध चित्त होकर श्रीकृष्ण की शरण न लेते तो कृष्ण का आह्निक धर्म करना ही व्यर्थ हो जाता, श्रीकृष्ण का सभा में पधारना सूचित करता है कि वे उनको मरने से बचाने के लिए ही पधारे हैं; क्योंकि क्षत्रिय हैं, यों करने से क्षात्र धर्म पालन कर दिखाया है ॥६॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—एवं पूर्वाध्यायैः भगवता प्रमेयबलमाश्रित्य सर्वे आत्मसात् कृताः, इदानीं धर्मादिसाधनैर्भगवानात्मसात्करोति, तत्र प्रथमं भगवत आह्निको नित्यो धर्मो निरूप्यते, ततो धर्मपरस्य यत्कृत्यम्, तत्कालनिमित्तकमेवेति अरुणोदयावधि पूर्वाह्णकृत्यं सर्वं निरूपयति अथेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने छः अध्यायों में प्रमेय बल का आश्रय कर अर्थात् प्रमेय बल द्वारा सबको अपनाया, अब धर्मादि साधनों से अपनाते हैं अर्थात् निरुद्ध कर अपनी शरण में लेते हैं, वहाँ पहले भगवान् के आह्निक धर्म का निरूपण किया जाता है, पश्चात् धर्म परायण के जो कृत्य हैं, वे काल निमित्तक हैं, अरुणोदय तक सर्व पूर्वाह्ण कृत्य 'अथोषसि' श्लोक से निरूपण करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन् ।**
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः । १॥

श्लोकार्थ—गले में बाँह डाल पतियों से आलिङ्गन की हुई श्रीकृष्णचन्द्र की पत्नियाँ उषा काल होते ही मुर्गों के शब्द सुन समझने लगी कि अब प्यारे उठ जायेंगे, अतः विरह होगा, जिससे आतुर हो उन मुर्गों को शाप देने लगी ॥१॥

सुबोधिनी—अवान्तरप्रकरणभेदप्रतिपादकोऽयमथशब्दः। **उषस्यरुणोदये**। **उपवृत्तायामारब्धप्राये**। चतस्रो घटिकाः प्रातररुणोदय उच्यत इति धर्मार्थकामानां आवृत्तिर्भगवता क्रियत इति ज्ञापयितुं कामपराणां **स्त्री**णां धर्मासहिष्णुत्वमाह **कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्निति**। तत्र हेतुः। पतिभिः कृष्णैर्गृहीतकण्ठ्यः। ननु गार्हस्थ्ये भोजनवत् भोगस्यापि नियतत्वात् प्रातःकालसूचककुक्कुटशापः कथमिति जेत्। तत्राह **विरहातुरा** इति। तत्र हेतुः **माधव्य** इति। माधवस्य स्त्रियः। मायाधव इति स्वविश्लेषमात्रेणैव लक्ष्म्याः सम्बन्धसम्भवात्, अतो विरहः सम्भावित इति, भगवत्कृतप्राप्तफलानां साधने द्वेषो युक्त इति, भगवत्कृतधर्मस्य च सात्त्विकनिरोधपरत्वात्सम्बद्धानामिच्छामात्रेणैव निरोधः सिद्ध इति कुक्कुटशापो युक्तः ॥१॥

व्याख्यार्थ—यहाँ श्लोक में 'अथ' शब्द अवान्तर प्रकरण में भेद का प्रतिपादन करने वाला है, प्रातःकाल की चार घड़ी अरुणोदय है, जिसका अब प्रारम्भ हुआ है, अतः भगवान् धर्म, अर्थ और काम धर्म की आवृत्ति करते हैं अर्थात् आह्निक कर्म करना प्रारम्भ करते हैं, जिससे भगवान् उठ रहे हैं, यह प्रभु का धर्म कार्य काम परायण स्त्रियाँ सहन न कर सकीं, अतः शब्द करने वाले कुक्कुटों (मुर्गों) को शाप देने लगी, इसका कारण यह था कि उस समय वे गले में बाँह डाल पतियों से आलिङ्गन की हुई थी, वे समझ गईं कि कुक्कुटों ने शब्द कर प्रातःकाल की सूचना दी है। अब प्यारे उठेंगे तो हमको विरह से व्याकुल होना पड़ेगा, जिससे शाप दिया। भोजन की तरह गृहस्थ धर्म में भोग का भी समय नियत होने से कुक्कुटों ने शब्द कर प्रातःकाल की सूचना दी, जिसमें कुक्कुटों ने कौनसा दोष किया, जो उनको शाप दिया। उनका दोष यह हुआ कि इनके शब्दों से माधव की स्त्रियों को विरह दुःख सहना पड़ा। इन पत्नियों ने समझा कि श्रीकृष्ण लक्ष्मीजी के पति हैं, अब हमसे पृथक् होते ही लक्ष्मी से सम्बन्ध होगा। हमको विरहाग्नि में जलना पड़ेगा। जिसका कारण कुक्कुटों की ध्वनि है, यही दोष कुक्कुटों का है, अतः उनको शाप दिया। अपने को जो फल मिल रहा है, वह यदि दूसरे को मिले और उसके मिलने में जो साधन होगा, उससे द्वेष होना उचित है, यों और भगवत्कृत धर्म सात्विकों के निरोध के परायण होने से जो उससे सम्बन्धित होते हैं, उनका निरोध इच्छा मात्र से ही सिद्ध हो जाता, इसलिए कुक्कुटों को शाप देना योग्य है ॥१॥

आभास—ननु कुक्कुटादयो वा किमिति भगवदनभिप्रेतं कुर्वन्तीत्याशङ्कायामाह **वयांस्यरूरुवन्निति**।

आभासार्थ—कुक्कुटादि भगवान् अनभिप्रेत क्यों करने लगे? इस शङ्का के होने पर कहते हैं—

श्लोक—**वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव बन्दिनः ।**
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥२॥

श्लोकार्थ—मन्दार वन के वायु से आनन्दित भ्रमरों के गान करने पर, जगे हुए पक्षी भी बन्दियों की तरह श्रीकृष्ण को जगाने के लिए शब्द करने लगे ॥२॥

सुबोधिनी—वयसामपि पक्षिणां भगवल्लावण्यामृतप्राप्तिरभीष्टेति स्वार्थमेते बोधयन्ति। तथा सत्यपराधो भवेदिति शङ्कां वारयितुं दृष्टान्तमाह **बन्दिन इवेति**। तेन प्रबोधने अधिकृता अपि पक्षिण इति सूचितम्। ननु बहिरङ्गा एते भगवदभिप्रायमज्ञात्वा कथं नित्यं बोधयन्तीत्याशङ्कायामाह **गायत्स्वलिष्विति**। ये ह्यन्तरङ्गाः अलयः भगवदभिप्रेतं ज्ञात्वैव गायन्ति। न च स्वभावादेव वयांस्यरूरुवन्नित्याशङ्कनीयम्। यतः अनिद्राणि। तत्रापि निद्राभावः सहेतुक इत्याह **मन्दारवनवायुभिरिति**। आमोदेनाकृष्टचित्तानि देवताधिष्ठानाच्च साक्षाद्भोगेऽप्यशक्तानि। अत आकाङ्क्षाया विद्यमानत्वात् अनिद्राण्येव ॥२॥

व्याख्यार्थ—ये पक्षी भी अपने स्वार्थ के लिए भगवान् को जगाते हैं, इनकी भी इच्छा थी कि कृष्ण जगे तो हम उनके लावण्यामृत का पान करें, यों स्वार्थ के लिए तो करते हैं तो भी अपराध तो होगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'बन्दिन इव' जैसे बन्दीगणों को राजा के जगाने का अधिकार मिला हुआ होता है वैसे इन पक्षियों को भी जगाने का अधिकार था, यह इस दृष्टान्त से सूचित किया है। ये पक्षी तो बहिरङ्ग हैं जब इनको भीतर का अधिकार नहीं है तब भगवदभिप्राय न जानकर कैसे नित्य शब्द कर जगाते हैं? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जो अन्तरङ्ग भ्रमर हैं वे भगवान् के अभिप्राय को जानकर ही जब गाते हैं, जब ये जगते हुए पक्षी भी उनकी गुञ्जार सुन कर शब्द करने लगते हैं न कि स्वतः स्वभाव से पक्षी शब्द करते है। जगने के कारण भ्रमरों की गुञ्जार समझते हैं, कि रात्रि सम्पूर्ण हो गई प्रातः काल हुआ है अतः शब्द करना चाहिये, मन्दार वन की वायु के आमोद से आकृष्ट चित्त होने से ही पक्षियों को नींद न थी, देवता के अधिष्ठान होने से साक्षात् भोग में भी अशक्त थे, अतः आकांक्षा के विद्यमान होने से जगे हुए ही थे ॥२॥

आभास—एतत्सर्वस्त्रीणां न भविष्यतीत्याशङ्क्य मुख्याया रुक्मिण्या अप्येतदित्याह **मुहूर्तमिति**।

आभासार्थ—यह समस्त स्त्रियों को न हुआ होगा ? इस शङ्का को दूर करने के लिये, 'मुहूर्त' श्लोक में कहते हैं रुक्मिणी को भी हुआ—

श्लोक—**मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् ।**
परिरम्भणविश्लेषात्प्रियबाह्वन्तरं गता ॥३॥

श्लोकार्थ—प्यारे के भुजान्तर्गत रुक्मिणी ने, प्यारे से अब विरह होगा, यों जानकर इस उत्तम ब्राह्म मुहूर्त को उत्तम न माना ॥३॥

सुबोधिनी—तं प्रसिद्धं ब्रह्मसम्बन्धिनम् । तुशब्देनान्यथापक्षं व्यावर्तयति । ननु लक्ष्म्या अवतारः कथमेवमवददित्याह **वैदर्भीति** । दर्भाभावेन कर्मराहित्यमुक्तम् । अतिशोभनमपि सर्वोद्बोधकत्वात्सर्वपुरुषार्थसाधकत्वाच्च । तथापि **नामृष्यत्** । तत्र हेतुः फलानुभव इत्याह **प्रियबाह्वन्तरं गतेति** । तादृश्याः परिरम्भणविश्लेषः अनङ्गीकारे हेतुः ॥३॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाले उस सुन्दर समय को 'तु' शब्द से अन्यथा पक्ष का निवारण करते हैं, रुक्मिणी लक्ष्मी का अवतार है वह यों कैसे कहती है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि लक्ष्मी का अवतार होते हुए भी 'वैदर्भी' है अर्थात् विदर्भ देश में उत्पन्न हुई है, उस देश में कर्म की मुख्य वस्तु दर्भों का अभाव होता है जिससे रुक्मिणी में कर्म निष्ठा का अभाव होने से जो सर्व को जगाने वाला तथा सर्व पुरुषार्थ साधक है ऐसे अति पवित्र सुन्दर समय को भी रुक्मिणी ने सुन्दर न समझा कारण कि प्यारे की भुजाओं के अन्तर्गत हो फल का अनुभव कर रही थी, अब यह समय इस फलानुभव से वञ्चित करेगा, अतः यह उत्तम नहीं है ॥३॥

आभास—एवं सर्वासामनभिप्रेतत्वे तद्वश्यश्चेद्भगवानपि नोत्तिष्ठेदिति तन्निराकरणार्थं भगवत उत्थानपूर्विकाः सर्वाः क्रिया निरूपयति **ब्राह्मे मुहूर्ते**इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यह ब्राह्म मुहूर्त श्रीकृष्ण की सर्व स्त्रियों को अच्छा न लगा, अतः यदि भगवान् स्त्रियों के आधीन होते तो वे भी न उठते, इसका निराकरण करने के लिये भगवान् ने उठकर जो क्रियाएँ की उन सब का 'ब्राह्मे मुहूर्त' श्लोक में निरूपण करते हैं—

श्लोक—**ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।**
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र ने ब्राह्म मुहूर्त में उठकर पहले आचमन किया, फिर प्रसन्न चित्त होकर तम से परे जो आत्मा उसका ध्यान किया ॥४॥

सुबोधिनी—उत्थानं निद्रापगमलीला शय्यातो ना । ततो वार्युपस्पर्शनम् । हस्तादिप्रक्षालनमात्रमिति केचित् । स्नानमित्यपरे । आचमनमात्रमिति सिद्धान्तः । ध्यानस्यापि शुद्ध्यर्थमेव क्रियमाणत्वात् । अन्तःशुद्धिलीलां कृत्वैव बहिःशुद्धिलीला कर्तव्येति, यथाद्यस्नानेन शौचम्, स्नानान्तरेण च धर्मः, तथा ध्यानेऽपि ज्ञातव्यम् । ननु पूर्णो भगवान् बोभूयमानस्वरूपः परमानन्द एव, अन्तःकरणाद्यभावात् कथं प्रणिधानं कृतवानित्याशङ्क्याह **माधव** इति । लक्ष्मीं शक्ति स्वीकरोतीति । मधुवंशे चावतीर्ण इति । यथैषा लीला, तथा ध्यानमपीत्यर्थः । प्रसन्नानि करणानि इन्द्रियाणि यस्येति शुद्धसत्त्वस्य सर्वत्राविर्भावः सूचितः । तत आत्मानमेव दध्यौ । 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्त' इति आत्मातिरिक्तदेवतायाः ध्याननिषेधात् । नन्वात्मनः प्रत्यक्षस्य स्फीतालोकवर्तिघटवत् प्रकाशमानस्य किं ध्यानेनेत्याशङ्क्याह **तमसः परमि**ति । कालस्याप्यग्रे तमस्तिष्ठति, तस्याग्रे भगवान् । स एव तमोगुण इति केचित् । सत्त्वगुणो बहिरावरणमिव ॥४॥

व्याख्यार्थ—शय्या से उठे, अर्थात् निद्रा को तिरोहित करने की लीला की, पश्चात् जल का स्पर्श किया, इन शब्दों का आशय कोई कहते हैं कि भगवान् ने हस्तादि धोये । दूसरे कहते हैं कि प्रथम स्नान किया,वास्तव में सिद्धान्त यह है कि केवल आचमनकिया,ध्यान भी शुद्धि के लिये करना है प्रथम अन्तः शुद्धि लीला कर पश्चात् बाहर की शुद्धि-की लीला करनी चाहिये, जैसे स्नान के पहले शौच, स्नान करने के अनन्तर कर्म, वैसे ध्यान में भी समझना चाहिये ।

भगवान् तो परमानन्द स्वरूप ही हैं अतः उनमें अन्तःकरणादि का अभाव है, फिर ध्यान कैसे किया होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'माधवः' लक्ष्मी शक्ति का इस समय स्वीकार किया है, और मधुवंश में अवतार लिया है, जैसे यह सब लीला है वैसे ध्यान भी लीला ही है, प्रसन्न इन्द्रिय वाले थे, यों कहकर सूचित किया है कि, सर्वत्र शुद्ध सतोगुण का आविर्भाव हुआ हैं, इस कारण से आत्मा का ही ध्यान किया क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त देवता के ध्यान का 'योऽन्यां देवतामुपासत' यह श्रुति निषेध करती है ।

प्रकाशित सूर्य आदि के आगे रखे हुए घट की तरह प्रत्यक्ष प्रकाशमान आत्मा को ध्यान से क्या ? इसका उत्तर देते हैं कि 'तमसः परम्' तम, काल से भी आगे है उससे भी आगे भगवान् हैं । 'स एव तमोगुण' यों कितने ही कहते हैं, सत्त्वगुण बाहर आवरण की तरह है ॥४॥

आभास—सर्वस्यैवात्मत्वात् सर्वोपासकानामात्मोपासकत्वमाशङ्क्य केवलमात्मोपासकत्वसिद्ध्यर्थं आत्मानं विशिनष्टि **एकमि**ति ।

आभासार्थ—सर्व आत्मा हैं तब तो किसी के भी उपासक आत्मा के उपासक होंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिये केवल आत्मोपासकत्व की सिद्धि के लिये 'एकं स्वयं' श्लोक में आत्मा के गुणों का वर्णन कर स्वरूप ज्ञान कराते हैं—

श्लोक—**एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिवृत्तकल्मषम् ।**
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥५॥

श्लोकार्थ—आत्मा कैसा है ? वह बताते हैं कि एक स्वयं प्रकाश, आपके समान दूसरा नहीं है, नित्य एक रस है, अपने स्वरूप में स्थिति से समस्त पापादि को निवृत्त करने वाला है, ब्रह्म जिसका नाम है, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण अपनी शक्तियों से जो-जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी जिसमें निवृत्ति है । ५।।

सुबोधिनी—तदात्मस्वरूपं षड्गुणैश्वर्ययुक्तं ब्रह्मं वेति वक्तुं सप्त विशेषणान्युच्यन्ते । **एकमि**त्यसहायेन ऐश्वर्यमित्युक्तम् । **स्वयंज्योति**रित्यलौकिकवीर्यम् । **अनन्यमि**ति कीर्तिः । **अव्ययमि**ति लक्ष्मीः । **स्वसंस्थया** स्वरूपस्थित्यैव नित्यनिवृत्तानि कल्मषाणि यस्येति ज्ञानम् । **ब्रह्मे**त्याख्या यस्येति प्रापञ्चिकसर्ववैलक्षण्येन वैराग्यम् । धर्मिणमाह 'जन्माद्यस्य यत' इति न्यायेन । अस्य जगतः उद्भवनाशहेतुभिः । उद्भवः सत्त्वम्, अभिवृद्धेस्तद्धेतुकत्वात्, नाशस्तमः, हेतू रजः । एताश्च स्वशक्तय एव । तैर्लक्षिता भावाः सात्त्विकादयोऽन्तःकरणस्य तेषां निर्वृतिः अपगतिः, यत्र भावैः सहितं निर्वृति चेति वा । अनेन प्रपञ्चकर्ता प्रपञ्चरहितश्चेति विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन निरूपितम् । अनेन वा वैराग्यम् । **ब्रह्माख्यमि**ति धर्मी । आत्मत्वेन सर्वत्र भेदनिराकरणार्थं पञ्चभेदनिराकरणार्थं वा **एकपदम्** । प्रमाणा भावाय स्वयंज्योतिष्ट्वम् । अव्ययत्वं अनन्यत्वं भिन्नधर्मनिराकरणाय । ब्रह्मधर्माणां नित्यत्वाय । साङ्ख्यादिमते अब्रह्मधर्मा एव ब्रह्मणि समागत्य गच्छन्तीति तन्निराकरणार्थमेतदवश्यं वक्तव्यम् । स्वरूपस्थितिश्च संसारात्मवदविद्यानिराकरणाय । नित्यपदेन ज्ञानानन्तरनिवृत्तिर्निराकृता । ब्रह्मपदेन सर्वश्रुतिसमन्वयः । सर्वेषां बन्धमोक्षदातृत्वात् विरुद्धधर्माः ।।५।।

व्याख्यार्थ—छ ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त वह आत्म स्वरूप ब्रह्म ही है । यों कहने के लिये आत्मा के सात विशेषण कहे जाते हैं— १- एक है, यों कहकर बताया कि उसको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि स्वयं 'ऐश्वर्य' गुण वाला है । २- 'स्वयं ज्योति' स्वयं ही प्रकाशमान स्वरूप है । इससे आपमें अलौकिक वीर्य गुण है यह सूचित किया है । ३-'अनन्य' है आपके समान गुणवान् कोई अन्य नहीं है इससे 'कीतिगुण' का सूचन किया है । ४-'अव्यय' आपमें कभी भी विकार उत्पन्न ही नहीं होता है नित्य एक रस होने से 'श्री गुण' का सूचन किया है, ५- अपने स्वरूप में स्थिति से ही जिसके कल्मषादि नित्य के लिये निवृत्त हुए हैं । ६ जिसका 'ब्रह्म' नाम है जिससे दिखाया है कि प्रापञ्चिक सर्व पदार्थों से आत्मा विलक्षण है । इससे वैराग्य गुण सूचित किया है, आत्मा के धर्म स्वरूप का वर्णन कर अब धर्मी स्वरूप को कहते हैं,'जन्माद्यस्ययतः' इस सूत्र के न्याय से,इस जगत् की उत्पत्ति[1] में सतोगुण हेतु है, नाश में तमोगुण हेतु है, स्थिति में रजोगुण हेतु है, ये तीन ही शक्तियां अपनी अर्थात् आत्मा की हैं, उन हेतुओं से लक्षित सात्विक आदि भाव अन्तःकरण के हैं । उन भावों की आत्मा में निर्वृत्ति है, अथवा भावों के सहित जो आनन्द है, उससे आत्मायुक्त है, इस प्रकार दोनों पक्ष कहकर सिद्धान्त बताया है कि आत्मा विरुद्ध धर्माश्रयी होने से प्रपञ्चकर्ता और प्रपञ्च रहित भी है अतः धर्मी स्वरूप का निरूपण किया है, अथवा इससे[2] वैराग्य कहा है, ब्रह्म नाम

---

[1] वृद्धि में [2] इस पाठ से वैसे भाव वाले होने से ब्रह्म में प्रपञ्च कर्त्ता पन है 'निर्वृ त्तपन प्रपञ्च राहित्य कहा है—

से धर्मी का सूचन किया है आत्मपन से सर्वत्र भेद का निराकरण किया है । 'एक' पद कह कर पांच धर्मों के भेद का निराकरण किया है । प्रमाण के अभाव के लिये 'स्वयं' ज्योतिपन' कहा है । 'अनन्यपन' भिन्न धर्मों के निराकरण के लिए कहा हैं । 'अव्यय' पद से ब्रह्म धर्मों को नित्यता दिखाई है । साङ्ख्यादिकों के मत में जो ब्रह्म के धर्म नहीं हैं, वे भी ब्रह्म में आ जाते हैं, इस सिद्धान्त के निराकरण के लिये यह 'अव्यय' विशेषण अवश्य कहना चाहिए । 'स्वरूप स्थिति' इसलिए कही है, जो उससे संसारी आत्माओं की अविद्या नष्ट होती है । 'नित्य' पद से ज्ञान के अनन्तर निवृत्ति का निराकरण किया है । 'ब्रह्म' पद से सर्व श्रुतियों का समन्वय किया है, सब को बन्ध मोक्ष देने वाले होने से आप विरुद्ध धर्म वाले कहे गए हैं ।।५।।

आभास—एवं भगवत्त्वं भावयित्वा तत्कार्यं च स्वनिष्ठः सन्नपि तां निष्ठां परित्यज्य बहिर्धर्मानिव अन्तस्तथाभूतोऽपि भिन्नप्रक्रमेण कृतवानित्याह **अथेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवत् पन को धारण कर उसका कार्य स्वनिष्ठ होते हुए भी उस निष्ठा का त्याग कर भीतर वैसे होते हुए भी भिन्न प्रक्रम से लोक शिक्षार्थ धर्मों को ही करने लगे, जिनका वर्णन 'अथाप्लुतो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।**
चकार संध्योपगमादि सत्कृतो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ।।६।।

श्लोकार्थ--जिस स्वरूप का ध्यान करते थे, वह स्वरूप स्वयं ही हैं, तो भी लोक शिक्षा के लिए ही धर्मों को बाहर कर दिखलाते हैं । पवित्र जल में स्नान कर शुद्ध हो वस्त्र धारण किया । अनन्तर मौन हो सन्ध्यावन्दनादि क्रिया की, पश्चात् अग्निहोत्र होम किया, शान्त होकर जप करने लगे ।।६।।

सुबोधिनी—**अम्भसि आप्लुत** इति । गोमत्यादाववगाह्य स्नानम्, नतूद्धृतजलैः । **अमले वाससी परिधायेति** विशेषणविशेष्ययोर्दूरे समन्वयः । स्नानेऽपि रात्रिवासःपरित्यागेनामले वाससी परिधाय पुनः स्नात्वामलवाससोः परिधानमाह । **यथाविधी**ति स्नानपरिधानयोः क्रियाकलापे चान्वेति । क्रियाकलापमेव विशेषेणाह **संध्योपगमादी**ति । **वाग्यत** इति सन्ध्यायां मौनं कर्माङ्गत्वेनैव कृतवानिति ज्ञापयति । अर्घ्यदानान्ता सन्ध्या, ततोऽग्निहोत्रहोमः, ततो ब्रह्मजपः गायत्रीमन्त्रजपः । **सत्कृत** इति तिलकावश्यकभूषणादिपरिधानमुक्तम् । एवमेव कृतः धर्मो भवतीति क्रमविधाने निरूपिते । अरुणकरग्रासे स्नानम्, करग्रासात्पूर्वं ध्यानम्, अरुणकरग्रासे ... ततोऽग्निहोत्रम्, ततो ततः सन्ध्या अर्घ्यान्ता, ततोऽग्निहोत्रम्, ततो जपः सूर्योदयावधि ।।६।।

व्याख्यार्थ—गोमती आदि नदियों में डुबकी मारकर स्नान करना चाहिये, न कि नदी से जल बाहर निकाल उससे स्नान करना चाहिये, अतः नदी में भीतर जाकर डुबकी लगा के स्नान करने के अनन्तर, शुद्ध हो वस्त्र धारण कर लिए, यहां 'अमले' विशेषण 'वाससी' विशेष्य का है, यों तो 'अमले'

और 'अम्भसि' साथ में है किन्तु ,अमले पद' 'अम्भसि का विशेषण नहीं है इसलिए आचार्य श्री ने विशेषण विशेष्ययोर्दूरे समन्वयः' पंक्ति कहकर बता दिया है कि दूर होते हुए भी 'अमले' विशेषण का 'वाससी' विशेष्य से समन्वय है, स्नान करते समय भी रात्रि में पहने हुए वस्त्रों का त्याग कर शुद्ध वस्त्र पहनने चाहिये। स्नान के बाद पुनः अन्य शुद्ध वस्त्र धारण करने चाहिये अतः प्रभु ने लोक शिक्षार्थ यों ही किया। रात्रि के पहने हुए वस्त्रों को त्याग, धुले हुए वस्त्रों को पहन स्नान किया स्नानानन्तर शुद्ध हो, वस्त्र धारण कर सर्व सन्ध्यावन्दनादि क्रिया कलाप करते समय मौन रखा, क्योंकि मौन कर्माङ्ग है,अन्यथा अङ्ग विच्छिन्न से कर्मसाङ्ग सिद्ध नहीं होता है। अर्घ्यदान तक सन्ध्या है, पश्चात् 'अग्निहोत्र' होम है वह किया, बाद में गायत्रीमन्त्र का जप किया, जप के अनन्तर तिलक आदि आवश्यक भूषणादि से अपने को सुसज्जित किया, इस प्रकार ही किया हुआ 'धर्म' धर्म होता है यों क्रिया कर कर्म करने का क्रम और विधान दोनों बताये। अरुणों की किरणों के ग्रास होने से प्रथम 'ध्यान' करना चाहिए,उनके ग्रास होने के बाद स्नान करना उचित है पश्चात् अर्घ्य पर्यन्त सन्ध्या करनी चाहिए, अनन्तर 'अग्निहोत्र' कर जब तक सूर्योदय हो तब तक जप करना चाहिये ।।६।।

आभास—उदिते सूर्ये तूपस्थानम्, तदाह **उपस्थायार्कमुद्यन्तमिति** ।

आभासार्थ—सूर्य के उदय होने पर 'उपस्थान' करना चाहिए, यह 'उपस्थायार्कमुद्यन्तं श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।**
देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ।।७।।

श्लोकार्थ—उदय हुए सूर्य का उपस्थान कर आत्मवान् भगवान् ने अपनी कलारूप देव, ऋषि, पितर, वृद्ध और ब्राह्मणों का पूजन किया ।।७।।

सुबोधिनी—ततो देवर्षिपितृतर्पणमाह **आत्मनः कलास्तर्पयित्वेति** । 'ऋषयो मनवो देवा' इति वाक्यात् भगवत्कला एव । यथा अवयवादीनां पुष्ट्यर्थमवयविना यत्नः क्रियते, एवं कलानां पोषार्थं यत्नः, न तूपास्यत्वेनेति ज्ञापनार्थं **कलापदम्** । 'ततः प्रभृति पूज्यन्त' इति वाक्यात् लोकशिक्षापरत्वेनापि सिध्यति । **सप्तम** इति पाठे सप्तमो भगवान् षड्विधं देशादिनिरूपितं धर्मं कृतवानिति सूचितम् । कला एव गणयति **देवानृषीन्पितॄनिति** । वृद्धान् स्वजातीयान् क्षत्रियान्, विप्रान् सर्वानेव । एतेषामभ्यर्चनं गन्धादिभिः । **आत्मवानिति** । निष्कामत्वमुक्तम्। कामनयाप्येतेषां पूजनसम्भवात् । अग्रेऽप्येतद्विशेषणं सम्बध्यते ।।७।।

व्याख्यार्थ—'आत्मनः कलास्तर्पयित्वा' इससे देवर्षि पितृ[1] तर्पण कहते हैं– 'ऋषयो मनवो देवाः' इस शास्त्र वाक्यानुसार ये भगवान् की कला ही हैं जैसे अवयवी अवयव आदि की पुष्टि के लिए यत्न करता है प्रभु का भी कलाओं के पुष्ट करने के लिए यह यत्न है। 'कला' पद देकर यह बताया है, कि यह मेरा कर्म इनकी उपासना नहीं है, किन्तु इनका पोषण है क्योंकि मैं अवयवी कलाधारी हूँ अतः मुझे अपनी कलाओं का पोषण करना आवश्यक है। 'ततः प्रभृति पूज्यते' इस वाक्य से यह भी सूचित किया है, कि यह कर्म लोक शिक्षार्थ है यों भी सिद्ध होता है, यदि 'सप्तम' यों पाठ माना जाय तो जिसका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि सातवां धर्मी भगवान् है, जिन्होंने देशादि निरूपित षड्विध धर्म किए, इस 'सप्तम' पद से इस प्रकार के अर्थ को सूचित किया है, भगवत्कलाओं को गिनते हैं। देवान्, ऋषीन्, पितॄन्, वृद्धान् (स्वजातीयान् क्षत्रियान्) विप्रान् सर्वानेव, इनका गन्ध आदि से पूजन किया, 'आत्मवान्'पद से भगवान् की निष्कामता प्रकट की है अर्थात् यह सर्व कर्म कामना से भी होता है, कामना रहित होकर किया है, यों कहने का कारण यह है कि इनका पूजन कामना से भी होता है, इस विशेषण का आगे भी सम्बन्ध है ।।७।।

आभास—ततो गोदानस्य नित्यत्वात्प्रत्येकापेक्षया समुदायस्योत्कृष्टत्वात् समुदाये अलङ्करणं न सम्भवतीति विचार्य अलङ्कारगुणान्निरूपयन् दानमाह **धेनूनामिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—गौ का दान प्रति दिन करना चाहिए, एक गौ के दान की बजाय समुदाय का दान उत्तम है, किन्तु समुदाय दान में शृङ्गार कराना (बनाना) कठिन है, यह विचार कर अलङ्कारों के गुणों का निरूपण करते हुए 'धेनूनां' 'ददौ' इन दो श्लोकों से दान का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।**
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ।।८।।
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह ।
अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्धं बद्धं दिने दिने ।।९।।

श्लोकार्थ—सुवर्ण के शृङ्गों वाली, शान्त स्वभाव वाली, मुक्तामालाओं वाली, दूध वाली, प्रथम ही ब्याही हुई, वत्सों सहित, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, रूपे के खुरों वाली गौ, जो भी गोष्ट में बँधी हुई थीं, वे सब नित्य अलङ्कृत ब्राह्मणों को दान में देते थे और साथ में रेशमी वस्त्र और तिल भी दान में देते थे ।।८-९।।

सुबोधिनी—आदौ गावः सवत्साः दोग्ध्र्यः । एतादृश एव समुदाय इति पशूनां भाग्यातिशयो निरूपितः, न हि द्वारकायां कश्चिद्विसदृशादृष्टो भवतीति ज्ञापनार्थमुक्तम् । अन्यथा धेनूनां बद्धता न सम्भवेत् । रुक्ममये सुवर्णमये शृङ्गे यासाम् । रौप्यमयाः अङ्घ्रयो यासां प्रत्येकम् । सुष्ठु वाससी प्रत्येकं यासाम् । **साध्व्यः** शान्तस्वभावाः । पयस्विन्यः बहुदोग्ध्र्यः, गृष्ट्यः सकृत्प्रसूताः । सर्वासां जीवद्वत्सत्वाय सवत्सानामित्युक्तम् । मौक्तिकानां स्रजो माला यासाम् । पूर्वार्धविशेषणमेतत् । एतादृशीः गाः ददौ। दानक्रियाणां समुदाये बद्धसङ्ख्या सम्बध्यत इति

---

[1] अग्निष्वात्तादि सामान्य पितरों का

केचित् । समुदाय एव दानमित्यपरे । क्षौमाजिनतिलानां सहभावः शास्त्रीयः । तदेकमेव विशिष्टं दानं भवति । **अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्य** इति देयसमसङ्ख्या ब्राह्मणानां निरूपिता । गोसमसङ्ख्या बद्धसमसङ्ख्या वा । **बद्धं बद्धमित्येव** पाठः । **बद्वं बद्वमिति** वैदिकः शब्दः, स नात्रानुसन्धेयः । तत्रापि बद्वशब्दो बद्धपर्यायः । चतुरशीत्यग्रसहस्राणि त्रयोदशेति केचित् । **तन्नवमे विचारितं निराकृतं च** । तस्माद्गोष्ठपर्यायो बद्धशब्दः । अत्र च विशेषसङ्ख्या उपयोगाभावः । अयुतलक्षादीनामेव नित्यदाने उपयोगाच्च । **दिने दिने**, न तु गार्हस्थ्ये । नापि वर्षे प्रतिगृहमिति । उपक्रमे बहुवचनस्योक्तत्वादध्यवसेयम् ॥८-९॥

व्याख्यार्थ—गोष्ठ में जो गौ थी, वे सब बछड़ों वाली तथा दूध देने वाली थीं, इससे पशुओं के विशेष भाग्य का निरूपण किया है तथा इसलिए भी यों कहा है कि द्वारका में कभी भी कोई अनुचित अदृष्ट नहीं होता है यों न कहते तो गौओं की बद्धता[1] नहीं बन सकती, गौओं के गुणों का वर्णन करते हैं, गौओं के सोने के सींग थे, चान्दी के खुर थे, सुन्दर वस्त्र थे, और उनका स्वभाव शान्त था, उनमें बहुत दूध था एवं वे पहली बार ही ब्याही थी, सबके बछड़े जीते थे इसलिए उनको बछड़ों वाली कहा हैं, गले में मोतियों की माला पड़ी थी, यह पूर्वार्ध का विशेषण है, ऐसी गौ भगवान् ने दान में दी, कोई कहते हैं कि दान क्रियाओं के समुदाय से बद्ध संख्या का सम्बन्ध है, दूसरों का कहना है कि समुदाय का ही दान है, पट वस्त्र और तिलों का दान गौ दान के साथ करना शास्त्रीय पद्धति है । तब एक ही उत्तम दान हो जाता है, केवल अलङ्कृत ब्राह्मणों को कहा, उनकी सङ्ख्या न कही, जिसका आशय है गौओं के समान ब्राह्मणों की भी सङ्ख्या थी, गौ के समान सङ्ख्या अथवा बद्ध समान सङ्ख्या ब्राह्मणों की कही, 'बद्धं बद्धं' यह ही पाठ है 'बद्वं बद्वं' यह वैदिक शब्द है , वह यहां नहीं लेना चाहिए, वहां (वेद में) भी 'बद्व' शब्द 'बद्ध' पर्याय है, कोई कहते हैं कि तेरह सहस्र ८४ गौ दान की है जिसका नवम में विचार कर निराकरण किया है, इससे बद्ध गोष्ठ वाचक है, यहां विशेष सङ्ख्या कही है, इसके उपयोग का अभाव है कारण कि नित्य दान में अयुत लक्षादि के दान का उपयोग है, प्रति दिन उपयोग है, गार्हस्थ्य में नहीं है तथा प्रत्येक गृह वर्ष में भी नहीं आ सके, अतः उपक्रम में बहुवचन कहने से यों ध्यान में लेना चाहिये ॥८-९॥

आभास—ततो नमस्कारादिकमाह **गोविप्रेति** ।

आभासार्थ—दानानान्तर प्रणाम किया, जिसका वर्णन 'गो विप्र देवता' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः ।**
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध और भूतों को अपने से उत्पन्न विभूति जानकर नमस्कार की, अनन्तर मङ्गल पदार्थों को स्पर्श किया ॥१०॥

---

[1] गोष्ठ में वे ही गौ बन्धी रहती है जो बच्छड़ों वाली हो और दूध देती हो,

सुबोधिनी—गावो हविर्विप्रा मन्त्राः देवताश्च त्रितयं मिलितं यागो भवतीति क्रमो निरूपितः । वृद्धाः सर्वे सभासदः । गुरवः कर्मोपदेष्टारः । सर्वश इति शिष्यप्रशिष्यादिसहितान् । एतेषां नमस्कारे हीनता भवतीति शङ्कां निवारयति आत्मसम्भूतीरिति । एते सर्वे सम्भूतिरूपाः । यथा स्वयं स्वपादक्षालनं करोति, तद्वदित्यर्थः । गोहिरण्यादीनि ततो मङ्गलानि सम्यगस्पृशत् । मङ्गलानि ॥१०॥

व्याख्यार्थ—गौ हवि और विप्र तथा मन्त्र एवं देवता, ये तीनों मिल याग होता है, इस प्रकार क्रम का निरूपण किया है, सब सभासद वृद्ध हैं, कर्म के उपदेष्टा गुरु है, सब कहने से शिष्य प्राशिष्यों के साथ उनको नमस्कार कर अनन्तर मङ्गल[1] पदार्थों का स्पर्श किया, इनको नमस्कार करने से हीनता होती है, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि ये सब आपकी ही सम्भूति रूप थे, अतः जैसे अपने पाद प्रक्षालन से हीनता नहीं होती है क्योंकि पाद अपनी सम्भूति है, उसी तरह ये भी श्री कृष्ण की सम्भूति हैं जिससे हीनता नहीं ॥१०॥

आभास—धर्मपरिष्कारमुक्त्वा धर्मिपरिष्कारमाह **आत्मानं भूषयामासेति** ।

आभासार्थ—धर्म की शोभा कहकर अब 'आत्मानं भूषयामास' श्लोक में धर्मी की शोभा वर्णन करते हैं—

श्लोक—**आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।**
वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ॥११॥

श्लोकार्थ—नर लोक[2] के विशेष भूषण रूप अपनी आत्मा को वस्त्र, आभूषण, दिव्य गन्ध आदि से भूषित किया ॥११॥

सुबोधिनी—स्वस्य सच्चिदानन्दं रूपं देहं भूषयतीति यदा व्यावर्तयितुनात्मपदम्, किन्त्वात्मानमेव । अध्यासादात्मपदं शरीरेऽपि वर्तते जीवेषु, न तु भगवतीति । भूषणस्य प्रयोजनमाह नरलोकविभूषणमिति । न हि स्वार्थमलङ्करणं करोति । निरतिशयानन्दत्वात् । किन्तु जगतो भूषणं तद्रूपं जगच्च लौकिकोत्कर्षमपेक्षते । अतो यथा भूषणसंस्कारे भूषितः संस्कृतो भवति, एवं जगद्भगवता संस्कृतमित्यर्थः । पूर्वपरिधानीयवस्त्राद्यपेक्षया भिन्नान्येतानीति ज्ञापयितुं भूषणकरणानां नामतो निरूपणमाह वासोभिरिति । कञ्चुकोष्णीषादिभिः भूषणरूपैः स्वीयैः असाधारणैः मकरकुण्डलादिभिश्च । दिव्यो गन्धो यस्य एतानि अनुलेपनानि बहुविधानि । ततः सर्वाभरणभूषितः ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने वस्त्र आभूषण दिव्य गन्ध आदि के अनुलेपन से आत्मा को ही भूषित

---

[1] गौ, सुवर्ण आदि मङ्गल पदार्थ हैं, [2] जगत् के

किया है, न कि देह को, यद्यपि आत्मा शब्द अध्यास से देह के लिये भी दिया जाता है, किन्तु वह जीवों के विषे हैं, न कि भगवान् के विषे होता है, अतः अपने सच्चिदानन्द रूप देह को भूषित करते हैं, इस पक्ष का निवारण किया, जिसके लिए ही 'आत्मानं' शब्द दिया है, भूषित करने का प्रयोजन कहते हैं कि 'नरलोक विभूषणं' अपने लिए शृङ्गार नहीं करते हैं, क्योंकि आप निरतिशय आनन्द रूप हैं ही,उनको भूषित होकर आनन्द प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है,किन्तु उनका रूप जो जगत् रूप है वह लौकिक में अपना उत्कर्ष चाहता है,अतः जैसे संस्कार किया हुआ आभूषण विशेष शोभित होता है वैसे ही यह जगत् भी भगवान् ने संस्कृत अर्थात् भूषित वा शोभित किया, प्रथम पहने हुए वस्त्रादि की अपेक्षा से ये वस्त्रादि भिन्न हैं यों जताने के लिये उनके नाम का निरूपण करते हैं, कञ्चुक, उष्णीष आदि वस्त्र और अपने असाधारण मकर कुण्डलादि आभूषण धारण किए, तथा दिव्य गन्धों का अनुलेपन आदि लगाये, इस तरह सर्व आभरणों से आत्मा को भूषित किया ॥११॥

श्लोक—**अवेक्ष्याज्यं तथादर्शं गोवृषद्विजदेवताः ।**
कामगं सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥१२ ।

श्लोकार्थ—घृत को देख तथा आरसी देख, गौ, बैल और देवता के दर्शन कर, सब नगरी तथा जनाने के सर्व वर्ण के लोगों के मनोरथों को गुप्त प्रकार से पूर्ण कर, को संतोषित कर आप प्रसन्न हुए ॥१२॥

सुबोधिनी—आत्मानं तेजोमयं कर्तुमाज्यावेक्षणं कृतवान् । तेन सर्व एव लोकदृष्ट्या रोगादयो निवृत्ता भवन्ति । ततः कान्तियोगार्थमादर्शं दृष्टवान् । गोवृषद्विजदेवतानां च दर्शनं कृतवान् । अत्र देवा देवालयस्थाः । ततो लौकिकोचितदानमाह कामगमिति । कामं गच्छति पूरयति प्राप्नोतीति वा कामगाः मनोहरा विषयाः, सर्वेषामेकं न भवतीति ज्ञापयितुं सर्ववर्णानां मुख्यानां गौणानां चेत्युक्तम् । पौरान्तःपुरचारिणामिति । लौकिकप्राधान्यार्थमुक्तम् । साक्षात्तेषां दानं तेषामभीष्टं न भवतीति गोप्यार्थं प्रदाप्येत्युक्तम् । कामैः प्रकृतीः । मन्त्रिणः अन्तःपुरस्त्रियो वा । प्रतोष्य ततस्तत्कृतां पूजां प्रत्यनन्दत ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अपने को तेजोमय करने के लिये घृत का दर्शन किया, जिससे लोक दृष्टि द्वारा सब ही रोग निवृत होते हैं, अनन्तर कान्ति के लिए आरसी देखी, गौ, बैल और देवालय में स्थित देवों के दर्शन किये, पश्चात् लौकिक में उचित दान किया जिसका वर्णन करते हैं, सबको एक विषय (वस्तु) इच्छित नहीं होती है, यह जताने के लिए गौण और मुख्य सब तरह के नगरी तथा अन्तःपुर में फिरने वालों को दान दिया, किन्तु प्रत्यक्ष मिला हुआ दान उनको अभीष्ट नहीं होता है, अतः गुप्त दिया अर्थात् अन्य द्वारा दिया, इसलिए 'प्रदाप्य' पद दिया है, 'प्रकृतीः' पद से मन्त्री और अन्तःपुर की स्त्रियाँ कही है, उनके रुच्यनुसार देकर उनको प्रसन्न किया उनका जो दानादि से सत्कार किया, उससे स्वयं भी प्रसन्न हुए ॥१२॥

आभास—ततो भोगं वक्तुं मुख्यत्वात्ताम्बूलादिस्वीकारमाह **संविभज्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् भोग को कहने के लिए मुख्यपन से ताम्बूलादि के स्वीकार का 'संविभज्य' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—**संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ।**
सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् । १३ ।

श्लोकार्थ—माला, ताम्बूल तथा अनुलेपन आदि ब्राह्मणों को, सुहृदों को, मन्त्रियों को और स्त्रियों को देकर अनन्तर अपने उपयोग में लिया ॥१३॥

सुबोधिनी—अग्रतः प्रथमं विप्रान् संविभज्य विप्रेभ्यो दत्त्वा स्रक्ताम्बूलानुलेपनानि । सर्वैः सर्वेषां संविभागः । लौकिकदाने सुहृदः प्रथमाः, प्रकृतयः मन्त्रिणः, ततो दाराः । यद्यपि प्रथमं स्वस्योपयोगः, तथापि संविभागः सर्वेषां प्रथम एव । भगवदुपभोगानन्तरं पदार्थोत्पत्त्यसम्भवात् । अतः पश्चात्स्वयमुपायुङ्क्त । शिष्टस्य सेवकगामित्वात् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—प्रथम ब्राह्मणों को माला, ताम्बूल और अनुलेपन आदि दिया, अनन्तर सबको सब पदार्थों का विभागानुसार दिया, लौकिक प्रकार में देने के समय पहले सुहृदों को, बाद में मन्त्री उनके पश्चात् स्त्रियों को देना चाहिए, यों ही किया, यद्यपि प्रथम अपने को उपयोग में लेना चाहिए था, किन्तु यों नहीं किया, कारण कि भगवान् के उपभोग के अनन्तर पदार्थ शेष नहीं रह सकता है जो किसी को दिया जा सके,अतः प्रथम ही सबको पूरे हिस्से से क्रमानुसार देकर पश्चात् आपने ग्रहण किया, शिष्ट पुरुष सदैव सेवकों को देकर अथवा भोजन कराकर बाद में स्वयं लेते हैं जिससे वे (सेवकादि) प्रसन्न रहते हैं ॥१३॥

आभास—ततस्त्रैलोक्यरक्षार्थमुद्यतस्य सुधर्मायां गमनं निरूप्यते **तावत्सूत** इति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार आह्निकादि सर्व प्रातःचर्या कर त्रैलोक्य की रक्षा के लिए सुधर्मा सभा में जाने के लिए तैयार हुए, जिसका वर्णन 'तावत्सूत' श्लोक से ४ श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—**तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।**
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥१४॥
गृहीत्वा पाणिना पाणिं सारथेस्तमथारुहत् ।
सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥१५॥
ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः ।
कृच्छ्राद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन्मनः ॥१६॥

सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।
प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः ॥१७॥

श्लोकार्थ—इतने में दारुक सारथी सुग्रीव आदि घोड़ों से जोड़े हुए रथ को लाकर प्रणाम कर सामने खड़ा हुआ ॥१४।

अपने हाथ से सारथी का हाथ पकड़ सात्यकि और उद्धवजी के साथ जैसे सूर्य उदयाचल पर्वत पर चढ़ता है, वैसे आप रथ पर चढ़े ॥१५॥

अन्तःपुर की स्त्रियाँ जो बड़े कष्ट से भगवान् को छोड़ सकी थीं, वे लाज भरी प्रेम युक्त दृष्टियों से देख रही थीं, मुस्कराते हुए भगवान् उनका मन हरण कर बाहर निकले ॥१६॥

सब यादवों से वेष्टित प्रभु सुधर्मा सभा में पधारे, जिस सभा में बैठे हुए सभ्यों को, क्षुधा और प्यास आदि छ ऊर्मियाँ नहीं थीं ॥१७॥

सुबोधिनी—परमाद्भुतमिति । वैकुण्ठात्समागतरथव्युदासः, किन्तु धर्ममयो रथः, स तु सङ्कर्षणोपकारी । अश्वाः सूतश्च त एवेत्याह **सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तमिति** । अनिरुद्धप्राधान्यात्**सुग्रीवाद्यै**रित्युक्तम् । प्रणामः पूर्वस्माद्वैशिष्ट्यद्योतकः, अग्रे तूष्णीमवस्थानं कार्यस्य लौकिकत्वाभावाय । ततः अप्रेरितोऽपि भगवान् सारथेः पाणिं पाणिना गृहीत्वा रथमारुहत् । तस्य क्रियाशक्तिः स्वक्रियाशक्त्या निबद्धा, अन्यथा धर्मप्रेरकोऽन्यथा प्रेरयेत् । पूर्वाविशिष्टत्वात् । **तं रथमारुहदिति** । **भगवदारूढो धर्मः सर्वत्र सुस्थिरो भवतीति तमित्युक्तम्** । रक्षारूपा क्रियाशक्तिः । भक्तिश्च साधनत्वे धर्मे ग्राह्येति **सात्यक्युद्धवसंयुक्त** इत्युक्तम् । उद्धवो भक्तिः अधिकारिणामेव प्रकाशको भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पूर्वाद्रिमिव भास्कर** इति । प्रातः सर्वेषामेव प्रबोधो भवति, न केवलमधिकारिणाम् । ततो धर्मे कामनिवृत्तिमाशङ्क्य तन्निराकरणार्थमाह । **ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणामिति** । **स्त्रीणामिति** । षष्ठीबहुवचनं न केवलं दर्शनमात्रम्, किन्तु तासां सम्बन्ध्यपि भगवानिति द्योतयति । ज्ञानद्वारा सम्बन्धः । आन्तरः बाह्यो निवर्तक इति ज्ञाते त्रैविध्यमाह **सव्रीडप्रेमवीक्षितैरिति** । व्रीडा तामसी, प्रेम राजसम्, वीक्षितं सात्त्विकमिति । ततो भावेन बद्धः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति न्यायेन । तासामपेक्षया स्वच्छन्दं धर्मपरता न भविष्यतीति तासां निर्बन्धाभावमाह **कृच्छ्राद्विसृष्ट** इति । कष्टेन ताभिर्विसृष्टः, धर्मानुरोधान्निगच्छत्विति विचारितः । ततो निरगात् । **जातहास** इति । तासामपि धर्मानुरोधमालक्ष्य हास्यम् । न हि **स्त्रीणां** कामादुपरतिरस्ति । तथापि धर्मपरताप्यासां मा भूदिति ज्ञापनार्थं धर्मपरत्वम् । **हरन्मन** इति निरोधार्थम् । अन्यथा लोके धर्मे वा चित्तमासक्तं भवेत् । भगवान् विसृष्ट इति । **सुधर्माख्यामिति** । सुष्ठु धर्मो यत्रेति नाम्नैव धर्मपरत्वं सिध्यति । सभा स्वभावतोऽपि धर्मनिर्णयस्थानम् । **सर्ववृष्णिभिः परिवारित** इत्येकमत्यम् । तस्यामाधिदैविकधर्मत्वज्ञापनार्थम् । कालधर्मातिक्रममाह **यन्निविष्टानामिति** । यत्रोपविष्टानां षडूर्मयो देहादिधर्माः आवश्यका अपि न सन्ति, तत्रानावश्यकाः सुतरामेव न भविष्यन्तीति अर्थादुक्तम् ॥१४-१७॥

व्याख्यार्थ—रथ परम अद्भुत है, यों कहकर यह सूचित किया है कि यह रथ वैकुण्ठ से नहीं आया है किन्तु 'धर्ममय' रथ है। वह सङ्कर्षण का उपकारी है क्योंकि सङ्कर्षण के कार्य में सैन्याश्व की प्रधानता है इसलिए वे आदि में कहे हैं। अनिरुद्ध की प्रधानता से सुग्रीव आदि कहे हैं, सुग्रीव का भावार्थ है कि यहाँ रज और तमोगुण का अभाव होने से यह रथ धर्मोपयोगी है। वह तो सैन्य की तरह संहारक होने से अधर्म के संहार करने में उपयोगी है जिससे धर्मोपयोगी है। दारुक ने आकर प्रणाम किया यह प्रथम से विशिष्टता प्रकट करता है, आगे मौन रहना इसलिये है, कि यह कार्य लौकिक नहीं है। पश्चात् बिना कहे हुए भी भगवान् सारथी के हस्त को अपने हाथ से पकड़कर रथ में चढ़े, उसकी क्रिया शक्ति अपनी क्रिया शक्ति से जोड़ली, यों न करते तो धर्म के प्रेरक अन्य प्रकार प्रेरणा करते, तो संहारार्थ रथारोहण जो किया उसमें प्रतिबन्ध हो जाता, क्योंकि पूर्वाविशिष्ट हो जाने से, भगवदारूढ धर्म सर्वत्र अच्छी तरह स्थिर हो जाता है, इसलिए 'तं' शब्द दिया है, अर्थात् भगवान् धर्ममय रथ पर आरूढ़ हुए हैं अतः धर्म ही स्थिर होगा अधर्म का नाश होगा। रक्षारूप क्रिया शक्ति है, धर्म में भक्ति साधनपन में ग्रहण करने योग्य है, इसलिए सात्यकि और उद्धवजी को साथ में लिए है। उद्धव भक्ति रूपा हे, अधिकारियों का ही प्रकाशक होगा? इस प्रकार की शङ्का को दृष्टान्त द्वारा मिटा देते हैं, कि जैसे प्रातःकाल में जब सूर्य उदय होता है तब सब ही जगते हैं, न कि केवल अधिकारी, अर्थात् सब उजाला देख अपने२ कार्य में तत्पर होते हैं, धर्म में काम की निवृत्ति होगी, ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिए 'ईक्षितोऽन्तःपुर स्त्रीणां' कहा है, यहां 'स्त्रीणां' षष्ठी विभक्ति कहकर सूचित किया है कि स्त्रियां केवल देख न रही थी किन्तु भगवान् उनके सम्बन्धी भी थे, ज्ञान द्वारा सम्बन्ध है, आन्तर, बाह्य और निवर्त्तक, इस तरह ज्ञान में त्रैविध्य दिखलाया है, 'सव्रीड प्रेम वीक्षितैः' व्रीडा (लज्जा) तामसी है, प्रेम राजस है, देखना सात्विक है, ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार भाव से बद्ध है, उनकी अपेक्षा से स्वच्छन्द धर्म परता न होगी, इसलिए उनके निर्बन्ध का अभाव कहते हैं कि उन्होंने भगवान् को बहुत कष्ट से जाने दिया है, यों तो जाने नहीं देती किन्तु विचार किया कि धर्म के लिए पधार रहे हैं अतः भले जावें, पश्चात् पधारते हुए प्रभु हँसते हुए जाने लगे, क्योंकि भगवान् को उनका धर्मानुरोध देखकर हँसी आई, स्त्रियों की काम से शान्ति नहीं है, तो भी वे धर्म परायण भी न होनी चाहिए अतः भगवान् ने हँसकर इनके मन का निरोध करने के लिए अपनी तरफ खींच लिया, यदि भगवान् मन को अपनी तरफ खींच अपने में आसक्त न करते तो ये लोक वा धर्म में आसक्त हो जाती भगवान् इनसे बाहर से अलग हो सुधर्मा सभा में पधारे, सभा के नाम से ही प्रसिद्ध होता है कि यहां उत्तम धर्म है, 'सभा' स्वभाव से भी धर्म निर्णय का स्थान है। सब यादव साथ में थे जिससे दिखाया है, सबकी एक ही राय है, उस सभा में आधिदैविक धर्म पन जताने के लिए कहा है कि वहां काल के धर्म बाधा नहीं कर सकते हैं। सभा में बैठे हुओं को देह धर्म, भूख प्यास आदि छ ऊर्मियां, हैं ही नहीं जब ये आवश्यक भी नहीं है तो अनावश्यक तो सुतराम् ही नहीं होंगे ॥१७॥

आभास—एवं सुधर्मामाहात्म्यमुक्त्वा तत्रोपवेशने धर्म एव केवल इत्याशङ्क्य सच निर्बन्धात्मक इति सुखोपवेशनमाह **तत्रोपविष्ट** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सुधर्मा सभा के माहात्म्य का वर्णन कर वहां बैठने में केवल धर्म ही है यों शङ्का कर उत्तर देते हैं कि वह तो निर्बन्धात्मक होता है यों कहकर तत्रोपविष्ट' श्लोक से मुख से विराजने का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तत्रोपविष्टः परमासने विभुर्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।**
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ।।१८।।

श्लोकार्थ—वहाँ उत्तम आसन पर विराजमान यदूत्तम भगवान्, अपनी कान्ति से दिशाओं का प्रकाशमान करते हुए पुरुष सिंह यादवों के साथ यों सुशोभित लगते थे, जैसे आकाश में तारागण के साथ चन्द्रमा शोभायमान होता है ।।१८।।

सुबोधिनी—तत्र सभायाम् । तत्रापि मध्ये भगवदुपवेशनस्थानं परमासनम् । प्रान्ते पश्चिमभागे कुड्यसमीपे राज्ञः स्थानम्, मध्ये तत्सम्मुखे भगवत्स्थानमिति विमर्शः । सभासदां मध्ये भगवतोऽनुप्रवेशं निवारयितुमाह **स्वभासा ककुभोऽवभासयन्निति** । तत्र सामर्थ्यं **विभुरिति** । राज्ञो मुख्यत्वादभानमाशङ्क्याह **बभाविति** । सभाधर्मेण देवधर्मेण वा तथात्वमाशङ्क्य **स्वभासेति** । अप्रधानेनापि प्रधानभानं सम्भवतीति तन्निराकरणार्थं दश दिश एवोक्ताः । ननु तत्रत्या एव केवलाः । अनेन सभया भगवद्भानं निवारितम् । एवं तर्हि **सभासदामप्रयोजकत्वमेव** स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति **वृतो नृसिंहैरिति** । तेषामागन्तुकत्वं निराकरोति **यदुभिरिति** । अन्यथा नृसिंहाः परशुरामव्यासादयो भवेयुः । तुल्यतामाशङ्क्याह **यदूत्तम** इति । तेषामेकत्र निवेशनमात्रं भगवतस्ततोऽप्युत्तमत्व एव स्यात् । ननु नियामकत्वम् । ततो धर्म एकमुखो न भवेदिति तेषां पतिर्भगवानिति दृष्टान्तेन निरूपयति **यथोडुराज** इति । **दिवीत्याधिभौतिकं** निवारितम्, यथा देवरूपम् । ग्रहनक्षत्राणामपि केनचिदंशेन तुल्यतापोषकत्वं चास्तीति **तारकागणैरित्युक्तम्**। **उडुराज** इत्यनेन स्वकीयानां तदधीनत्वमुक्तमेव। ।।१८।।

व्याख्यार्थ—वहां सभा में भी भगवान् के विराजमान होने का स्थान उच्च सुन्दर सिंहासन था, पश्चिम भाग के एक तरफ भित्ति के समीप राजा के बैठने का स्थान होता है। बराबर मध्य में उसके सामने भगवान् के विराजने का स्थान[1] था, सभासदों के बाद[2] भगवान् ने प्रवेश किया, जिसका निवारण करने के लिए कहते हैं कि, अपने तेज से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए प्रवेश किया जिसका भावार्थ है कि सभासद भगवान् के पीछे आ रहे थे जिससे सभा में चारों तरफ भगवान् का पूर्ण प्रकाश भित्ति आदि पर हो रहा था, इस प्रकार प्रकाशित करने का सामर्थ्य आप में है क्योंकि 'विभु' सर्व समर्थ हैं, सभा में राजा मुख्य होता है उसका ही तेज वा प्रकाश देखने में आता है इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि 'बभौ' राजा से भी आप विशेष प्रकाशमान हो रहे थे, भगवान् सभा धर्म से अथवा देव धर्म से प्रकाशमान होते होंगे इस शङ्का को 'स्वभासा' पद से

---

[1] सिंहासन, [2] पीछे,

मिटाते हैं कि भगवान् सभा वा देव धर्म से नहीं किन्तु अपने तेज से प्रकाशमान हो रहे थे, कभी-कभी अप्रधान से भी प्रधान का भान हो जाता है इस प्रकार के भ्रम वा शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि न केवल वहां बैठे हुए प्रकाशित हुए किन्तु दश दिशाएँ भी प्रकाशित होने लगी, इससे सभा से भगवान् का प्रकाश हुआ इसका निवारण किया, यदि यों है तो सभासदों का कोई प्रयोजन न रहा, इस शङ्का को मिटाते हैं कि मनुष्यों में सिंह[3] यादवों से घिरे हुए पधारे थे, वे पिछे नहीं आये थे, यदि नृसिंह शब्द का विशेष्य 'यदुभिः' न कहते तो 'नृसिंह' से परशुराम, व्यास आदि समझे जाते, तब उनसे इनकी समानता होगी ? इसके निराकरण करने के लिए कहा है कि ये यादवों में श्रेष्ठ हैं, उनका एक स्थान पर ही बैठना है, अतः भगवान् का उससे भी उत्तमपन ही होना चाहिए अर्थात् है, न कि नियामकत्व ही है, इस कारण से धर्म एक मुख नहीं होता है, क्योंकि उनका स्वामी भगवान् है, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, 'दिवि' पद देकर आधिभौतिकता का निवारण किया है जैसे देवरूप, 'तारकागणैः' पद से बताया है कि नक्षत्रों का भी किसी अंश से समतापोषकत्व है 'उडुराज' कह कर जताया है कि जैसे तारागण चन्द्रमा के आधीन है क्योंकि वह उनका स्वामी है वैसे ही स्वकीयों का भी अपने स्वामी का आधीनत्व कहा हुआ समझना चाहिए ।।१८।।

आभास—ततो धर्मफलमिव वदन् मनसः परितोषार्थमाह **तत्रोपमन्त्रिण** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् मानों धर्मफल कहते हुए, तत्रोपमन्त्रिणो' श्लोक में मन के प्रसन्नतार्थ कहते हैं—

श्लोक—**तत्रोपमन्त्रिणो राजन्नानाहास्यरसैर्विभुम् ।**
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ।।१९।।

श्लोकार्थ—वहाँ जो उपमन्त्री आए थे, वे हास्य रस की वार्ताओं से भगवान् को प्रसन्न करते थे, नटाचार्य तथा नृत्य करने वाली स्त्रियाँ पृथक्-पृथक् ताण्डवों से भगवान् की सेवा करती थीं ।।१९।।

सुबोधिनी—उपमन्त्रिणः कौतुकिनः । **राजन्निति** ज्ञापनार्थं सम्बोधनम् । नानाविधा हास्यरसाः । लौकिकीभाषेयं धर्मे चित्तोद्वेगनिवारणार्थमुक्ता । विभुत्वादप्रेरिता अपि तथा उपतस्थुः । न केवलं हास्यरसा एव, किन्तु शृङ्गारादयोऽपि विभावादिभिः प्रकाशिता इत्याह **उपतस्थुरिति** । **नटाः** रसाभिनयनकर्तारः शुद्धस्वाङ्गप्रदर्शकाः । स्त्रियो नर्तक्यः लास्यप्रदर्शिकाः । उभयविधा अपि सभात्वात् ताण्डवैरेव पृथक् पृथक् उपतस्थुः । **नरा नार्य** इति वा पाठः ।।१९।।

व्याख्यार्थ—हे राजन् ! यह सम्बोधन सभा में क्या क्या होता है उसका तो आपको ज्ञान हो

---

[3] उत्तम

है,इसलिए दिया है,देश विदेश से कला[1] दिखाने के लिए आए हुओं की पहचान 'उपमन्त्रिण:' पद से दी है,उन्होंने भगवान् के पास आकर उनको प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार की हास्य रस की कलाएं दिखाईं क्योंकि धर्म में चित्त के उद्वेग का होना अच्छा नहीं, इसलिए उस उद्वेग को मिटाने के लिए इन कलाओं का दिखाना आवश्यक है, यह लौकिकी भाषा है, भगवान् ने उनको यों कर दिखलाने की प्रेरणा नहीं की,तो भी उन्होंने यों किया जिसका कारण है कि भगवान् 'विभु' हैं अर्थात् सर्व समर्थ हैं। प्रत्यक्ष प्रेरणा दिये विना भी कार्य करा सकते हैं, केवल हास्य रस ही नहीं किए, किन्तु विभावादिकों से शृङ्गार आदि भी दिखाए इसलिए 'उपतस्थु:' पद दिया है, 'नट' वे हैं जो ऐसा अभिनय करके दिखावे जिससे रस उत्पन्न हो जाय, तथा शुद्ध स्वाङ्ग कर सकें, स्त्रियां जिनको 'नर्तक्य:' कहा है वे नाच कर प्रसन्न करने वाली होती हैं, यह सभा है इसलिए दोनों प्रकार के स्त्रियों अथवा पुरुष अपनी कला ताण्डवों से पृथक् पृथक् दिखाने आये ।।१९।।

आभास—भगवत: सभायां गमनमुत्सवरूपमिति ज्ञापयितुं वाद्यमाह **मृदङ्गे**ति ।

आभासार्थ—सभा में भगवान् का पधारना उत्सव रूप है इसको बताने के लिए 'मृदङ्गवीणा' श्लोक में बाजों का बजना कहते हैं—

श्लोक—**मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः ।**
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधबन्दिनः ।।२०।।

श्लोकार्थ—सूत, मागध और बन्दीजन मृदङ्ग, वीणा, मुरज, वेणु ताल तथा शङ्ख; इन शब्दों के साथ नाचते थे, गाते थे और स्तुति करते थे ।।२०।।

सुबोधिनी—षड्विधानां स्वनैः सह ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुः । स्तोत्रे नटादयो नात्यन्तमभिज्ञा इति सूतादीन्निर्दिशति **सूतमागधबन्दिन** इति ।।२०।।

व्याख्यार्थ—छ प्रकार के वाद्यों की ध्वनि के साथ सूत, मागध और बन्दीजन नाचते, गाते और स्तुति करते थे, नट आदि स्तोत्र को अच्छी तरह नहीं जानते इसलिए सूत मागध और बन्दी को कहा है ।।२०।।

आभास—लौकिकोत्सवमुक्त्वा तस्य धर्मफलत्वं ज्ञापयितुमाह **तत्रस्था ब्राह्मणाः केचिदिति ।**

आभासार्थ—लौकिक उत्सव का वर्णन कर उसके धर्म फलपन को 'तत्रस्था' श्लोक में जताते हैं—

---

[1] कौतूकिन:-आश्चर्य में डालने वाले तमाशे दिखाने वाले,

श्लोक—**तत्रस्था ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।**
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ।।२१।।

श्लोकार्थ—कितनेक ब्रह्मवादी ब्राह्मण वहाँ बैठे थे, वे पुण्य यश वाले पूर्व हुए राजाओं की कथाएँ कहने लगे ।।२१।।

सुबोधिनी—ते हि सभासदः सभायामधिकृताः धर्मनिर्णयार्थम्, यतो ब्रह्मवादिनः सर्वज्ञाः। अन्ये हि धर्मं न विदुः । **केचिदिति** साधारणाः, न तु वसिष्ठादयः । धर्मः परम्परागत एव कर्तव्य इति तादृश एव भगवता क्रियत इति ज्ञापयितुं ब्राह्मणैस्तथा निरूप्यत इत्याह **पूर्वेषां पुण्ययशसामिति** । इक्ष्वाकुप्रभृतीनां धर्मे यादृशं वर्तनम् । पुण्यं यशो येषामिति लोकेऽप्यविगीतानाम् । **च**कारादब्राह्मणादीनामपि कथाः धर्मोपयुक्ता: अकथयन् । यतो धर्मवार्तैव सभायाम्, नत्वन्यवार्तेति ज्ञापितम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ— सभा में धर्म का निर्णय करने के लिए उनको सभासद बनाकर अधिकार दिया था, क्योंकि ब्रह्मवादी होने से सर्वज्ञ थे । दूसरे तो धर्म को नहीं जानते, कितने ही अन्य बैठे थे वे तो साधारण थे, न कि वसिष्ठ आदि धर्म तो परम्परागत ही पालन करना चाहिए, इसलिए भगवान् उसी प्रकार करते हैं, यों जताने के लिए ब्राह्मण वैसे निरूपण करते हैं जिसको कहते हैं, जिनकी लोक में निन्दा नहीं हुई है, जिनके पवित्र यश का ही गान हो रहा है ऐसे इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओं की धर्म में जिस प्रकार प्रवृत्ति थी वह प्रकार, तथा वैसे ब्राह्मणादिकों की धर्मोपयुक्त कथाएँ कहने लगे, धर्म सभा में तो धर्म की वार्ताओं के सिवाय अन्य वार्ताएँ नहीं होती है यह बताया ।।२१।।

आभास—यदर्थमेषा धर्मकथा निरूपिता, तं सात्त्विकानां निरोधं निरूपयितुं प्रस्तावनामाह **तत्रैकः पुरुष** इति त्रिभिः ।

आभासार्थ—जिस निरोध के लिए यह धर्म कथा निरूपण की सात्विकों के उस निरोध का निरूपण करने के लिए 'तत्रैक:' श्लोक से तीन श्लोको में उसकी प्रस्तावना कहते हैं—

श्लोक—**तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः ।**
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ।।२२।।
स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।
राज्ञामावेदयद्दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ।।२३।।
ये च दिग्विजये तस्य संनतिं न ययुर्नृपाः ।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ।।२४।।

श्लोकार्थ--हे राजन् ! वहाँ एक जिसका आगे दर्शन नहीं हुआ है, वैसा अनजान पुरुष आया, जिसने अन्दर आने के लिए भगवान् को विनती की, भगवदाज्ञा से द्वारपाल भीतर ले गए ॥२२॥

परब्रह्म श्रीकृष्ण को हाथ जोड़कर उसने प्रणाम किया, अनन्तर जरासन्ध ने जिन राजाओं को कैद कर रखा था, उनके दुःख का वर्णन कर सुनाया ॥२३॥

जरासन्ध के दिग्विजय में जो राजा शरणागत नहीं हुए, उन बीस सहस्र (२०,०००) राजाओं को गिरिव्रज दुर्ग में बलात्कार से कैद कर रखा है ॥२४॥

सुबोधिनी—धर्मेणालौकिकप्रकारेण निरुद्धाः, बहिः जरासन्धद्वारा च उपायान्तरान्निवृत्ताः भगवन्तमेव विज्ञापयामासुः । तथापि भगवान् लोकन्यायेन लीलां करोतीति निश्चित्य दूतं प्रेषितवन्तः । तस्यागमनं निरूप्यते । **एकः** असहायः । **पुरुषः** समर्थः । सम्बोधनं ज्ञापनाय । अपूर्वं दर्शनं यस्येति अदृष्टपूर्वः । भिन्नप्रक्रमार्थं निरूपितः । स पूर्वं दौवारिकैर्विशेषेण ज्ञापितः । राजधर्मा एते । ततो भगवताभ्यनुज्ञातः प्रतीहारैः प्रवेशितः बहुभिरेकः । नीतिरेषा । तस्य कृत्यमाह **स नमस्कृत्य** इति । कृष्णाय, न तु राज्ञे, अलौकिकत्वात् । तत्र हेतुः **परेशाय** । कालादृष्टादीनामपि नियामकाय । न हि राज्ञा कालादयो निवारयितुं शक्याः । **कृताञ्जलि**रिति । दूतस्यापि सात्त्विकत्वं निरूपितम् । राजत्वाद्दुःखानुभवः । अत एव जरासन्धनिरोधादेव उत्पन्नं दुःखं भगवते आवेदयत् । भगवद्भक्तानां दुःखमनुचितमित्याशङ्क्य भक्तिविरुद्धधर्मसम्भवात् तेषां दुःखमिति वक्तुमभिमानमाह **ये च दिग्विजय** इति । नृपत्वात्सम्यङ्नति नम्रतां न ययुः । न तु भगवदीया इति । भगवद्विमुखो जरासन्ध इति । अतोऽन्तर्यामिप्रेरणया प्रसह्य तेनैव रुद्धाः द्वे अयुते गिरिव्रजे आसन् । अहन्ताया ममतायाश्च चतुर्दश चतुर्दश स्थानानीति सहस्रशः शतशश्च तेषां वृत्तय इति विंशतिसहस्राण्यष्टशतानि च सङ्ख्या भवति । अष्टशतान्युपसंहारे निरूपितानि । गिरीणां व्रजो यत्रेति कूटवत् पर्वताः परितो दुर्गत्वाय निरूपिताः ।२४।

व्याख्यार्थ—यद्यपि भगवान् ने धर्म से अर्थात् अलौकिक प्रकार से उन राजाओं का निरोध कर लिया था, तो भी भगवान् जो लीला करते हैं वह लोक न्याय से ही करके दिखाते हैं, अतः बाहर दिखाने के लिए जरासन्ध से छुड़वाने के वास्ते राजाओं से दूत भिजवाकर अपने को प्रार्थना करवाई, उस (दूत) के आगमन का निरूपण करते हैं कि वह अकेला था उसका कोई सहायक नहीं था, 'पुरुषः' शब्द देकर यह जताया है कि असहाय था तो भी समर्थ था, राजन् ! सम्बोधन जताने के लिए है । वह दूत अनदेखा हुआ था, आगे कभी नहीं आया था । यों भिन्न प्रक्रम के लिये कहा है, उसने आकर प्रथम द्वारपालों को विनय की, कि प्रभु से भीतर आने की आज्ञा लेने की कृपा करो, ये राजधर्म है, अर्थात् राजा के पास इस प्रकार जाना होता है । पश्चात् भगवान् ने आज्ञा दी, तब आज्ञा पाकर दरबान उसको भीतर ले गये, यह नीति है, उस (दूत) का कार्य कहते हैं, भीतर आकर श्रीकृष्ण को नमस्कार की न कि राजा को, अलौकिक होने से अर्थात् वह दूत लौकिक नहीं था, श्रीकृष्ण को नमस्कार करने का कारण यह था कि श्रीकृष्ण, जो कालादि पर हैं उनका भी स्वामी अर्थात् नियामक हैं, राजा आदि काल को हटाने में समर्थ नहीं होते हैं ।

नमस्कार तो दूत ने की अनन्तर प्रार्थना के लिये हस्त जोड़कर खड़ा हुआ, जिससे दूत सात्त्विक है यह निरूपण किया, राजापन से दुःख का अनुभव था, इस कारण से ही जरासन्ध द्वारा कैद होने से ही उत्पन्न हुआ दुःख भगवान् को कहने लगा, भगवद्भक्तों को दुःख होना उचित नहीं है इस शङ्का का समाधान करते हैं कि भक्ति के विरुद्ध यह धर्म इसलिए दुःख है यों कहने के लिए अभिमान प्रकट करता है कि 'ये च दिग्विजये' जरासन्ध ने जब दिग्विजय की उस समय दूसरे राजा गए किन्तु जो भगवदीय थे वे इसके शरण न गये क्योंकि वे तो भगवान् के शरण जाते हैं न कि राजा के, यह राजा था इसलिए इसकी शरण न ली, यह जरासन्ध राजा भगवद्विमुख है, अतः अन्तर्यामी की प्रेरणा से उसने ही बीस सहस्र (२०,०००) राजाओं को कैद कर बलात्कार (जबर्दस्ती) से गिरीव्रज दुर्ग में बन्द कर रखा है, अहन्ता और ममता के चौदह चौदह स्थान हैं, उनकी हजार और सौ वृत्तियां हैं, यों गिनती से बीस हजार आठ सौ की संख्या होती है, आठ सौ का निरूपण उपसंहार में है शेष बीस हजार (२०,०००) अब कहा है, जहां कूटवत् चारों तरफ पर्वत ही पर्वत हैं, इसलिये उसको गिरिव्रज कहा है उसमें बीस हजार कैद कर रखे हैं ॥२४॥

आभास—दूतस्तेषां वचनान्याह **कृष्ण कृष्णेति** षड्भिः ।

आभासार्थ— दूत उनके[1] वचन (कृष्ण कृष्ण) श्लोक से ६ श्लोकों में कहता है ।

श्लोक—**कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्प्रपन्नभयभञ्जन ।**
वयं त्वां शरणं यामो भवतीताः पृथग्धियः ॥२५॥

श्लोकार्थ--हे कृष्ण ! हे अप्रमेयात्मा ! हे भय को नाश करने वाले ! हम संसार से भय पाकर, भेद बुद्धि वाले हो गए हैं, वैसे हम सब आपकी शरण में आए हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—ऐश्वर्यादयो धर्मा भगवदीयाः क्रमेण निरूप्यन्ते । भगवानेव हि जीवानां स्वगुणैर्मोचक इति । तत्रैश्वर्यं निरूपयन्ति । आदरे वीप्सा स्नेहादरयोर्नैश्वर्यं बाधकम् । अदृष्टकालादीनां बाधकत्वात् साधारणाधिकारित्वाच्च । कथं भवतां दुःखनिवृत्तिरिति चेत् । तत्राह अप्रमेयात्मन्निति । प्रमातु योग्ये हि कालादिविचारः, नत्वयोग्ये । तथाप्युदासीनो भवेदित्याशङ्क्याहुः प्रपन्नभयभञ्जनेति । 'सङ्ग्रामे विप्रपन्नाना'मित्यादिवाक्यात् प्रपन्नभयनिवारकत्वं तत्रावश्यकम् । अतो वयं प्रपन्ना भवाम इत्याहुः वयं त्वां शरणं याम इति । जरासन्धाद्विमोकपक्षं वारयन्ति भवभीता इति । नह्येकस्माद्भयात्कश्चिन्निवृत्तिं वाञ्छति, सर्वभयनिवृत्तिसम्भवे । बहिर्मुखानां संसारे सर्वतोभयम्, तदाहुः पृथग्धिय इति । अनेन ज्ञानादिपक्षा निवारिताः ॥२५॥

व्याख्यार्थ— भगवदीय ऐश्वर्यादि धर्म क्रम से निरूपण किए जाते हैं, भगवान् ही जीवों

---

[1] कैद में पड़े हुए राजाओं के ।

को अपने गुणों द्वारा संसार भय से छुड़ाने वाले हैं, उनमें से ऐश्वर्य गुण का निरूपण करते हैं। स्नेह और आदर में ऐश्वर्य बाधक नहीं है, अदृष्ट तथा काल आदि ही बाधक होते हैं, क्योंकि साधारण अधिकारी हैं। यदि आप कहो, कि तुम्हारे दुःखों की निवृत्ति कैसे होगी? जिसके उत्तर में कहता है, कि आप अप्रेमयात्मा हैं अतः कैसे दुःखों की निवृत्ति होगी? इसका विचार आपके आगे ठहर नहीं सकता है। जो प्रमा करने योग्य हे उसके आगे काल आदि का विचार हो सकता है, यों है, किन्तु यदि हम उदासीन होवें तो? जिसका समाधान करता है कि आप उदासीन नहीं हैं, क्योंकि शरणागतों के दुःखों को नाश करने वाले हैं, 'संग्रामे विप्रपन्नानां' इस वाक्य के प्रमाणानुसार शरण आए हुओं के भय का निवारण करना आपके लिए आवश्यक है, अतः हम शरण हुए हैं, केवल जरासन्ध से ही हम छुटकारा चाहते हैं यों नहीं है, किन्तु संसार से भी अब डर गए है, जब आप से सर्व भयों का नाश हो सकता है तो कोई भी एक भय से निवृत्ति कैसे चाहेगा? बहिर्मुखों को संसार में चारों तरफ से भय रहता है जिसके लिए कहा है कि हम 'पृथग्धियः' भेद बुद्धि वाले हैं, इससे ज्ञानादि पक्षों का निवारण किया ॥२५॥

आभास—ननु सर्वे येन प्रकारेण संसारनिवृत्तिं वाञ्छन्ति, तेनैव प्रकारेण संसारो निवर्तनीयः, किं मच्छरणागमनेनेत्याशङ्कायामाहुः **लोको विकर्मनिरत** इति।

आभासार्थ— सब जिस प्रकार से संसार से निवृत्ति चाहते हैं, उसी प्रकार तुमको भी संसार निवृत्त करना चाहिए मेरी शरण आने से वया लाभ है? इसका उत्तर 'लोको विकर्म निरतः' श्लोक में देता है।

श्लोक—**लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः**
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥२६॥

श्लोकार्थ—यह लोक, जो कर्म करने के योग्य नहीं हैं, उन कर्मों में लग्न है और जो सत्कर्म करने योग्य हैं, उनमें उदासीन है, वह सत्कर्म जिनको आपने कहा है, वे उन भगवत्सेवा आदि में आलस्य कर रहे हैं, तो भी उसको जीने की बलवती आशा है, उसको बलवान् काल तोड़ देता है, वह काल भी आपका ही स्वरूप है, उसको नमस्कार है ॥२६॥

सुबोधिनी—कालरूपश्च त्वमेव। अतस्त्वच्छरणागमनेनैव भयनिवृत्तिः, नान्यथा। यतस्तवाज्ञोल्लङ्घने त्वमेव भक्षयसि। आज्ञोल्लङ्घनं प्रपञ्चयन्ति विकर्मणि निषिद्धे विहितोल्लङ्घने वा निरतः तदेवादरेण करोति। लोकस्य तत्रैव महती श्रद्धा। कुशले विहिते प्रमत्तः असावधानः। तत्पुनरीश्वरवाक्योल्लङ्घनरूपमिति वक्तुमाहुः त्वदुदित इति। वीर्यवता वेदादिकर्त्रा त्वयैव

तन्निरूपितम्। तत्रापि भवदर्चने भवत्पूजारूपे तन्त्रोक्ते साक्षाद्भगवतैवावतीर्णेन निरूपिते। तत्रापि स्वे श्रवणादिरूपे। त्रिविधं कर्म भगवता निरूपितम्, वैदिकं पाञ्चरात्रं भागवतं च। उत्तरोत्तरं प्राणिनामश्रद्धातिशयः। अतः प्रमत्तः। भगवानपि प्रमत्त इव न तूष्णीं तिष्ठति, यतो जगत्कर्ता, तदाहुः यस्तावदिति। सह्यधिकृतः, अन्यथा प्रलयो न सम्भवेत्, जीवधर्मापेक्षया ब्रह्मधर्मा विशिष्टा इति। तावदिति यावत् प्रमत्त एव तिष्ठति। आज्ञोल्लङ्घनसमनन्तरमेव अधः तत्करणं प्रमाणं वा स्वानुभवरूपं निरूप्यते। एतत्करणे यो गुणः प्रधानभूतः तं निर्दिशति बलवानिति। साक्षान्मारणे न जानीयात्। न हि मरणे जन्मान्तरे वा मरणक्लेशस्मृतिरस्ति। अतो जीविताशामेव रोगादिना निराकरोति, येन सर्वेषामेव मरणप्रतीतिर्भवेत्। सर्वथा आज्ञोल्लङ्घने महान्तं व्याध्यादिकमुत्पादयतीत्यर्थः। जीववद्भगवानपि कदाचिदसावधानो भवेदित्याशङ्कायामाहुः अनिमिषायेति। अतिसावधानाय। अतस्तस्मै नमः पूर्वापराधक्षमापनार्थम्। शरणागतिस्तु मोक्षार्था। अपराधे विद्यमाने साधनैरपि मोक्षो दुर्लभ इति ॥२६॥

व्याख्यार्थ— काल रूप आप ही हैं अतः आपकी शरण लेने से ही भय की निवृत्ति होती है, अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि आपकी आज्ञा के उल्लङ्घन करने पर आप ही भक्षण करते हैं, आज्ञा के उल्लङ्घन करने का वर्णन करते हैं, जैसा कि जिन कर्म करने का शास्त्र में निषेध है उनको आदर से करते हैं, और जिन शुभ कर्मों के करने की आज्ञा हैं उनका उल्लङ्घन कर रहे हैं, लोक की निषिद्ध कर्म में ही विशेष श्रद्धा होती है, इसलिए शास्त्र में कहे हुए कर्मों में असावधान रहते हैं, शास्त्र में जो कर्म हैं वे आपके ही कहे हुए हैं अतः ईश्वराज्ञा का उल्लङ्घन रूप दोष भी करते हैं क्योंकि वेदादि शास्त्र कहने वाले आप ही हैं अतः सर्वत्र तन्त्र आदि में आपकी सेवा पूजा आदि भी साक्षात् भगवद्रूप से अवतीर्ण होकर ही कही है, वहां भी श्रवणादि रूप भी कहे हैं, यों भगवान् ने तीन प्रकार के कर्म कहे हैं, १- वैदिक, २- पाञ्चरात्र और ३- भागवत, वैदिक से पाञ्चरात्र धर्म में उससे भी भागवत धर्म में कम श्रद्धा है, अतः लोक प्रमत्त हैं, भगवान् प्रमत्त की तरह मौन कर नहीं रहते हैं, क्योंकि वेदादि[1] के आप ही बनाने वाले हैं, आपके ही अधिकार में सब हैं, काल को भी मारने का अधिकार आपने दिया है, क्योंकि आप का ही रूप है अर्थात् आप ही है यदि यों न होता तो प्रलय न हो सकता, जीवों के धर्मों से ब्रह्म के धर्म महान् हैं, जब तक लोक संसार में प्रमत्त हो रहता है तब तक जीविताशा बनी रहती है इतने में ही, काल उस आशा को तोड़ देता है, आज्ञोल्लङ्घन के बाद ही नीचे गिरते हैं, उससे ऊपर आना, उसमें अपना अनुभव रूप प्रमाण कहते हैं इसको करने में जो गुण मुख्य है उसको दिखाते हैं कि, वह बलवान है, वह साक्षात् मारना नहीं जानता है, मरने में वा जन्मान्तर में मरने के क्लेश की स्मृति नहीं रहती है, अतः रोग आदि से जीविताशा का निराकरण करता है, जिससे सबको मरने की प्रतीति हो जावे, आज्ञा का उल्लङ्घन करने पर सर्व प्रकार से महान् रोगों को उत्पन्न करता है, जीव के समान कभी भगवान् भी असावधान हो जावे तो, जिसके उत्तर में कहा है कि, आप बहुत सावधान हैं, अतः आप, काल रूप भगवान् को पूर्व अपराधों के क्षमा करने के लिए हम नमन करते हैं, शरणागति तो मोक्ष के लिए ली है, अपराधों के होते हुए साधनों से भी मोक्ष दुर्लभ है ॥२६॥

---

[1] —जगत् के कर्त्ता होने से वेद के भी आप ही कर्त्ता हैं।

आभास—एवमैश्वर्यवीर्ये निरूप्य यशो निरूपययिष्यन्तश्चोद्धरणाभावे तत्र न्यूनतां भावायमानाः सिद्धान्तापरिज्ञानात्पृच्छन्त इवाहुः **लोके भवानिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार ऐश्वर्य और वीर्य का निरूपण कर ,यश का निरूपण करते हुए उद्धरण के अभाव में वहां न्यूनता समझ, सिद्धान्त के अज्ञान से मानो पूछ रहे हैं यों 'लोके भवान्' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः**
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।
कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीश किं
वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥२७॥

श्लोकार्थ—यद्यपि आप लोक में सत्पुरुषों की रक्षा के लिए एवं खलों को दण्ड देने के लिए कला के साथ प्रकट हुए हैं, तो भी हम जैसे आपके सेवक दुःख भोग रहे हैं, तो जो आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन करते हैं, वे अपने कर्मानुसार दुःख भोगे तो इसमें क्या कहें ? आपने कैसा निर्णय किया है, वह हम नहीं जानते हैं, हम शरण आए हैं, अतः रक्षा करो ।।२७।।

सुबोधिनी—जगदिनो जगत्स्वामी भवान् लोके कलया सहावतीर्णः ससहायः । तत्र प्रयोजनद्वयम्, सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चेति । ईश्वरः साधारण्येन पालनार्थमेव तथा करोति, सुतरां विशेषप्रयत्नवान् । चकाराद्भक्तरक्षार्थम् । एवं त्रिविधकार्यसन्दर्भेऽप्यस्मासु । कस्माद्धेतोरन्यस्तुच्छः अनीश्वरः कारणकार्यप्रेरकस्य तव निदेशमाज्ञामतियाति स्वगर्वादिति चेत्, तत्राहुः ईशेति । संबोधनमुल्लङ्घ्य वाक्यत्वबोधनार्थम् । 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् । सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' । साधारणमिति मन्यमाना वयं दुःखं चानुभूय तदत्र निर्णायकः निर्णीतं न विद्मः । दुःखानुभवो न निर्णायकः, स्ववाक्यपरिशास्त्रमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । अतः पालनार्थं मोचयेति तात्पर्यम् ।।२७।।

व्याख्यार्थ— जगत् के स्वामी आप लोक में कला के साथ प्रकट हुए हैं, कला लाई है इसलिए आपका सहायक भी है, यों करने में दो प्रयोजन हैं, एक सत्पुरुषों का रक्षण और दूसरा खलों का निग्रह करना, ईश्वर साधारणतया पालने के लिए ही सुतरां विशेष प्रयत्न वाले हो यों करते हैं, 'च' पद से जताया है । भक्तों की रक्षा के लिए भी, इस प्रकार आपके तीन प्रकार के कार्य होने पर भी, हम पर, किस कारण से क्यों ? दूसरा जो ईश्वर नहीं है, तुच्छ है, वह कारण और कार्य के प्रेरक आपकी आज्ञा का अपने गर्व से उल्लङ्घन कर दुःख की वर्षा कर रहा है, 'हे ईश' ! आप ईश हैं फिर यह आप की आज्ञा का उल्लङ्घन कैसे करता है ? आपके ये वाक्य हैं कि 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् । संग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ' जो कोई मनुष्य मेरी शरण आता है वह फिर शोक करने के योग्य नहीं ही सकता हैं, अर्थात् उसको किसी प्रकार दुःख नहीं होता है, और जो संग्राम के समय शरण आकर कहते हैं कि 'तवास्मि' "आपके हैं," केवल इतना जो कहता है वह भी निर्भय हो जाता है, सर्व प्राणी मात्र को मैं अभयदान देता हूँ यह तो मेरा व्रत है ।

साधारण तो अपने प्रारब्ध के भोग का अनुभव करता है, यह 'किंवा जन' पद से कहते हैं— इस प्रकार भगवद्वाक्य साधारण है यों मानते हुए हम दुःख का अनुभव करें, यहां यों निर्णय किया है क्या ? वह हम नहीं जान सकते हैं, दुःख का अनुभव तो निर्णय कराने वाला नही है, यों हो तो शास्त्र मात्र के उच्छेद का प्रसंग आ जाएगा, यों कहने का तात्पर्य यह है कि अपने वाक्यों का पालन करने के लिए हमको छुड़ाओ ।।२७॥

आभास—ननु प्रत्यक्षविरोधिनं संदिग्धमिमं मार्गं विहाय ज्ञानमार्ग एव सर्वत्यागात्मको निरभिमानात्मको वा कुतो नाश्रीयत इत्याशङ्कां परिहरन्तो भगवच्छ्रियं निरूपयन्ति **स्वप्नायितमिति** ।

आभासार्थ— प्रत्यक्ष के विरोधी इस सन्देह वाले मार्ग का त्याग कर सर्व त्याग रूप, अभिमान रहित ज्ञान मार्ग का आश्रय क्यों न लेते हो ? इस शंका को मिटाते हुए, भगवान् के 'श्री' का 'स्वप्नायितं' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश**
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनी-
हलभ्यं विलश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! यह राज्य सुख स्वप्न समान तथा परतन्त्र है, हम निरन्तर भय से मृतक के समान हो इस भार को वहन कर रहे हैं, बिना किसी भी चेष्टा के प्राप्त होने वाले आत्म सुख को त्याग आपकी माया से मोहित होने से दीन बन दुःख भोग रहे हैं ।।२८।।

सुबोधिनी—वस्तुतो ज्ञानमार्गयोग्यो विषयोऽस्ति, तथाप्यपरित्यागे हेतुः तव माया श्रीरूपा । अतो वाक्यं वा पालय, मायां वा व्यावर्तयेति । स्वप्नो मायामात्रमिति स्थितम् । नृपाणां सुखं लोके प्रसिद्धम्, तन्मायिकमेव, व्यवहारे कापट्याविक्रयात्, माया हि कुहकाधीना, अन्तर्यामिप्रतिनिधित्वेन लोकं निरूपयन् भगवान् प्रतिकूल इति ज्ञापयितुं सुखं विशिनष्टि **परतन्त्रमिति** । अन्तर्यामिणः सख्युः अनुचितमेतदित्याशङ्क्य सम्बोधयति **ईशेति** । माया स्वकार्यभोग्या, नत्वात्मभोग्येति ज्ञापयितुं साधनमाह **मृतकेनेति** । चेतनसंबन्धाभावाय तथा वचनम् । मायाकार्यं साधने

स्पष्टमित्याह **शश्वद्भुयेनेति** । तेन भारवहनमत्यन्तं मायामोहितकार्यम् । लोका मृतकमेव कथञ्चिद्वहन्ति, त्यजन्ति वा, न तु मृतकेन किञ्चिद्वहन्ति, वयं तु तेन धुरं वहाम इति स्पष्टोऽस्मासु मोहः । ननु सुखासवत्या असाधनेऽपि प्रवर्तते, प्रकारान्तरेण सुखमलभमान इति चेत्, तत्राह **हित्वा तदात्मनीति** । सुखस्य परमोत्कर्षमाह तदिति । **आत्मनीति** गमनक्लेशाभावः । क्रियाप्रयासं व्यावर्तयति **अनीहलभ्यमिति** । तुशब्देन न्यायसिद्धान्तवन्निरानन्दात्मपक्षो व्यावर्त्यते । सुखप्राप्तिर्ज्ञानादनीहया च । निरोधादनीहा सम्भवतीति 'सर्वेहोपरतिस्तनु'रिति वाक्यात् सुखप्राप्तिः । तथाप्यन्याभिनिवेशाद्धीनम् । 'भोक्ता तारतम्यं जानाती'ति न्यायात् विषयसुखमेव सर्वोत्कृष्टं भविष्यति, अन्यथा चित्तं कथं प्रवर्ततेत्याशङ्क्याह **क्लिश्यामह** इति । **त्वदनीहलभ्यमिति** पाठे त्वत्स्मरणेन तत्सुखस्य सुलभता निरूपिता । क्लेशस्यानुभवसिद्धत्वाद्विपरीतहेतुत्वेन अलौकिकत्वेनानान्तरीयत्वाच्च क्लेशपर्यवसानानुभवेऽपि अनिवृत्तत्वादतिकृपणाः । अनालोचनेन याचनादिना अतिदीनाः। तत्र हेतुस्तवैव माया, अतो विज्ञापना । अन्यथेह विषयेच्छा न स्यात्, बैराग्यहेतूनामानन्त्यात् ॥२८॥

व्याख्यार्थ— वास्तविक रीति से यह विषय ज्ञान मार्गीय त्याग के योग्य है, तो भी उस प्रकार के त्याग न हो सकने के कारण आपकी 'श्री' रूपा माया है, अतः आप आपके वचनों का पालन करो अथवा माया को मिटाओ, माया मात्र स्वप्न है, लोक में राजाओं का सुख प्रसिद्ध है वह मायिक ही है, उसके व्यवहार में कापट्य विशेष है क्योंकि माया कपट के आधीन है, लोक के अन्तर्यामी के प्रतिनिधित्व से निरूपण करते हुए कहते हैं कि भगवान् ही प्रतिकूल हैं, जिससे यह प्राप्त राजसुख परतन्त्र है, यहां भगवान् क्यों प्रतिकूल हैं इसको समझाया है कि भगवान् अन्तर्यामी रूप से जैसी प्रेरणा करते हैं मनुष्य त्यों करता है अतः अन्तर्यामी सखा है । यों कहना अनुचित है इस प्रकार शंका कर सम्बोधन देते हैं कि हे ईश ! आप सबके ईश हैं, अर्थात् ईश होने से सबके सखा हैं, जो कुछ कराते हो वह हित के लिये ही है, माया, अपने कार्य से भोग्य है नहीं कि आत्मा से भोग्य है, यह जताने के लिए साधन कहते हैं 'मृतकेन' चेतन के सम्बन्ध न होने के लिए यह वचन कहा है, माया का कार्य साधन से स्पष्ट है, यों कहते हैं 'शश्वद्भुयेन' निरन्तर भय से, इस कारण से भार का वहन करना अत्यन्त माया से मोहित होने का कार्य है, लोक मरे हुए को ही उठा के ले जाते हैं अथवा वहां ही छोड़ देते हैं, मरा हुआ, किसी को नहीं ले जा सकता है, हम तो उससे अच्छी तरह भार को वहन कहते हैं सुख में आसक्ति होने से मनुष्य जो असाधन है उसमें भी प्रवृत्त होता हैं, यदि अन्य प्रकार से सुख को प्राप्त न हो तो कहते हैं कि 'हित्वायेदात्मनि' तत् पद से सुख का परमोत्कर्ष कहा 'आत्मनि' पद से बताया कि जाने का कोई क्लेश नहीं है, उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार की क्रिया करने का भी कष्ट नहीं है क्योंकि 'अनीह लभ्यं' बिना चेष्टा के प्राप्त करने योग्य है, 'तु' शब्द से न्याय सिद्धान्त में आत्मा निरानन्द कहा है उस पक्ष का निराकरण किया है, सुख की प्राप्ति ज्ञान से और चेष्टा के बिना होती है, यह निरीहा तब होती है जब निरोध सिद्ध हो जाता है, निरोध सिद्ध होने से 'सर्व प्रकार की इच्छा शान्त हो जाती है' इस वाक्यानुसार तब सुख की प्राप्ति हुई समझी जाती है, तो भी अन्य के अभिनिवेश से वह हीन है, 'भोक्ता तारतम्य को जानता है' इस न्याय से विषय सुख ही सर्वोत्कृष्ट बन जायगा, यों नहीं होवे तो चित्त की उसमें कैसे प्रवृत्ति होगी ? यों शंका कर कहते हैं कि 'क्लिश्यामहे' उससे तो हम दुःखी हो रहे हैं, 'त्वदनीहलभ्यम्' इस पाठ में आपके स्मरण से उस सुख प्राप्ति को सुलभता

दिखाई है अनुभव से सिद्ध है कि क्लेश पा रहे हैं, क्योंकि विषय सुख के भोगने से, अन्त में क्लेश ही होता है, अलौकिक सुख प्राप्ति में अनेक अन्तरीय होते हैं, अन्त में क्लेश का अनुभव करते हुए भी उसको त्यागते नहीं है जिसका कारण कि हम अति कृपण हैं । आलोचना न करने से, याचना आदि से, अति दीन हैं, इसमें कारण आपकी ही माया है इसलिए प्रार्थना करते हैं । यदि आपकी माया न होवे, तो इस जगत् में विषयों की इच्छा ही न होवे, वैराग्य के अनन्त कारण हैं ॥२८॥

आभास—एवं श्रियं निरूप्य भगवतो ज्ञानशक्तिं निरूपयन्तः तत्फलं मोक्षं प्रार्थयन्ते **तन्नो भवानिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार श्री का निरूपण कर भगवान् की ज्ञान शक्ति का निरूपण करते हुए उसके फल मोक्ष की 'तन्नो भवान्' श्लोक से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—**तन्नो भवान्प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो**
बद्धान्वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको
बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥२९॥

श्लोकार्थ—जैसे भेड़ी को सिंह रोक रखता है, वैसे दस सहस्र (हजार) हस्तियों के समान वीर्य वाले हमको इस जरासन्ध ने पकड़ रखा है, अतः हे शरणागतों के शोक को नाश करने वाले आपके चरण हैं, अतः आप जरासन्ध के कर्म बन्धन में पड़े हुए हमको छुड़ाओ ।।२९।।

सुबोधिनी—ब्रह्मज्ञानं मोक्षहेतुः, तदक्षरम्, अवतारे तस्य पादत्वम्, भक्तार्थमेव अवतार इति अस्मद्व्यापारव्यतिरेकेणापि स्वत एव तवाङ्घ्रिद्वयं प्रणतशोकहरं भवति । तेन तव या ज्ञानशक्तिः, सा चरणेन संवलिता प्रणतानां शोकं हरति । तत्रापि नो भवान् समानकालावतारान् अतो बद्धान् वियुङ्क्ष्व । नन्वेतादृशलौकिकबन्धतन्मोक्ष इति न ज्ञानसाध्यम्, तत्कथमसाधनेन साध्यप्रार्थनेति चेत् । तत्राहुः । **मगधो** मागधो जरासन्धः कर्मपाशस्यैव नामान्तरं तत् । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'ति वाक्यात् । देश गम्नार्स्थत्या अधिककर्मणोत्पत्तिसम्भवात् न भोगेन क्षयसिद्धिः। ननु मागधस्य कर्मत्वे किं प्रमाणम्, तत्राहुः **यो भूभुज** इति । न हि कर्माधीनः कश्चिदयुतमतङ्गजवीर्यो भवति । अतो भूभुजामस्माकं भोगहेतुभूतमाधिभौतिकं कर्म निवार्य स्वयमाधिदैविकः । केवलं ज्ञानैकनिवर्त्यो भवति । तर्हि तस्मै राज्यं दत्वा तत्सेवका एव कुतो न भवन्ति, तत्राहुः **मृगराडिवावीरिति** । स हि भक्षणार्थमेव मेषीः स्थापयति । तथायमपि प्रमथनाथमखाय वधार्थमेव स्थापितवानित्यर्थः । अतस्तामसदेवतायै समर्पितानां तत्रैव प्रवेशात् कालान्तरेऽपि मोक्षो नास्तीति मरणात्पूर्वमेव वयं मोचनीया इति भावः । तद्भुवने निरोधात् न पलायनसम्भावना। ॥२९॥

व्याख्यार्थ— ब्रह्म ज्ञान, मोक्ष होने का कारण है, वह ब्रह्म अक्षर है, अवतार समय में उस अक्षर का पादत्व है, क्योंकि भक्तोद्धार के लिए ही अवतार है, इसलिए हम लोगों के बिना व्यापार के भी स्वतः ही आपके चरण युगल, शरणागतों के शोक का हरण करने वाले हैं, इससे आपकी जो ज्ञान शक्ति है, वह धर्म रूप ज्ञानात्मक चरणों से मिलकर शरणागतों के शोक को हरती है, उसमें भी समान काल में जन्मे हुए हम जो बन्धन में पड़े हैं उनको छुड़ाओ। इस प्रकार का लौकिक बन्धन, ज्ञान से नहीं छुड़ाया जाता है, इसलिए असाधन से साध्य की प्रार्थना कैसे करते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि मागध (जरासन्ध) कर्मपाश का ही दूसरा नाम है, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इस वाक्य से, देश नाम से स्थिति होने से अधिक कर्मों की उत्पत्ति का सम्भव है, जिससे उनका भोग से क्षय होने का नहीं, मागध कर्म है, इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में 'यो भूभुजोऽयुत' कहा है, दश सहस्र हस्तिओं में जितना पराक्रम होता है उतना इस एक में है, इतना वीर्य किसी एक कर्माधीन में नहीं होता है, इसलिए वह कर्म रूप है, अतः हम राजाओं का भोग का हेतु आधिभौतिक कर्म निवारण कर स्वयं आधिदैविक बन बैठा है, अतः केवल एक ज्ञान से निवृत्त के योग्य है, यदि यों है तो उसको राज्य देकर उसके सेवक ही क्यों नहीं बन जाते हो, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मृगराडिवावीः' जैसे सिंह भेड़ को खाने के लिए ही पकड़ लेता है वैसे ही इसने भी हमको प्रमथ नाथ के यज्ञ में बलि देने के लिए बन्धन में रखा है, अतः तामस देवता को जो समर्पित हो, उनका वहां ही प्रवेश होने से कालान्तर में भी मोक्ष नहीं होता है, इसलिए मरण से पहले ही हम छुड़ाने के योग्य हैं, कहने का यह ही भाव है, यदि कहो कि भाग जाओ तो वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि उसके घर में हम कैद हैं ॥२९॥

आभास—भगवतो भोगासक्तिं निवारयन्त इव, रक्षासक्तिं प्रकटयन्तः भगवदीयत्वं स्वस्य वदन्तः भगवतो वैराग्यशक्तिमुररीकुर्वन्तः वैषम्यनैर्घृण्यपरिहारार्थं पूर्वं भगवद्वृत्तान्तमाहुः **यो वै त्वयेति**।

आभासार्थ— भगवान् की भोगासक्ति का मानो निवारण करते हुए, रक्षा शक्ति को प्रकट करते हुए, अपना भगवदीय कहते हुए, भगवान् की वैराग्य शक्ति को स्वीकार करते हुए भगवान् के वैषम्य नैर्घृण्य[1] दोषों के परिहार करने के लिए भगवान् के पूर्व वृत्तान्त को 'यो वै त्वया' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र-**
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम्।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि ॥३०॥

---

[1] पूर्व वृत्तान्त कहने से यह दिखाया है कि यह अभिमानी हो गया है, अतः इसके हित के लिए इसको मारना चाहिये, यों कह कर वैषम्य नैर्घृण्य दोष का परिहार किया है।

श्लोकार्थ—जिसको आपने अठारह वार युद्ध में अपने चक्र से भगाया है, वह आपको केवल एक वार जीतकर अभिमान में आ गया है, जिससे आपकी प्रजा जो हम हैं, उनको दुःख दे रहा है, अतः हे अजित! हम लोगों की रक्षा कर इसको जीत अपने 'अजित' नाम को सार्थक करो ॥३०॥

सुबोधिनी—वस्तुतस्त्वष्टादशेऽपि कार्यस्यासिद्धत्वाद्भङ्ग एव, अत आह **द्विनवकृत्व** इति प्रजापतिर्वा विद्या वा न तस्य जयहेतुरिति रजस्तमोगुणावेव इतरसंश्लेषादाधिदैविकादिभेदापन्नौ हेतू इति नवसङ्ख्यायाः आवृत्तिरुक्ता। भगवन्माहात्म्यात्तद्गताधिदैविकैरेव भङ्गं व्यावर्तयितुमाह **उदात्तचक्रेति**। चक्रेण कालशक्त्यैव भक्षणार्थं व्यात्तया मृधे स भग्नः। **खल्विति**। नात्र तिरोहितं किञ्चिदिति सूचितम्। ननु जयापराजययोरव्यवस्थितत्वात् कथमेकस्यैव पराजय इति चेत्। तत्राहुः **भवन्तमनन्तवीर्यमिति**। परिमितबलानामेव जयाजयव्यवस्था। तथापि कपटवेषलीलायाः प्रकटितत्वात्तद्विरोधाभावाय नृलोकनिरतम्। सकृद्घुणाक्षरन्यायेन गूढहेतोर्वा जित्वा ऊढदर्पो जात.। वयं तु केवलं भवत्परिपाल्या एव, मर्यादापरित्यागेन पुष्टिमार्गावलम्बनात्। अतो यस्य भवदपेक्षाभावः तेन सर्वथैव बाध्याः। अतो युष्मत्प्रजाः रुजति पीडयति। तर्हि लोकन्यायस्य स्वीकृतत्वात् कथं मोचनमिति चेत्। तत्राहुः **हे अजितेति**। तव स्वरूप**मजि**तेति। 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय' इति न्यायेन लीलाप्रदर्शनं दूरीकृत्य अस्मान् पालयन् तत्स्वस्याजितत्वं विधेहि। अनेन सर्वे सन्देहा अनुपपत्तयश्च निवारिताः ॥३०॥

व्याख्यार्थ— वास्तविक रीति से तो अठारहवें में भी कार्य असिद्ध होने से भंग ही हुआ, अतः 'द्विनवकृत्व' यों कहा प्रजापति अथवा विद्या उसके जय का कारण नहीं, इसलिए रजोगुण और तमोगुण परस्पर मिलने से आधिदैवादिकादि भेद को प्राप्त हुए वे ही हेतु हैं, इसलिए नव सङ्ख्या की आवृत्ति कही है, 'उदातचक्रभग्न' पद से यह सूचित किया है कि आधिदैविकादि भेद को प्राप्त हेतुओं से भंग न हुवा है, किन्तु भगवान् के माहात्म्य से भक्षण के लिए व्याप्त काल शक्ति से ही युद्ध में चक्र द्वारा वह भग्न हुआ निश्चय से इसमें कुछ भी तिरोहित नही है यह सूचित किया है, जय और पराजय निश्चित न होने से कैसे एक को ही पराजय कहते हो? यदि यों कहो तो कहते हैं कि जय और पराजय की व्यवस्था परिमित बल वालों की ही कही जाती है, आप तो अनन्तवीर्य हैं वहां यह व्यवस्था नहीं है वहां तो जय ही निश्चित है, तो भी कपट वेष की लीला के प्रकट होने से उसका विरोध न होवे इसलिए मनुष्य लोक में आप नितराम् रत हैं, अतः एक बार घुणाक्षर न्याय से अथवा इसमें कोई गूढ़ हेतु छिपा हुआ है जिससे वह जीत कर महान् अभिमानी हो गया है, हम तो केवल आपके परिपाल्य ही हैं, क्योंकि हमने मर्यादा का त्याग कर अनुग्रह मार्ग का आश्रय लिया है अतः जिसको आपकी अपेक्षा नहीं है उससे सर्व प्रकार से ही हम दुःखी हो रहे हैं इसलिए आपकी प्रजा जो हम हैं वे दुःखी हो रहे हैं कारण कि वह हमको पीड़ा कर रहा है, हमने तो अब लोक न्याय का स्वीकार किया है अतः कैसे छुड़ावें? यदि यों कहते हो तो कहते हैं कि आप 'अजित' हैं आपका स्वरूप किसी से जीता नहीं जाता है, 'द्रव्य और संस्कार का जहां विरोध होता है वहां द्रव्य बलवान् होता है' इस न्याय से लीला का प्रदर्शन दूर कर हमारी पालना करते हुए, वह अपना अजित पन पालन करो, यों कह कर सर्व सन्देह और अनुपपत्तियों का निवारण किया ॥३०॥

आभास—तेषां प्रार्थना आज्ञापनरूपत्वात् दोषाय मा भवत्विति प्रपत्तिरूपतां सम्पादयितुं दूतस्तात्पर्यमाह **इतीति** ।

आभासार्थ— यद्यपि उनकी प्रार्थना आज्ञा पन रूप जैसी होने से दोष के लिए न हो, इसलिए उस प्रार्थना की शरण रूपता सम्पादन करने के लिए, 'दूत' इति श्लोक से यों कहते का तात्पर्य कहता है ।

श्लोक—दूत उवाच—**इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः ।**
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—दूत ने कहा कि मागध ने जिनको कैद कर रखा है, वे आपके दर्शन की इच्छा वाले हैं, आपके चरण मूल की शरण ली है, अतः इन शरणागत दीनों का कल्याण करो अर्थात् इस बन्धन रूप दुःख का नाश कर सुख दीजिए ।।३१।।

सुबोधिनी—इति ते पादमूलं प्रपन्नाः, मागधेन च संरुद्धाः, 'दृष्टं स्मृतेर्बलिष्ठ'मिति स्मरणेन कार्यं न सेत्स्यतीति भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः । दीनानां प्रार्थितदानेन शं विधीयतामिति । दूतस्य भगवत्साक्षात्कारे जाते तत्फलस्यैव प्रार्थना येन प्रार्थनाद्वयं दर्शनफलं चेति भवति साधकत्रयम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उन्होंने आपके चरण की शरण ली है, मागध ने तो कैद कर रखे हैं, यदि कहो कि वहाँ ही मेरा स्मरण करते रहते, जिसका उत्तर देते हैं कि 'दृष्टं स्मृतेर्बलिष्ठं', स्मरण से प्रत्यक्ष दर्शन बलवान् है, स्मरण से कार्य सिद्ध नहीं होगा, इसलिए दर्शन की इच्छा वाले हैं, दीनों ने जो प्रार्थना की है, उसका दान कर कल्याण कीजिए, दूत को भगवान् का साक्षात्कार होने पर जो फल प्राप्त हुआ, उस फल की तरह प्रार्थना की है, जिससे दो प्रार्थना और दर्शन फल यों तीन साधक हो गए ।।३१।।

आभास—एवं राजसानां भगवद्धर्मेण भगवत्परतां निरूप्य सात्त्विकानामपि भगवत्परतां निरूपयितुं सात्त्विकमुख्यस्य नारदस्य सात्त्विककार्यपरस्य समागमनं निरूप्यते । अन्यथा भगवत्कार्यं राजसमात्रपर्यवसायि स्यात् । क्षणमात्रविलम्बेऽपि भगवान् भक्तदुःखे विलम्बं न सहत इति राजदूते एवं वदत्येव समागत इत्याह **राजदूत** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार राजसों की भगवद्धर्म से भगवत्परता का निरूपण कर, सात्विकों की भी भगवत्परता निरूपण करने के लिए, सात्विकों के कार्य के परायण नारदजी का आगमन निरूपण किया जाता है, यदि यह निरूपण न किया जाय तो भगवान् का कार्य केवल राजसपर्यवसायी हो जाय, भगवान् क्षण मात्र भी भक्तों के दुःख सहन करने में विलम्ब होना नहीं चाहते हैं, अतः राजदूत के इतना कहते ही भगवान् नारद आ गए, 'राजदूते' श्लोक में शुकदेवजी यों कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**राजदूते ब्रुवत्येवं वेदर्षिः परमद्युतिः ।**
बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी बोले कि राजदूत इस तरह विनती कर रहा था, इतने में पीली जटा धारण किए, परम कान्ति वाले नारदजी वहाँ सूर्य के समान प्रकट हो गए ।।३२।।

सुबोधिनी—देवानामपि मन्त्रद्रष्टृत्वात् तदानीमागमनमुचितम् । अन्येषां बाधकानां तेजोदूरीकरणाय **परमद्युतिरिति** । अधिकारिणो नात्यन्तं वचनमादरणीयमिति शङ्कां वारयितुमाह **बिभ्रत्पिङ्गजटाभारमिति** । तपोरूपमेतत् । तत्रत्यानां तमोदोषव्यावृत्त्यर्थं **यथा रविरिति** । रविपदेनैव भगवत्सान्निध्ये तमःसम्भावना सूचिता । अन्यथा दिनरात्रिव्यवस्था न स्यात् । **प्रादुरासीदिति** न दूतवत्तस्यागमनम् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—देवता मन्त्रद्रष्टा हैं, अतः उस समय इनका आना उचित ही है । अन्य बाधकों का तेज दूर करने के लिए आप पधार रहे हैं, इसलिए कहा है कि परम कान्ति वाले हैं अर्थात् अपनी कान्ति से बाधकों का तेज मिटा देंगे, अधिकारी का वचन अत्यन्त आदर देने के योग्य नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि उनके सिर पर पीली बड़ी जटाएँ थी, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह नारदजी तपो रूप हैं, अतः इनके वचन आदरणीय हैं, वहाँ बैठे हुए लोगों के तमोगुण के दोषों को मिटाने के लिए पधारे हैं, अतः कहा है कि 'यथा रविः' जैसे सूर्य अन्धकार मिटाता है, वैसे रवि पद कहकर यह भी सूचित किया है कि भगवान् के सान्निध्य में अन्धकार भी रहता है, यदि भगवान् के पास अन्धकार न रहे तो दिन और रात्रि की व्यवस्था ही न हो सके । 'प्रादुरासीत्' पद कहकर यह सूचना दी है कि दूत की तरह आपका पधारना न हुआ, किन्तु सूर्य की तरह प्रकट हो गए ।।३२।।

आभास—ततः तस्यागतस्य वाक्यसन्माननार्थं लौकिकसन्मानननं निरूप्यते **तं दृष्ट्वे**ति त्रिभिः ।

आभासार्थ—आ जाने के अनन्तर आए हुए उनका वाक्यों से सन्मान करने के लिए लौकिक सन्मान 'तं दृष्ट्वा' से लेकर तीन श्लोकों में निरूपण किया जाता है ।

श्लोक—**तं दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।**
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा ।।३३।।

श्लोकार्थ—सब लोकपालों के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सब सभासदों और अनुजों के साथ नारदजी को देखते ही उठकर खड़े हो गए और सिर नमाकर प्रणाम किया ।।३३।।

सुबोधिनी—कायिकमानसिकवाचनिकैः। तत्र कायिकमुत्थानं वन्दनं च सर्वैः सहेति त्रयम्। हर्षो मानसः। भगवत्त्वादनुचितत्वेऽपि कृष्णत्वेनावतीर्ण इति तथात्वमुचितम्। शिक्षार्थमेतादीति ज्ञापयितुमाह **सर्वलोकेश्वरेश्वर** इति। ऋषित्वाल्लोकस्थानीयः गुरुत्वादीश्वरो वा। अतोऽवनतिर्न दोषाय। **सर्वपदेन** देवर्षित्वकृतोऽप्युत्कर्षो निवारितः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—कायिक, मानसिक और वाचनिक; यों तीन प्रकार से सन्मान किया। उनमें से प्रथम कायिक किस प्रकार किया ? वह कहते हैं, सब सभासद एवं अनुजों के साथ उठकर खड़े हुए और नमस्कार किया। हर्ष से किया, यह मानस आदर किया। यद्यपि भगवान् होने से नारदजी के आने पर उठना तथा उनको प्रणाम करना उचित नहीं था, तो भी अब कृष्ण रूप से अवतार लिया है, अतः अवतार दशा में यों करना योग्य है। यों करना अन्यों को शिक्षा देने के लिए है कि गृह में आए हुए का इस प्रकार सन्मान करना चाहिए। देखो ! कि मैं सर्व लोकपालकों का ईश्वर होकर भी गृहागत का किस प्रकार आदर करता हूँ ? नारदजी का इस प्रकार आदर करने से भगवान् की हीनता, दोष के लिए नहीं है; क्योंकि ऋषिपन से लोक स्थानीय है अर्थात् लोक में मन्त्रद्रष्टा होने से श्रेष्ठ हैं, गुरु होने से ईश्वर सम है। 'सर्व' पद से देवर्षिपन से जो उत्कर्ष है, उसका भी निवारण किया ॥३३॥

श्लोक—**सभाजयित्वा विधिवत्कृतासनपरिग्रहम् ।**
बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—नारदजी का विधि अनुसार पूजन कर, उनको आसन दिया, मधुर वचनों से और श्रद्धा से मुनि को प्रसन्न करते हुए भगवान् बोलने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी—सभाजनं तन्मनःप्रीतिकरणं लौकिकम्। ऋषित्वाद्वेदाभिनिवेश इति, तदप्याह **विधिवदिति**। ईश्वरधर्मविचारेण कदाचिदनङ्गीकारे कृतं व्यर्थं स्यादित्यत आह **कृतासनपरिग्रहमिति**। दत्तासनस्वीकारः परिग्रहः। ततो वाचनिकारम्भमाह **बभाषे सुनृतैरिति**। स हि श्रद्धया परितुष्यति, तदाह **श्रद्धया तर्पयन्निति**। मानसमेतत्। सोऽपि मुनिस्तेनैव परितुष्यति ॥

व्याख्यार्थ—'सभाजनं' अर्थात् उनके मन को प्रसन्न करना, यह लौकिक है, ऋषिपन से वेद में भी पूर्ण प्रवेश है, अतः उनका पूजनादि से आदरादि विधिवत् किया। ईश्वर धर्म के विचार से यदि कदाचित् वह पूजनादि स्वीकार न करे तो किया हुआ व्यर्थ होगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि उन्होंने पूजन स्वीकार किया जैसा कि 'कृतासन परिग्रह' भगवान् के दिए हुए आसन पर बिराजे, पश्चात् वाचनिक सत्कार करने लगे, वह कहते हैं कि 'बभाषे सुनृतैः' मधुर वाक्य कहने लगे, वे भी श्रद्धापूर्वक कहकर उनको प्रसन्न किया; क्योंकि श्रद्धा मानस-पूजन है, वह मुनि भी उससे ही प्रसन्न होता है ॥३४॥

आभास—वाचनिकं द्वयेनाह **अपि स्विदिति ।**

आभासार्थ—वाचनिक 'अपि स्वित्' दो श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—**अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् ।**
ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः ॥३५॥

श्लोकार्थ—भला अभी तीनों लोक निर्भय हैं, आप भगवान् के लोकों में पर्यटन से महान् लाभ है ॥३५॥

सुबोधिनी—सर्वलोकाधिकारिणो लोकत्रयस्य गृहत्वात् तत्कुशलप्रश्न एव कर्तुमुचितः स्तुतिरूपश्च भवति। **अपि स्विदिति** सन्देहगर्भितसम्भावना। राज्ञां बन्धनस्य श्रुतत्वात् सन्देहः। **अकुतोभयमिति**। स्वत एवाज्ञानाद्भयम्, न त्वन्यत इति रहस्यम्। ननु लोकेश्वरस्य कथं पर्यटनमित्याशङ्क्याह **ननु भूयान् भगवत** इति। लोकान् पर्यटतो भगवतस्तव सतः भूयानेव गुणो भवतीत्यर्थः। अतः सर्वलोकहितार्थं परिभ्रमणमित्यर्थः। अनेन तस्य स्तुतिरुक्ता ॥३५॥

व्याख्यार्थ—सर्व लोकों में जाने के अधिकारी के तीनों लोक गृह हैं, उससे कुशल प्रश्न ही करना योग्य है और वह स्तुति रूप होता है। 'अपि स्वित्' इस पद से सन्देह की गर्भित सम्भावना जानने में आती है, राजाओं के बन्धन सुनने से सन्देह होता है। 'अकुतोभयम्' पद का निगूढ आशय यह है कि अन्य किसी से भय नहीं है, किन्तु केवल अपना अज्ञान होने से ही भय है। लोकेश्वर भ्रमण कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि लोकों में भगवान् के भ्रमण होने से बड़ा गुण है अर्थात् लाभ है कारण कि इनका भ्रमण सर्व लोकों के हित के लिए है, यों कहने से उनकी स्तुति कही है ॥३५॥

आभास—प्रकृतोपयोगिकार्यं प्रष्टुं तस्य ज्ञानमाह **न हि तेऽविदितं किञ्चिदिति ।**

आभासार्थ—प्रकृतोपयोगी कार्य के पूछने के लिए उसका ज्ञान 'न हि ते' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु ।**
अथ पृच्छामहे युष्मान्पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—ईश्वर के बनाए हुए लोकों में जो कुछ है, वह आप से गुप्त नहीं है, इसलिए पाण्डवों की क्या इच्छा है ? वह आप से पूछते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—अयं हीश्वरस्येच्छाशक्तेराधिभौतिकरूपः, यावद्भगवानिच्छति, करोति च, तत्सर्वमस्य विदितम्। **ईश्वर** इति। मूलभूतः काल इति विमर्शः। अत ईश्वरेच्छया पाण्डवानां यच्चिकीर्षितम्, तत्तव विदितमेवेति युष्मान् पृच्छामहे। हे **आयुष्मन्निति** वा। **अथशब्दो** हेत्वर्थः आनन्तर्यपर्यायः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यह नारद, ईश्वर की इच्छा शक्ति का आधिभौतिक रूप है, भगवान् जो चाहते हैं और करते हैं, वह सब इनको मालूम है; क्योंकि 'ईश्वर' हैं, मूलभूत काल है, यों विमर्श है, अतः ईश्वर की इच्छा से पाण्डव जो करना चाहते हैं, वह आपको मालूम ही है, इसलिए आपसे हम पूछते हैं अथवा हे आयुष्मन्! यों पाठ समझना। 'अथ' शब्द यहाँ हेतु अर्थ में है वा आनन्तर्य का पर्यायवाची है ॥३६॥

आभास—भगवत्कृतं कायिकं वाचनिकं च तथा नोचितमिति, कदाचिदुपस्थितमन्यथा कुर्यादिति, तन्निराकरणार्थं मायाभावं प्रार्थयते **दृष्टा मयेति** त्रिभिः।

आभासार्थ—भगवान् ने जो कायिक और वाचनिक जिस प्रकार किया, वह उचित नहीं, यों कदाचित् उपस्थित भगवत्प्रश्न मेरा जन अन्य प्रकार से करे अर्थात् अनुचितत्व ज्ञान होने पर न कहे, भगवान् के किए हुए कार्य की अनुचितता का जो ज्ञान होता है, वह माया का कार्य है, इसलिए उस माया का अभाव हो, वैसी प्रार्थना 'दृष्टा' श्लोक से तीन श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—श्रीनारद उवाच–**दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया माया**
विभो विश्वसृजश्च मायिनः।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभिर्वह्नेरिव
च्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे भूमन्! आप, जो ब्रह्माजी को भीं मोहित करने वाले और अपनी शक्तियों से प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से जैसे काष्ठ में अग्नि प्रकाश को छिपाकर विचरण करती है, वैसे आप भी तेज को छिपाकर विचरण कर रहे हैं, अतः यों प्रश्न करना मेरे लिए किसी प्रकार अद्भुत नहीं है ॥३७॥

सुबोधिनी—अनेकधा सर्वजनव्यामोहिकाः बहुधा प्रवर्तमाना मया दृष्टाः। तत्र स्वाज्ञानप्रकटनेन हीनभावप्रकटनेन च केवलमेकस्य मम व्यामोहनं किमाश्चर्यमिति वाक्यार्थः। मायायाः स्वरूपज्ञानमेवात्ययोतिक्रमः। तद्भगवन्मायासु न कस्यापि भवतीति दुरत्ययाः। वस्तुव्यभिचारे सकृदवगते पुनः प्रदर्शिता माया ज्ञाता भवतीति शङ्कां वारयितुं बहुश इत्युक्तम्। एका सहस्रधा प्रदर्शितापि न बुध्यत इति। एवं करणे सामर्थ्यमाह **विभो** इति। प्रयोजनमाह **विश्वसृज** इति। मायया जीवव्यामोहाभावे विश्वोत्पत्तिर्न स्यात्। चंकारात्स्थितिप्रलयौ। किञ्च। मायी भगवान्, मायानामेक एवाश्रयः, तासामप्रदर्शने प्रचार एव न स्यादित्यावश्यकत्वमुक्तम्। किञ्च। मायानामप्रकटीकरणे महत्त्वे वानुपपत्तिरित्यभिप्रायेणाह **भूतेषु भूमंश्चरत** इति। चरणावश्यकत्वाय संबोधनम्। सकलभूतसम्बन्धो हि भूमा। तद्गतदोषसम्बन्धाभावाय **स्वशक्तिभिरि**त्यसाधारणसामर्थ्यैः। अन्यथाभिमानमात्रे जीवे सर्वावस्थाः प्रवृत्तयश्च न भवेयुः। ननु भगवतः सर्वे गुणाः सर्वत्र प्रसिद्धाः, मायागुणः क्व प्रसिद्ध इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **वह्नेरिव छन्नरुच** इति। वह्निर्जलादौ प्रविष्टः स्वकार्यं कुर्वन्नपि छन्नरुग्भवति। रूपस्पर्शयोर्मध्ये अन्यतरप्राकट्यं ज्ञातधर्मस्य मायया विना न सम्भवतीति वह्नेः प्रथमोत्पन्नस्य स्वधर्मः प्रकट इत्यर्थः। यस्तु भगवतो माहात्म्यं जीवेषु समत्वादिकं च पश्यति, तस्य विरुद्धधर्मदर्शनादद्भुतज्ञानं भवति। मम तु दर्शनेऽपि सिद्धान्तार्थपरिज्ञानान्नाद्भुतं आश्चर्यज्ञानजनकं न भवतीत्यर्थः। इममेवार्थं पुरस्कृत्य मायया विरोधसमाधानमिति वाक्यं भ्रमादन्यथा कैश्चिद्योजितम्। ३७॥

व्याख्यार्थ—नारदजी कहते हैं कि मैंने जहाँ अनेक प्रकार सर्व जनों को मोहित करने वाली, विविध प्रकार से प्रवृत्त हुई आपकी मायाएँ देखी हैं, वहाँ अपने अज्ञान प्रकट करने से और हीन भाव प्रकट करने से, केवल अकेले मुझको मोहित करना, इसमें मुझे कौनसा आश्चर्य होगा? यों वाक्यार्थ है। माया के स्वरूप का ज्ञान ही उसका अतिक्रमण करना है। भगवन्मायाओं का वह स्वरूप ज्ञान किसी को भी नहीं होता है, इसलिए मायाएँ दुरत्यय हैं अर्थात् उनका अतिक्रमण कर पार पहुँच जाना कठिन है। यदि कहो कि वस्तु का व्यभिचार करने से देखने में आई माया को एक वार समझा जावे, तो माया के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए 'बहुशः' एक, हजार प्रकार से वा हजार वार दिखाई हुई भी समझ में नहीं आती है, यों करने में सामर्थ्य है, जिसको कहते हैं कि 'विभो' आप सर्व प्रकार सामर्थ्यवान हैं, प्रयोजन कहते हैं, 'विश्वसृजः' आप विश्व को रचते हैं, यदि माया से जीव व्यामोह में न पड़े तो विश्व की उत्पत्ति ही न हो सके। 'च' पद से विश्व की स्थिति और प्रलय भी कही है, 'किञ्च' और विशेष भगवान् मायी हैं, मायाओं के एक आप ही आश्रय स्थान हैं, उन मायाओं का यदि प्रदर्शन न किया जाय तो प्रचार ही न हो सके, इसलिए यों करना आवश्यक कहा है, मायाओं के प्रकट न कर दिखाने में महत्व की उत्पत्ति नहीं होगी, इस अभिप्राय से कहा है। 'भूतेषु भूमंश्चरत' चरण की आवश्यकता सिद्ध करने के लिए भूमन्! यह पद सम्बोधन में कहा है, समस्त भूतों में जिसका सम्बन्ध है, ऐसा भूमा है अर्थात् भूत मात्र से उसका सम्बन्ध है, यदि भूतों से सम्बन्ध वाला भूमा है, तो उनके दोष भूमा में आ गए होंगे, उनके दोषों का सम्बन्ध भूमा से नहीं है यह जताने के लिए कहा है कि 'स्वशक्तिभिः' अपनी असाधारण शक्तियों के होने से दोषों का सम्बन्ध नहीं होता है, अन्यथा का तात्पर्य 'अभिमान मात्रे' पद है, सचमुच भूतों में 'चरण' नहीं है, किन्तु केवल अभिमान है, ऐसे जीव में सर्व प्रकार की अवस्थाएँ और प्रवृत्तियाँ नहीं होनी चाहिए, भगवान् सर्वगुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, मायागुण कहाँ प्रसिद्ध है? अर्थात् प्रसिद्ध नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए दृष्टान्त देते हैं। 'वह्नेरिवछन्न रुचः' जैसे अग्नि उष्ण जल आदि में प्रविष्ट होकर अपना कार्य धूम्र आदि करती हुई भी प्रकट देखने में नहीं आती है तथा अग्नि से जल उत्पन्न होने से जल अग्नि का कार्य है अर्थात् धर्म है, उस धर्म रूप जल से अग्नि छादित है, जिससे देखने में नहीं आती है, वैसे भगवान् सबको प्रकाशित करते हुए भी स्वयं अपनी शक्ति माया से अपने स्वरूप को छिपा देते हैं, जिससे मायागुण की प्रसिद्धि है, अग्नि के धर्म, रूप और स्पर्श को जानने वाले पुरुष के आगे वह्नि का रूप और वायु के मिलाप से आया हुआ स्पर्श, इन दोनों में से जैसे एक स्पर्श का ही प्राकट्य होता है, वैसे ही जल की भाँति माया ने ही भगवान् के स्वरूप का आच्छादन किया है। इस माया गुण से ही माया की प्रपञ्च में प्रसिद्धि हुई है। जो मनुष्य जीवों में समानतादि भगवान् के माहात्म्य को देखता है, उसको विरुद्ध धर्मों के दर्शन से अद्भुत ज्ञान होता है, मुझे दर्शन में भी सिद्धान्त के तत्वज्ञान होने से,

न कुछ अद्भुत वा आश्चर्य ज्ञानजनक देखने में आता है, इसी अर्थ को आगे कर माया से विरोध का समाधान है, इस प्रकार के वाक्य को किसी ने भ्रम से अन्य प्रकार से लगाया है ॥३७॥

आभास—नन्वद्भुतकर्मा भगवान्, कथं तस्य चरित्रदर्शनेनाश्चर्यमिति चेत्, तत्राह **तवेहितं कोऽर्हतीति** ।

आभासार्थ—भगवान् अद्भुत कर्म करने वाले हैं, तब उनके चरित्र दर्शन से आश्चर्य कैसे? यदि यों कहो तो 'तवेहितं' श्लोक से इसका उत्तर देते हैं ।

श्लोक—**तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं स्वमाययेदं सृजतो नियच्छत ।**
यद्विद्यमानात्मतयावभासते तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥३८॥

श्लोकार्थ—अपनी कर्तृत्वादि माया शक्ति से जगत् को उत्पन्न कर फिर अपने में लीन करते हो, ऐसे आपकी क्या-२ करने की इच्छा है, जिसको कौन जानने के योग्य है? जो नहीं है, वह भी भास रहा है, वैसे विलक्षण स्वरूप वाले आपको मेरा प्रणाम है ॥३८॥

सुबोधिनी—इदमित्थतया चरित्रज्ञाने प्रतिनियतधर्मे च चरित्रे विरोधज्ञानादाश्चर्यं भवति। तदेव तु न सम्भवति, यतः को वा तवेहितं **साधु** इदमित्थतया **वेदितुमर्हति**। तत्र हेतुः **स्वमाययेदं सृजतो नियच्छत** इति। मायाबहिर्भूतो हि वस्तुनो मायाया वा याथात्म्यं जानाति, विश्वमेव हि मायया सृजति, हरति, तस्मादिह लोके परलोके वा न कोऽपि तत्त्वं जानाति। ननु बाधितार्थत्वेन मायायास्तत्त्वं कुतो न ज्ञायत इति चेत्, तत्राह **यद्विद्यमानात्मतयावसीयत** इति। यदविद्यमानमपि विद्यमानात्मतया निश्चीयते। अतो ज्ञानाभावात्केवलं तस्मै ते नमः। जीवस्वरूपान्नमस्कारयोग्यत्वाय सर्ववैलक्षण्यमाह **स्वविलक्षणात्मन** इति। स्वत एव सर्वविलक्षण आत्मा यस्येति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—आपके चरित्र को, यह इस तरह है, जानने पर आपके जो नियत धर्म हैं, उनको भी जान लेने पर चरित्र और नियत धर्मों में विरोध देखने में आता है, जिससे आश्चर्य होता है, वह तो सम्भव ही नहीं है फिर भी जो विरोध समझा जाता है, उसका कारण यह है कि आप कौनसा चरित्र किस भाव से और किस लिए कर रहे हैं इस आपके हार्द को कोई जानने के योग्य नहीं है। जिसका कारण यह है कि अपनी माया से इस जगत् को रचते हो फिर लीन कर डालते हो। माया से जो बहिर्भूत है अर्थात् जिस पर माया का प्रभाव नहीं है, वह ही वस्तु के तथा माया के सच्चे स्वरूप को जानता है, दूसरा कोई नहीं; क्योंकि विश्व को ही माया से बनाते और हरण करते हो, इससे इस लोक और परलोक में कोई भी तत्व को नहीं जानता है। यदि कहो कि बाधितार्थ होने से माया का तत्व क्यों नहीं जाना जाता है? इस पर कहते हैं कि जो विद्यमान नहीं है, वह भी विद्यमान आत्मपन से निश्चय किया जाता है। जैसे कि वास्तव में सर्व आत्मा है, अन्य कुछ नहीं है तो भी अविद्यमान जो घटत्व है, उसका ही विद्यमानत्व निश्चय किया जाता है, अतः भगवान् के ज्ञानाभाव से इस प्रकार के भगवान् की स्थिति होने पर प्रपञ्च का हीनत्व कथन ही बाधितार्थ है, इस प्रकार के ज्ञानाभाव से आच्छादन करने वाला माया तत्व भी नहीं जाना जाता है, हममें ज्ञान का अभाव है, इसलिए हम वैसे आपको केवल नमस्कार ही करते हैं, आपका स्वरूप स्वतः ही सर्व विलक्षण है, जिससे जीव स्वरूप हम आपको नमस्कार करने के ही योग्य हैं ॥३८॥

आभास—नन्वेवं सति भगवाननर्थहेतुः कथं सेव्य इति चेत्, तत्राह **जीवस्येति** ।

आभासार्थ—यदि यों है तो अनर्थ के हेतु भगवान् कैसे सेवन के योग्य हैं? इसका उत्तर 'जीवस्य' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।**
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये ॥३९॥

श्लोकार्थ—अनर्थ रूप शरीरों को ग्रहण कर संसार में विचरण करता हुआ जीव संसार से कैसे छूटे, इसको नहीं जान सकता, यदि आप लीलावतारों से प्रकट होकर अपना यश रूप दीपक प्रज्वलित कर अज्ञानान्धकार मिटा कर शरण मार्ग न दिखाते, वैसे जो आप दयालु हैं, उनकी हम शरण आए हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—यः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत्, तं त्वामहं प्रपद्य इति सम्बन्धः। तदा भगवाननर्थहेतुः स्यात्, यद्यनन्तं संसारं सृजेत्, द्वाराभावं वा सर्वथाऽज्ञानं वा। प्रत्युत सर्वपदार्थज्ञानाय स्वयशःप्रदीपकं वेदपुराणेषु प्रसिद्धमवतारं गृहीत्वा प्राज्वालयत्। अन्यथा शब्दैकनिष्ठस्य न कदापि धर्मः प्रसिद्धो भवेत्। भगवन्मायान्धकारे यश एव प्रदीपो भवति, न ज्ञानादि, 'ज्ञानकाशये'ति वाक्यात्। प्रज्वालनहेतवोऽपि न दुःखसम्पाद्याः, किन्तु लीलावताराः। तत्प्रपन्नायैव प्रज्वालयतीति तं त्वामहं प्रपद्ये ॥३९॥

व्याख्यार्थ—जिसने अपने यश रूप दीपक जलाये हैं, उस आपकी शरण मैं ले रहा हूँ, यों सम्बन्ध है। भगवान् अनर्थ के हेतु तब बनें, जब अनन्त संसार को रचें, किन्तु उनसे छूटने का द्वार न रखें अथवा सर्वथा अज्ञान ही रहे। बल्कि आपने तो उनसे छूटने के लिए, सर्व पदार्थों का जैसे सच्चा ज्ञान हो जावे, इसके लिए वेद और पुराणों में प्रसिद्ध लीलावतार धारण कर अपना यश रूप दीपक जला दिया है, जिस प्रकाश से जीव का अज्ञानान्धकार मिट जाता है। जीव बिना क्लेश शरण लेकर संसार से पार हो जाता है। यदि आप (भगवान्) यों कृपा कर न करते तो शब्द मात्र में निष्ठा वाले को कभी भी धर्म सिद्ध न होता। भगवान् के मायान्धकार को नाश करने के लिए यश ही दीपक है, न ज्ञान आदि। 'ज्ञानकाशया' इस वाक्य से दीपक प्रज्वलित करने वाले कारण भी दुःख से सम्पादन करने योग्य नहीं अर्थात् वे भी सरल हैं; क्योंकि वे 'लीलावतार' हैं, उनकी

शरण जाते ही वे यश दीपक स्वतः प्रकाश दे देते हैं, इसलिए ऐसे आपकी शरण में आया हूँ ।।३९।।

आभास—अतो यद्यपि ज्ञात्वैव व्यामोहार्थमज्ञाननाट्यं करोषि, तथापि पृष्टेर्थे उत्तरं दास्ये इत्याह **अथापीति** ।

आभासार्थ—अतः यद्यपि जानकर ही अज्ञान का नाट्य करते हैं तो भी जो आपने प्रश्न किया है, उसका उत्तर दूँगा, यों 'अथापि' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**अथाप्याश्रावये ब्रह्मन् नरलोकविडम्बनम् ।**
राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ।।४०।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! यद्यपि आप मनुष्य नाट्य दिखा रहे हैं, तो भी आपकी बूआ (भूवा) के बेटे एवं आपके भक्त राजा युधिष्ठिर की इच्छा को सुनाऊँगा ।।४०।।

सुबोधिनी—भूमन्निति । तवात्मसङ्गोपनमावश्यकमिति । कथने हेतुः **ब्रह्मन्निति** । वेदवत्तवाज्ञा सर्वैरेव कर्तुं शक्येति सूचितम् । यदस्मत्सन्तोषार्थं लोककुशलं पृष्टम्, तस्य स्तुतिपरत्वात्तत्रोत्तरं न दास्यामि, किन्तु पैतृष्वस्रेयस्य युधिष्ठिरस्य चिकीर्षितमाश्रावयिष्ये । राज्ञो हि चिकीर्षितं प्रजानां हितकारि भवति, बन्धोर्बन्धूनां हितकारि भक्तस्य भगवतः चकारात्सर्वेषां गुणवतः ।।४०।।

व्याख्यार्थ—आपको अपने को छिपाना आवश्यक है; क्योंकि आप 'ब्रह्म' हैं, यों कहने से यह सूचित किया कि वेद की तरह आपकी आज्ञा सबको माननी चाहिए । आपने जो मुझ से लोक कुशल पूछा, वह मेरे सन्तोष करने के लिए पूछा है और वह स्तुति परायण है, अतः उसका उत्तर न दूँगा, किन्तु आपके भक्त तथा बूआ के बेटे राजा युधिष्ठर की क्या करने की इच्छा है, वह बताऊँगा, राजा जो करना चाहता है, वह कार्य प्रजाओं का हित करने वाला होता है, बन्धु जो करना चाहता है, वह बान्धवों का हितकारी होता है, भक्त जो करना चाहता है, वह भगवान् का हितकारी होता है । 'च' पद से यह जताया है कि भगवान् जो करना चाहते हैं, वह सबका हितकारी होता है ।।४०।।

आभास—तदेवाह **यक्ष्यतीति** ।

आभासार्थ—जो युधिष्ठर करना चाहता है, वह 'यक्ष्यति' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।**
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम् ।।४१।।

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर पारमेष्ठ्य सम्पत्ति प्राप्त करने की इच्छा से राजसूय यज्ञ से आपका यजन करना चाहता है, उसका आप अनुमोदन करो ।।४१।।

सुबोधिनी—त्रिधा हि यज्ञकृतिः, फलार्था भौतिकी, शुद्ध्यर्थाध्यात्मिकी, भगवदर्थाधिदैविकीति । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्ते'ति श्रुत्या सैव निरूपिता । तत्र प्रतिबन्धकनिवृत्तिः भगवतैव कर्तव्या, इज्यान्तराभावादित्यभिप्रेत्याह **त्वां यक्ष्यतीति** । 'यज्ञो वै मख' इति श्रुतेः । आधिदैविक एव यज्ञो मखो भवति । प्रकरणवशात् क्षत्रियस्य राजसूयादन्यः यज्ञः श्रेष्ठो नास्तीति । उपरतानां क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामेव दीर्घसत्रेष्वधिकारात् । महति च बहवो विघ्नाः । **पाण्डव** इति पण्डुवाक्यात् अवश्यकर्तव्यत्वम् । भगवान् सर्वभावेन सेव्यः प्राणिना (तदा), यदा कदाचित् तादृशी सेवा नियतकालसाधनसम्पत्तौ भवति । सा सम्पत्तिः परमेष्ठिन एव, नान्यस्य इति पारमेष्ठ्यकामः । अन्तस्तथा सेवायामनधिकारमाह **नृपतिरिति** । तत्रेज्यानुमतिः प्रयोजिका, तदभावे तोषाभावात् । देवतातः फलमिति पक्षे न फलं कर्मणः । कर्मणः फलमित्यपि पक्षे देवताप्रीतिः साधनत्वेन सिद्धेति तदभावे न फलम् । 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'ति श्रुतेः । अतः पूजायां पूज्यानुमोदनमावश्यकमिति भवाननुमोदताम् । इदमनुमोदनं समीपे स्थित्वा । अनेनैव यशः पूजापूज्ययोः देशान्यत्वासम्भवात् । अनेनैव यशः स्वर्गहेतुभूतमन्तःकरणशुद्धिश्च भविष्यतः ।।४१।।

व्याख्यार्थ—यज्ञ तीन कार्यों के लिए होता है, इसलिए उसकी 'कृति' तीन प्रकार की है, जो यज्ञ फल की कामना से किया जाता है, वह भौतिक 'कृति' है, जो अन्तःकरणादि की शुद्धि के लिए किया जाता है, आध्यात्मिकी 'कृति' है और जो निष्काम भगवदर्थ किया जाता है, वह 'आधिदैविकी' कृति है । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' श्रुति से वह आधिदैविकी कृति का वर्णन किया है, उसमें यदि कोई प्रतिबन्ध करने वाला होता है तो उसका निवारण भगवान् ही करते हैं, यह यज्ञ किसी प्रकार दूसरा नहीं है, इसमें आपको ही पूजेगा; क्योंकि 'यज्ञो वै मखः' इस श्रुत्यनुसार आधिदैविक यज्ञ ही 'मख' है, प्रकरण वश क्षत्रिय के लिए राजसूय से श्रेष्ठ दूसरा कोई यज्ञ नहीं है, संसार में उपरत क्षत्रियों का और ब्राह्मणों का ही लम्बे समय में होने वाले बड़े यज्ञों में अधिकार है और बड़े यज्ञों में बहुत विघ्न पड़ते हैं, यदि यों है तो क्यों करते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'पाण्डवः' पण्डु वाक्य कहकर बताया है कि इनका अवश्य कर्त्तव्य है, भगवान् प्राणी से सर्व भाव से सेवा के योग्य हैं, किन्तु वैसी सेवा कदाचित् बन सकती है, जब नियत काल में साधन सम्पत्ति हो, तब अवश्य करनी चाहिए, वह सम्पत्ति परमेष्ठी की ही है, न अन्य की । अतः उसकी कामना वाला है, उस सम्पत्ति की प्राप्ति से ही नित्य सेवा पूर्ण रीति से हो सकेगी ।

वैसे अन्तः सेवा में अनधिकार है; क्योंकि राजा है, इसलिए यज्ञ करने की सम्मति प्रयोजिका है, सम्मति के अभाव में प्रसन्नता न होगी, फल देवता से मिलेगा, इस पक्ष में कर्म का फल नहीं, कर्म का फल है इस पक्ष में देवता की प्रीति साधनपन से सिद्ध होगी, इसलिए उसके अभाव में फल की प्राप्ति नहीं । 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति' इस श्रुति के अनुसार प्रसन्न हुआ इन्द्र इस यज्ञ करने वाले को सब तरह समृद्ध कर प्रसन्न करता है, अतः पूजा करने के लिए पूज्य का अनुमोदन आवश्यक है, इसलिए आप अनुमोदन कीजिए, यह अनुमोदन भी समीप में स्थित होकर कीजिए, पूजा और पूज्य दोनों का दूसरा

देश होना असम्भव होने से, इससे ही स्वर्ग का हेतुभूत यश और अन्तःकरण की शुद्धि दोनों होंगे ॥४१॥

आभास—अत एकेनैव त्रैविध्यमपि सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणाह **तस्मिन् देव** इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—अतः एक से ही तीन प्रकार के कार्य सिद्ध होंगे, इस अभिप्राय को 'तस्मिन्' श्लोक में प्रकट करते हैं ।

श्लोक—**तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।**
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे देव ! इस उत्तम यज्ञ में देवों और यशस्वी राजागण आपके दर्शन करने की इच्छा से आएँगे ॥४२।

सुबोधिनी—कीर्तिर्लोकद्वये राजभिर्देवैश्च भवति । तत्र यद्यपि भागाभावात् यागार्थं देवानामनागमनेऽपि त्वां दिदृक्षवः समेष्यन्ति । राजानश्च स्पर्धिनोऽपि । कौतुकार्थमागमने तु न यश इति । **देवेति** सम्बोधनम् । क्रतुवरे यथा महोत्सवे देवदर्शनं महोत्सवकर्तुर्यशस्करं भवति । भवन्तं वै सुरादयः यशस्विन इति । तेषामपि यशोऽत्र मिलितं भवतीत्युक्तं भवति । **आदि**शब्देन सिद्धादयोऽपि ॥

व्याख्यार्थ—दोनों लोकों में देवता और राजाओं द्वारा यश होता है । वहाँ यद्यपि यज्ञ में देवों का भाग न होने से वे नहीं आवेंगे, तो भी अन्य देखने की इच्छा वाले तो आएँगे, राजा लोग ईर्ष्या (डाह) व क्रोध वाले होते हैं, तो भी कौतुक के लिए आवेंगे, यद्यपि इस प्रकार आने में यश नहीं है । देव ! यह सम्बोधन है, जैसे महान् उत्सव करने वाले का, महोत्सव में देव दर्शन, यश करने वाला होता है अर्थात् यदि कोई भक्त भगवान् के यहाँ अन्नकूट आदि महोत्सव कराता है तो दर्शनार्थी भगवद्दर्शन के लिए आते हैं । दर्शन करते हुए उत्सव कराने वाले का यशोगान करते हैं एवं यहाँ उत्तम यज्ञ में जो दर्शनार्थ आवेंगे, वे आपका दर्शन कर, प्रसन्न हो यज्ञ कराने वाले युधिष्ठरजी का यशोगान करेंगे, उनका भी यश यहाँ मिला हुआ होता है, यों कहा हुआ है । 'आदि' शब्द से सिद्ध आदि भी समझने चाहिए ॥४२॥

आभास—प्रसङ्गादेव शुद्धिमप्याह **श्रवणादिति** ।

आभासार्थ—प्रसङ्ग से ही 'श्रवणात्' श्लोक से शुद्धि भी कहते हैं ।

श्लोक—**श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात्पूयन्तेऽन्तेवसायिनः ।**
तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! जिसके ध्यान, कीर्तन और श्रवण से चाण्डाल भी पवित्र होते हैं, वैसे ब्रह्ममय आपके साक्षात् दर्शन और स्पर्श करने वालों के लिए शेष क्या बचेगा ? अर्थात् उन्होंने सब पाया ॥४३॥

सुबोधिनी—प्रमाणबले आदौ श्रवणकीर्तनस्मरणान्येवोक्तानि । ध्यानमेकाग्रतया स्मरणम् । एवं भक्ता एव कर्मत्यागादिभिः तथात्वमापन्नाः पूर्ववासनया श्रवणादिना तद्दोषं परिहरन्तीति केचित् । अन्यथाप्यन्तेवसायिनां श्रवणादिसम्भवे तादृशजन्मसम्पादकदोषनाशक इति विमर्शः । **तवेति** सम्मत्यर्थं युष्मच्छब्दप्रयोगः । प्राकृतबुद्ध्या श्रवणादौ मर्यादाभक्तानां मते प्रमेयबलाभावात् न फलम् । अन्यथा सर्वेषामेव नाम्नां भगवद्वाचकत्वात् कस्यापि बन्धो न स्यात् । तत आह **ब्रह्ममयस्येति** । ब्रह्मप्रचुरस्य परमानन्दमूर्तेः सच्चिद्रूपप्राचुर्यात् सर्ववेदमयस्य वा । **ईशेति** । शुद्धौ सामर्थ्यम् । ईक्षाभिमर्शनं प्रमेयबलम् । साक्षात्कारसम्बन्धौ हि फलरूपाविति तत्सिद्धौ साधनसिद्धिर्नान्तरीयकेति कैमुतिकन्यायेनाह **किमुतेति** । अन्तेवसायिव्यावृत्त्यर्थमीक्षाभिमर्शयोः सहप्रयोगः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—प्रमाण बल जहाँ है, वहाँ प्रथम श्रवण, कीर्तन और स्मरण कहे हैं, एकाग्रचित होकर जो स्मरण किया जाता है, उसको ध्यान कहते हैं, इस प्रकार भक्त ही कर्म त्याग आदि से वैसे पन को प्राप्त हुए, इस प्रकार ध्यान किया । पूर्व वासना से श्रवणादि किया, जिससे उसके दोष को नष्ट करते हैं, यों कोई कहते हैं । अन्य प्रकार से चाण्डाल आदि को भी श्रवणादि का सम्भव होने पर, उस प्रकार (चाण्डालादि) के जन्म को देने वाला दोष नाश होता है । 'तव' यह युष्मत् का प्रयोग आपकी सम्मति के लिए है, मर्यादा भक्तों के मत में प्रमेय बल नहीं है, इसलिए वे मानते हैं कि प्राकृत बुद्धि से श्रवण आदि करने का कोई फल नहीं है, यदि तो भी फल माना जायगा तो सब नाम भगवद्वाचक है, अतः हरएक कोई न कोई नाम सर्वदा लेता रहता है, अतः सबका मोक्ष हो जायगा, किसी का भी बन्ध न होगा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्ममयस्य' ब्रह्म प्रचुर परमानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द रूप और सर्व वेदमय आपके नाम लेने से बन्ध का नाश, आनन्द की प्राप्ति होती है, आपके दर्शन को, शुद्धि करने की सामर्थ्य है, दर्शन और विचार यह प्रमेय बल है, साक्षात्कार और सम्बन्ध ये दोनों फल रूप हैं, उनके सिद्ध हो जाने से साधन सिद्धि अन्तरीय की नहीं होती है, यह कैमुतिक न्याय से है, अतः कहते हैं 'किमुत' चाण्डाल आदि की व्यावृत्ति के लिए ईक्षा और अभिमर्श का साथ में प्रयोग किया है ॥४३॥

आभास—भगवद्दर्शनादेः शोधकत्वं कैमुतिकन्यायेन वक्तुं चरणोदकस्य माहात्म्यमाह **यस्यामलमिति** ।

आभासार्थ—भगवद्दर्शन स्पर्श पवित्र करने वाले हैं, जिसको कैमुतिक न्याय से सिद्ध करने के लिए, चरणोदक का माहात्म्य 'यस्यामलं' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक--यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ।।४४।।

श्लोकार्थ--हे भुवन मङ्गल ! आपका निर्मल यश स्वर्ग और सर्व दिशाओं को पवित्र करता है तथा आपका चरण जल आकाश में मन्दाकिनी रूप से, रसातल में भोगवती रूप से एवं पृथ्वी में गङ्गा रूप से तीन लोक को पवित्र करता है ।।४४।।

सुबोधिनी—भगवतः कीर्तिद्वयं तीर्थरूपं चरणद्वयान्निर्गतं भक्तानां हितार्थम् । तत्रैकममलं यशः दिवि । रसायां भूमौ च प्रथितम् । सर्वाणि कर्माणि दोषसहितानीति 'सर्वारम्भा हि दोषेणे'ति वाक्यादवगत्याह **अमलमिति** । सन्नियोगशिष्टदोषरहितगुणत्वाद्भगवतः । अतो भगवान् सर्वभुवनेषु मङ्गलरूपः, भुवनमङ्गलत्वाद्वा । प्रान्तभावेषु तत्रत्यानां यशोगानं लोकत्रयेऽपि । तदभावमाशङ्क्याह **दिग्वितानमिति** । दिशामाच्छादकम् । द्वितीयमाह **मन्दाकिनीति** । दिवि मन्दाकिनी, अधो भोगवती, पृथिव्यां गङ्गेति चरणाम्बु कमण्डलुसम्भूतं विश्वं पुनाति ।।४४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के दो चरणों से निकले हुए दो तीर्थ हैं, एक यश रूप और दूसरा जल रूप, वे दोनों ही भक्तों के हित करने के लिए निकले हैं । उनमें से एक पवित्र निर्मल यश आकाश अर्थात् 'स्वर्ग' में है और दूसरा पृथ्वी पर है । 'सर्वारम्भा हि दोषेण' इस वाक्यानुसार सर्व कर्म दोष वाले हैं, यों माना जाता है, किन्तु भगवान् का यह 'तीर्थ द्वय' वैसा नहीं है, किन्तु निर्दोष स्वच्छ हैं; क्योंकि भगवान् निर्दोष हैं । इसलिए उनके वे गुण रूप भी निर्दोष हैं, अतः भगवान् समस्त भुवनों में मङ्गल रूप हैं अथवा भुवनों के मङ्गल रूप होने से वहाँ वालों का तीनों लोकों में यशोगान हो रहा है, वह यश किन हिस्सों में होगा ? जिसके अभाव को दिखाते हैं कि 'न हि सर्वत्र' है । यह बताने के लिए 'दिशामाच्छादकम्' कहा है अर्थात् यश से सब दिशाएँ आच्छादित हो गई है, अब दूसरे जल रूप को कहते हैं, स्वर्ग में मन्दाकिनी रूप से, नीचे भोगवती रूप से और भूमि पर गङ्गा रूप से व्याप्त है, चरणाम्बु रूप कमण्डलु से उत्पन्न यह तीर्थ रूप जल समग्र विश्व को पवित्र कर रहा है ।।४४।।

आभास--एवमुभयोर्दूतनारदयोः स्वस्वार्थं प्रार्थनायां यज्ञातं तदाह **तत्र तेष्विति** ।

आसाभार्थ—अब श्री शुकदेवजी, दूत और नारद दोनों ने जो-जो अपना-२ आशय प्रार्थना में कहा उसका वर्णन 'तत्र तेष्वात्म' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक--श्रीशुक उवाच-**तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृह्णत्सु विजिगीषया ।
वाचःपेशैः स्मयन्भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः** ।।४५।।

श्लोकार्थ--श्री शुकदेवजी ने कहा कि दूत और नारद के वचनों को सुन लेने के बाद अब क्या करना चाहिए ? भगवान् की इच्छा तो युधिष्ठिर के यहाँ जाने की थी, किन्तु उद्धवजी यों न कहे, इसलिए चतुर वाणी से अपनी माया रूप स्मय प्रकट करते हुए उद्धवजी से पूछने लगे ।।४५।

सुबोधिनी—तत्र प्रसङ्गे अन्यतरदेशगमने । तेषु तत्रत्येषु सहायभूतेषु । विजिगीषया गृणत्सु सत्सु जरासन्धवधार्थमेव गन्तव्यमिति लौकिकबुद्धेः प्राथम्यात् नारदेष्टाकरणे सति । उभयसमाधानार्थी स्वस्य मध्यस्थत्वात् उभयमताभिज्ञं उद्धवं ब्रह्मशिवयोरपि नियन्ता सुखदाता च वचनोत्तमैः प्राह । स्मयेन तमपि मोहयन् वाङ्माधुर्यत्सादरं शृणुयात् । अन्यथा सर्वेश्वरत्वं जानातीति न शृणुयादपि । नारदहिताकरणे ब्रह्मपक्षहानिः, जरासन्धवधे महादेवपक्षनाश इति यज्ञार्थमेव गमनमायाति । अतोऽङ्गप्रधानयोर्विरोधे क्रीडा सुखदा न भवतीति तदभिज्ञमुद्धवं सर्वसम्मतं बोधयामास ।।४५।।

व्याख्यार्थ—अब इस प्रसङ्ग में किस स्थान पर जावे तो प्रथम लौकिक बुद्धि से जरासन्ध के वध के लिए ही जाना चाहिए; क्योंकि अपने पक्ष वाले यादव उसको जीतना चाहते हैं । यों करने से नारदजी का इच्छित न होगा तो उनके पक्ष की हानि होगी एवं जरासन्ध के मारने से महादेव के पक्ष की हानि होगी; क्योंकि जरासन्ध महादेव का भक्त है, इसलिए तो नारद का ही कहना करना चाहिए । दोनों पक्षों के समाधानार्थ उभय मतों के जानने वाले, उद्धवजी को अपना मध्यस्थ बनाकर ब्रह्मा और शिव का भी नियन्ता और सुखदाता प्रभु, मुसक्यान से उनको भी मोहित करते हुए मीठी और उत्तम वाणी से कहने लगे, जिससे वह आदर से सुने अन्यथा मेरे सर्वेश्वरत्व को जानता ही है, इसलिए न सुने, इसलिए मोहिनी स्मित एवं मधुर वाक्यों से कहने लगे, नारदजी का पक्ष न लेंगे तो ब्रह्म पक्ष की हानि होगी, जरासन्ध वध के लिए जावें तो इससे महादेव का पक्ष नाश होगा, इसलिए यज्ञ के लिए युधिष्ठर के यहाँ जाना ही योग्य जचता है, अतः अङ्ग और प्रधान के विरोध हो जाने पर क्रीड़ा सुख देने वाली नहीं होती है, इसलिए अभिज्ञ सर्व सम्मत उद्धवजी से सलाह लेने लगे ।।४५।।

आभास--भगवद्वाक्यमाह **त्वं हि न** इति ।

आभासार्थ—भगवान् के वचन 'त्वं हि नः' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक--श्रीभगवानुवाच-**त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत्** ।।४६।।

श्लोकार्थ--भगवान् कहने लगे कि आप हमारे सुहृद और गुप्त विचारों को जानने वाले एवं नेत्र रूप हैं अर्थात् मार्ग दिखाने वाले हो, अब ये दो कार्य साथ-२ आ पड़े हैं, इनमें से हमको मुख्य कौनसा कार्य है, जो प्रथम मुझे ही करना चाहिए जैसे आप कहोगे, वैसे हम करेंगे ।।४६।।

सुबोधिनी—सर्वज्ञस्य स्वत एव ज्ञात्वा करणमुचितम्, नत्वसर्वज्ञस्य वाक्यात् । व्यामोहकत्वं वा स्यात् । अतस्तत्परिहारार्थमुद्धवं स्वावयवत्वेन निरूपयति **त्वं नश्चक्षुरिति** । आधिदैविकं परमानन्दरूपम्, चक्षुषश्चक्षुर्वा । तस्यैवायमवतार इति । लोकोक्तिश्च 'मन्त्री ज्ञानचक्षु'रिति । अतो **न** इति बहुवचनम् । केवलं शास्त्रपरतां वारयितुमाह **सुहृदिति** । पर्यवसानज्ञानमाह । मन्त्रार्थस्य फलस्य तत्त्वं पर्यवसानं वेत्तीति । **अथ** अतः कारणादत्रार्थे अनुष्ठेयं ब्रूहि । उभये वयं श्रद्ध्मः । तदेव च करवाम । अन्यतरस्याप्यश्रद्धां करणाभावं च वारयति ॥४६॥

व्याख्यार्थ--सर्वज्ञ को तो स्वयं ही जानकर करना चाहिए न कि जो सर्वज्ञ नहीं है, उसके कहने से करना चाहिए । वह मोह में डालने वाला हो जावे, उद्धवजी इस प्रकार कहे, जिसके परिहार के लिए उद्धवजी को अपना अङ्ग बताते हैं कि आप मेरे नेत्र हैं, आधिदैविक परमानन्द रूप हैं। 'चक्षुषश्चक्षुर्वा' इस श्रुति से उनका ही यह अवतार है और लोकोक्ति भी है कि 'मन्त्री ज्ञानचक्षुः' मन्त्री ज्ञान रूप नेत्र हैं, आप मन्त्री हैं, इसलिए ज्ञान नेत्र हैं, अतः 'नः' यह बहुवचन दिया है, केवल शास्त्रीय विषय नहीं है, इसलिए कहते हैं कि आप हमारे सुहृद भी हैं एवं मन्त्र के अर्थ एवं फल के तत्व को जानते हो, इस कारण से इस विषय में जो उचित कर्त्तव्य है, वह कहिए, हमारी दोनों में श्रद्धा है, जो आप कहेंगे वह ही हम करेंगे, एक में भी अश्रद्धा और न करने का विचार नहीं है ।।४६।।

आभास--तत उद्धवो महामन्त्री तद्वाक्यममोहकं मत्वा उत्तरकथनार्थमुद्युक्त इत्याह **इत्युपामन्त्रित** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् महामन्त्री उद्धव भगवान् के वचनों को मोहक न मानकर उत्तर देने के लिए तैयार हुए ।

श्लोक--श्रीशुक उवाच–**इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।**
निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ।।४७।।

श्लोकार्थ--श्री शुकदेवजी ने कहा कि आप सर्वज्ञ होते हुए भी मुग्ध की

तरह उद्धवजी से पूछने लगे, स्वामी (भगवान्) की आज्ञा को शिरोधार्य कर उद्धवजी उत्तर देने लगे ।।४७।।

सुबोधिनी—उद्धवो हि न युद्धादावुपदिश्यते, ज्ञानांशत्वात् । यदि ज्ञानेऽपि न विनियुज्येत, तस्य भरणं व्यर्थं स्यात् । एतत्सूचयति **भर्त्रेति** । दोषं निवारयति **सर्वज्ञेनापीति** । निदेशमाज्ञां प्रति शिरसा आधाय अभाषत अङ्गीकृतवान्, उत्तरं विचार्य वक्ष्यामीति उक्तवानित्यर्थः ।।४७।।

व्याख्यार्थ—उद्धवजी ज्ञानांश होने से युद्ध आदि का उपदेश नहीं करते हैं, यदि ज्ञान में न जोड़ें तो उसका भरण व्यर्थ हो जाय, इसका सूचन 'भर्त्रा' पद से करते हैं । 'सर्वज्ञेन' पद से दोष का निवारण करते हैं, इसलिए आज्ञा को शिरोधार्य कर कहने लगे कि विचार कर उत्तर दूंगा ।।४७।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकविंशोध्यायः ।।२१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७०वें अध्याय, उत्तरार्ध २१ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का सातवाँ अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"कैदी राजाओं के दूत का आना"

राग धनाश्री :—

नाथ औंर कासौं कहौं गरुड़गामी।
दीनबन्धु दयासिधु असरन सरन,
सत्य सुख धाम सर्वज्ञ स्वामी॥

इहिं जरासंध मद अंध मम मान मथि,
बाधिं बिनु काज बल इहाँ आने।
किए अवरोध अति क्रोध गहि गिरिगुहा,
रहत भृंगि कीट ज्यौं त्रास माने॥

नाहिनैं नाथ जिय सोच धन धरनि कौ,
मरन तैं अधिक यह दुख सतावै।
भृत्य की रीति हम होत मागध सकल,
नाथ जिय दमत उद्वेग पावै॥

मधु कैटभ मथन मुर मौम केसी दलन,
कंस कुल काल अरु सालहारी।
जानि जग जूप भय भूप तद्रूपता,
बहुरि करि है कलुष भूमि भारी॥

बढत नृप दूत अनुभूत उर भीरुता,
सुनत हरि सूर सारथि बुलायौ।
भयै आरूढ तकि ताहि उत्तर दियौ,
जाहि सुधि देहु हौं यहै आयौ॥

* *

॥ श्री हरिः ॥

अनुक्रमणिका

सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण

अध्याय—६१ से ६७

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
१	अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन्	६	२२	१९७
२	अथाप्लुतोऽमभस्यमले	७	६	२२१
३	अथाह पौण्ड्रकं शौरिः	३	१९	८७
४	अथाप्याश्रावये ब्रह्मन्	७	४०	२५२
५	अथोवाच हृषीकेशम्	६	३७	२०५
६	अथोषस्युपवृत्तायाम्	७	१	२१६
७	अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीम्	५	४०	१६३
८	अद्यापि दृश्यते राजन्	२	१३	६८
९	अद्यापि च पुरं ह्येतत्	५	५४	१७२
१०	अनुजानीहि मां कृष्ण	१	२८	२७
११	अनुनीतावुभौ विप्रौ	१	१९	१८
१२	अनुजानीहि मां देव	६	३९	२०६
१३	अपि स्विदद्य लोकानाम्	७	३५	२४७
१४	अभ्येत्यं तरसा तेन	४	१८	१२१
१५	अलं यदुनां नरदेवलाञ्छनैः	५	२७	१५१
१६	अवेक्ष्याज्यं तथादर्शम्	७	१२	२२६
१७	अव्यक्त लिङ्गं प्रकृतिषु	६	३६	२०४
१८	अश्वैः रथैर्गजैः क्वापि	६	२६	१९९
१९	अहो महच्चित्रमिदम्	५	२४	१४९
२०	अहो यदून्सुसंरब्धान्	५	३२	१५६
२१	अहो ऐश्वर्यमत्तानाम्	५	३९	१६२
२२	अक्षैः सभायां क्रीडन्तम्	३	३६	९९
२३	आत्मानं भूषयामास	७	११	२२५
२४	आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जर	३	१८	८६
२५	आश्रमानृषि मुख्यानाम्	४	६	११२
२६	इत्यर्थ काम धर्मेषु	६	४३	२०९
२७	इत्याचरन्तं सद्धर्मान्	६	४१	२०८
२८	इत्यात्मनाभि संधाय	३	२८	९३
२९	इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य	१	३०	२९
३०	इत्युत्सुको द्वारवतीम्	६	३	१७९
३१	इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा	७	४७	२५८
३२	इति प्रहसितं शौरैः	२	१५	५६
३३	इति दूतस्तदाक्षेपम्	३	१०	८१
३४	इति स्म राजा संपृष्टः	१	९	१०
३५	इति कर्णः शलो भूरिः	५	५	१३४
३६	इति क्षिप्त्वा सितैर्बाणैः	३	२१	८८
३७	इति मागध संरुद्धा	७	३१	२४४
३८	ईक्षितोन्तः पुरस्त्रीणाम्	७	१६	२२७
३९	उग्रसेनः क्षितीशेशो	५	२१	१४६
४०	उन्फुल्लेन्दीवराम्भोजः	६	४	१८०
४१	उपगीयमान चरितः	२	२१	६०
४२	उपस्थायार्कमुद्यन्तम	७	७	२२२
४३	उवाच दूतं भगवान्	३	८	७९
४४	एकदोपवनं राजन्	१	१	४
४५	एकं स्वयं ज्योति	७	५	२१९
४६	एतस्मिन्नन्तरे याम्यैः	१	२२	२०
४७	एते यौनेन संबद्धाः	५	२५	१५०
४८	एवं देशान्विप्र कुर्वन्	४	८	११४
४९	एवं निर्भर्त्सिता भीता	२	२५	६४
५०	एवं निहत्य द्विविदम्	४	२८	१२७
५१	एवं प्रपन्नैः संविग्नैः	५	४९	१६९
५२	एवं मनुष्य पदवीम्	६	४४	२०९
५३	एवं मत्सरिणं हत्वा	३	२३	८९
५४	एवं युध्यन्भगवता	४	२२	१२३
५५	एवं विश्राव्य भगवान्	१	४४	४०
५६	एवं सर्वा निशा याता	२	३२	६८
५७	कच्चिन्नो बान्धवा राम	२	७	४७
५८	कच्चित्स्मरति वा बन्धून्	२	१०	५१
५९	कत्थनं तदुपाकर्ण्य	३	७	७८
६०	कथं न गृह्णन्ति	२	१३	५३
६१	कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिः	५	२८	१५२
६२	कदर्थीकृत्य बलवान्	४	१६	११९
६३	कस्यचिद् द्विजमुख्यस्य	१	१६	१६
६४	क्वचित्स शैलानुत्पाट्य	४	४	१११
६५	क्वचित्समुद्रमध्यस्थः	४	५	११२
६६	क्वापि संध्यामुपासीनम्	६	२५	१९९
६७	कामं विहृत्य सलिलात्	२	२९	६६
६८	किं नु तेऽविदितं नाथ	१	११	१२

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
६९	किं नस्तत्कथया गोप्या	२	१४	५५
७०	क्रीडित्वा सुचिरं तत्र	१	२	५
७१	क्रुद्धो मुसलमाधत्त	४	१७	१२०
७२	कुत्रचिद् द्विजमुख्येभ्य	६	२८	२००
७३	कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित्	६	३१	२०१
७४	कृकलासं गिरिनिभम्	१	३	५
७५	कृत्या नलः प्रतिहतः	३	४०	१०२
७६	कृष्ण परिजनं प्राह	१	३१	२९
७७	कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रक	३	१७	८५
७८	कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य	६	४२	२०८
७९	कृष्ण कृष्णा प्रमेयात्मन्	७	२५	२३५
८०	कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थम्	५	४७	१६८
८१	कौरवाः कुपिता उचुः	५	२	१३१
८२	कौशेयवाससी पीते	३	१४	८४
८३	गत्वा गजाह्वयं रामः	५	१६	१४३
८४	गायन्तं वारुणीं पीत्वा	४	१०	११५
८५	गिरिर्यथा गैरिकया	४	२०	१२२
८६	गृह्णन्ति यावतः पांसून	१	३७	३५
८७	गृहीत्वा हेलयामास	४	१५	११८
८८	गृहीत्वा पाणिना पाणिम्	७	१५	२२७
८९	गोपवृद्धांश्च विधिवत्	२	४	४५
९०	गोप्यो हसन्त्याः पप्रच्छुः	२	९	४८
९१	गोभू हिरण्यायतन	१	१५	१५
९२	गोविप्रदेवतवृद्ध	७	१०	२२४
९३	चकम्पे नेन पतता	४	२६	१२५
९४	चक्रं च विष्णोः	३	४१	१०३
९५	चतुर्भिश्चतुरो वाहान्	५	१०	१३८
९६	चामरव्यजने शङ्खम्	५	२६	१५०
९७	चर्मजैस्तान्तवैः पाशैः	१	४	६
९८	चरतं मृगयां क्वापि	६	३५	२०३
९९	चित्रं बत तदैकेन	६	२	१७८
१००	चिरं न पाहि दाशार्ह	२	३	४५
१	जगाम हास्तिनपुरम्	५	१५	१४२
२	जन्मबन्धुश्रियोन्नद्ध	५	२९	१५३
३	जय शब्दो नमः शब्दः	४	२७	१२६
४	जलयानमिवाघूर्णम्	५	४२	१६४
५	जीवस्य यः संसरतः	७	३९	२५१
६	जुह्वन्तं च वितानाग्नीन्	६	२४	१९८
७	त इमे मन्दमतयः	५	३३	१५७
८	तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तम्	५	१३	१४०
९	ततो व्यमुञ्चद्यमुनाम्	२	२८	६६

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
११०	ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डात्	३	३२	९६
११	ततो मुञ्चच्छिलावर्षम्	४	२३	१२४
१२	ततः प्रविष्टः स्वपुरीम्	५	५३	१७
१३	ततोऽन्यदाविशद्गेहम्	६	१९	१९४
१४	तत्सूर्यकोटि प्रतिमम्	३	३९	१०१
१५	तत्र गत्वा रविन्दाक्ष	१	५	७
१६	तत्र षोडशभिः सद्म	६	८	१८३
१७	तत्र तेष्वात्म पक्षेषु	७	४५	२५७
१८	तत्रस्थाः ब्राह्मणाः केचित्	७	२१	२३३
१९	तत्रापश्यद्यदुपतिम्	४	९	११४
२०	तत्राप्यचष्ट गोविन्दम्	६	२३	१९८
२१	तत्रैकः पुरुषो राजन्	७	२२	२३३
२२	तत्रोपमन्त्रिणो राजन्	७	१९	२३१
२३	तत्रोपविष्टः परमासने	७	१८	२३०
२४	तथा काशिपतेः कायात्	३	२२	८८
२५	तद्गन्धं मधुधारायां	२	२०	६०
२६	तन्नो भवान्प्रणतशोक	७	२९	२४१
२७	तं ग्राव्णा प्राहरत्क्रुधः	४	१४	११८
२८	तं तु ते विरथं चक्रुः	५	११	१३८
२९	तं बद्ध्वा विरथी कृत्य	५	१२	१३९
३०	तं संगम्य यथान्यायम्	५	१९	१४४
३१	तं सन्निरीक्ष्य भगवान्	६	१४	१८७
३२	तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः	७	३३	२४५
३३	तमभिचारदहनम्	३	३५	९८
३४	तमेव शरणं जग्मुः	५	४३	१६४
३५	त्याजयिष्येऽभिधानं मे	३	२०	८७
३६	त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त	५	४६	१६७
३७	त्वं वासुदेवो भगवान्	३	२	७४
३८	त्वं हि न परमं चक्षुः	७	४६	२५७
३९	तवेहितं कोऽर्हति	७	३८	२५०
४०	तस्य काशिपतिर्मित्रम्	३	१२	८३
४१	तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य	४	१२	११७
४२	तस्यामन्तः पुरं श्रीमत्	६	७	१८१
४३	तस्यावनिज्य चरणौ	६	१५	१८९
४४	तस्मिन्समान गुणरूप	६	१३	१८६
४५	तस्मिन्देव क्रतुवरे	७	४२	२५४
४६	ता नः सद्यः परित्यज्य	२	१२	५२
४७	ता हेलयामास कपिः	४	१३	११७
४८	तावत्सूत उपानीय	७	१४	२२७
४९	तां नीयमानां तत्स्वामी	१	१७	१६
५०	तेनाहनत्सु संक्रुद्धः	४	२१	१२३

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
१५१	ते तं जिघृक्षवः क्रुद्धाः	५	७	१३६
५२	तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य	५	१८	१४४
५३	दग्ध्वा वाराणसीं सर्वाम्	३	४२	१०४
५४	ददौ रूप्यखुराग्राणाम्	७	९	२२३
५५	द्वौ मासौ तत्र चावात्सीत्	२	१७	५७
५६	दशामिमां वा	१	८	९
५७	दक्षिणाग्नि परिचर	३	३०	९५
५८	दासीभिर्निष्क कण्ठीभिः	६	११	१८४
५९	दिष्ट्या कंसो हतः पाप	२	८	४८
६०	दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि	६	२०	१९५
६१	दुर्जरं बत ब्रह्मस्वम्	१	३२	३०
६२	दुर्योधन सुतां राजन्	५	१	१३१
६३	दुर्योधनः पारिबर्हम्	५	५०	१७०
६४	दुष्टः शाखामृगः शाखाम्	४	११	११६
६५	दूतं च प्राहिणोन्मन्दः	३	३	७४
६६	दूतस्तु द्वारकामेत्य	३	४	७६
६७	दृष्टं तवांघ्रियुगलम्	६	१८	१९३
६८	दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं	३	१५	८४
६९	दृष्ट्वानुधावतः सांबो	५	६	१३५
७०	दृष्ट्वा करुणां दौः शील्यम्	५	३०	१५४
७१	दृष्ट्वा मया ते बहुशः	७	३७	२४८
७२	देवदेव जगन्नाथ	१	२७	२६
७३	दंष्ट्रोग्रभ्रकुटीदण्ड	३	३३	९७
७४	ध्यायन्तमेकमासीनम्	६	३०	२०१
७५	धेनुनां रुक्म शृङ्गीणाम्	७	८	२२३
७६	नन्दव्रजं गते रामे	३	१	७३
७७	नमस्ते सर्व भावाय	१	२९	२८
७८	नमस्ते सर्व भूतात्मन्	५	४८	१६९
७९	न मे ब्रह्मधनं भूयात्	१	४०	३७
८०	नरकस्य सखा कश्चिद्	४	२	१०९
८१	नरकं निहतं श्रुत्वा	६	१	१७६
८२	न हि ते विदितं किञ्चित्	७	३६	२४७
८३	नाहं प्रतीच्छे वै राजन्	१	२१	१९
८४	नाहं हालाहलं मन्ये	१	३३	३१
८५	निगृहीतं सुतं श्रुत्वा	५	४	१५४
८६	नूनं नाना मनोनद्धाः	५	३१	१३५
८७	नृगो नाम नरेन्द्रोऽहम्	१	१०	११
८८	नैवाद्भुतं त्वयि विभो	६	१७	१९१
८९	नोग्रसेनः किल विभुः	५	३४	१५८
९०	पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां	३	३४	९७

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
१९१	पप्रच्छ विद्वानपि	१	७	८
९२	पयस्विनीस्तरुणीः	१	१३	१३
९३	परं भावं भगवतो	२	२७	६५
९४	परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैः	२	२	४४
९५	पापे त्वं मामवज्ञाय	२	२४	६३
९६	पुत्राणां दुहितॄणां च	६	३२	२०२
९७	पुरुषान् योषितो दृप्तः	४	७	११३
९८	पूर्वं त्वमशुभं भुंक्षे	१	२३	२०
९९	पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज	१	२४	२१
२००	पूर्णचन्द्रकलामृष्टे	२	१८	५८
१	पृष्ट्वाथानामयं तेषु	२	६	४६
२	पृष्टश्चाविदुषेवासौ	६	२१	१९६
३	पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगम्	३	११	८२
४	प्रतिजग्राह बलवान्	४	१९	१२१
५	प्रतिगृह्य तु तत्सर्वम्	५	५२	१७१
६	प्रस्थापनो पानयनै	६	३३	२०२
७	प्रासादलक्षैर्नवभिः	६	५	१८०
८	प्रीतोऽविमुक्तो भगवान्	३	२९	९४
९	बध्नीतेमं दुर्विनीतं	५	३	१३३
१०	बन्धून्कुशलिनः श्रुत्वा	५	२०	१४५
११	बलभद्रः कुरुश्रेष्ठः	२	१	४३
१२	ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य	१	२५	२३
१३	ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातम्	१	३५	३३
१४	ब्रह्मन्धर्मस्य वक्ताहम्	६	४०	२०७
१५	ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो	१	४३	३९
१६	ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय	७	४	२१८
१७	भवन्तावनुगृह्णीताम्	१	२०	१८
१८	भुञ्जते कुरुभिर्दत्तम्	५	३८	१६१
१९	भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि	४	१	१०९
२०	मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चित्	६	२७	२००
२१	मातरं पितरं भ्रातॄन्	२	११	५१
२२	मुखं तदपिधायाज्ञ	३	९	८०
२३	मुहूर्तं तं तु वैदर्भी	७	३	२१८
२४	मृदंगवीणामुरज	७	२०	२३२
२५	य एतच्छ्रावयेन्मर्त्यं	३	४३	१०४
२६	यजन्तं स्वकलान्देवान्	६	३४	२०३
२७	यथाहं प्रणमे बिप्रान्	१	४२	३८
२८	यद्यूयं बहवस्त्वेकम्	५	२२	१४७
२९	यस्य पादयुगं साक्षात्	५	३६	१५९
३०	यस्यांघ्रिपङ्कजरजः	५	३७	१६०

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
२३१	यस्यामलं दिवियशः	७	४४	२५६
३२	यक्ष्यति त्वा मखेन्द्रेण	७	४१	२५२
३३	यादवेन्द्रोपि तं दोर्भ्याम्	४	२५	१२५
३४	यानि त्वमस्मचिह्नानि	३	६	७७
३५	यानीह विश्वविलय	६	४५	२१०
३६	यावत्यः सिकता भूमे	१	१२	१३
३७	ये च दिग्विजये तस्य	७	२४	२३५
३८	यो वै त्वया द्विनवकृत्वः	७	३०	२४२
३९	रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिः	६	१२	१८५
४०	रथानां षट् सहस्राणि	५	५१	१७०
४१	राजदूते ब्रुवत्येवम्	७	३२	२४५
४२	राम राम महाबाहो	२	२६	६४
४३	राम रामखिलाधार	५	४४	१६५
४४	राजानो राज कुल्याश्च	१	३८	३५
४५	राजानो राज लक्ष्म्या च	१	३६	३४
४६	राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा	३	२६	९१
४७	लाङ्गलाग्रेण नगरम्	५	४१	१६३
४८	लोके भवाञ्जगदिनः	७	२७	२३८
४९	लोको विकर्मनिरतः	७	२६	२३६
५०	वयांस्यरुरुवन्कृष्णाम्	७	२	२१७
५१	वरुणप्रेषिता देवी	२	१९	५९
५२	वसित्वा वाससी नीले	२	३०	६७
५३	वासुदेवोऽवतीर्णोहम्	२	५	७६
५४	वितानैर्निमितैस्त्वष्ट्रा	६	१०	१८४
५५	विदाम योगमायास्ते	६	३८	२०६
५६	विप्रौ विविदमानौ माम्	१	१८	१७
५७	विप्रं कृतागसमपि	१	४१	३८
५८	विभक्त रथ्यापथ	६	६	१८१
५९	विस्फूर्ज्यं रुचिरं चापम्	५	९	१३७
६०	विष्टब्धं विद्रुमैः स्तम्भैः	६	९	१८३
६१	वीर्यशौर्यबलोन्नद्धम्	५	२३	१४७
६२	शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गः	३	१३	८३
६३	शिरः पतितमालोक्य	३	२५	९१
६४	शूलैर्गदाभिः परिघैः	३	१६	८५
६५	श्रवणात्कीर्तनात्	७	४३	२५४
६६	श्रुत्वा तज्जनगौकजव्यम्	३	३७	१००
६७	स आजुहाव यमुनाम्	२	२३	६२
६८	स उत्तम श्लोक	१	६	७
६९	सख्युः सोपचितिं कुर्वन्	४	३	११०
७०	स त्वं कथं स विभो	१	२६	२४
७१	स्थित्युत्पत्त्यप्ययानाम्	५	४५	१६६
७२	स नमस्कृत्य कृष्णाय	७	२३	२३३
७३	स नित्यं भगवद्ध्यानं	३	२४	९०
७४	स प्रतीक बाहू तालसङ्काशौ	४	२४	१२४
७५	स भाजयित्वा विधिवत्	७	३४	१४६
७६	संपूज्य देवऋषि	६	१६	१९०
७७	संविभाज्याग्रतो विप्रान्	७	१३	२२७
७८	संकर्षणस्ताः कृष्णस्य	२	१६	५७
७९	समुपेत्याथ गोपालान्	२	५	४६
८०	सर्वस्यान्तर्बहिः साक्षी	३	३८	१००
८१	स्वप्रायितं नृपसुखम्	७	२८	२३९
८२	स्वलंकृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः	१	१४	१४
८३	स्वदत्तां परदत्तां वा	१	३६	३६
८४	स्रग्व्येक कुण्डलो मत्तो	२	२२	६१
८५	साधयिस्यति संकल्पम्	३	३१	९५
८६	सान्त्वयित्वा तु तान्रामः	५	१४	१४१
८७	सुदक्षिणस्तस्य सुतः	[illegible]	२७	९२
८८	सुधर्मा क्रम्यते येन	५	३५	१४८
८९	सुधर्माख्यां सभां सर्वैः	७	१७	२२८
९०	सोऽपि विद्धः कुरुश्रेष्ठ	५	८	१२६
९१	सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्र	५	१७	१४३
९२	हसन्तं हास्यकथया	६	२६	२००
९३	हिनस्ति विषमत्तारम्	१	३४	३२

शुद्धि-पत्र

सात्विक-प्रमेय अवान्तर प्रकरण अध्याय—६१ से ६७

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	६	लक्षमणा	लक्षमण
७	१५	वर्ण	सुवर्ण
८	३०	अतिकर्तिमान	अतिकीर्तिमान
११	१६	प्रकारण	प्रकरण
११	२८	तदाह	तदाहं
१३	१३	सात्विन्क	सात्विक
१५	१०	गोभूहिरप्य	गोभूहिरण्य
१५	१८	रथ्याश्च	रथांश्च
१६	४	श्लोक श्लोक में	श्लोक में
१६	१५	पापको किया	पापको प्रकट किया
१७	७	वाल	वाले
१७	३२	दाष	दोष
१९	२	मश्वत्व	मश्वत्वं
२१	४	त्वमशुभ	त्वमशुभं
२३	१५	नन्वेतादृशस्यं	नन्वेतादृशस्य
२४	८	स्तुल्धत्वात्	स्तुल्यत्वात्
२६	१	भगवद्द्रर्शन	भगवद्दर्शन
२७	२	लगा	लग
२७	२३	कष्ण	कृष्ण
२७	२७	सतष्चेतः	सतश्चेतः
३१	१०	गोर्जीण	अजीर्ण
३१	२०	एश्वर्यं	ऐश्वर्य
३१	२१	सुतरा	सुतरां
३२	१९	हितस्ति	हिनस्ति
३२	२५	वक्तन्यः	वक्तव्य
३२	२७	अङ्घ्रिरिग्नः	अङ्घ्रिरग्निः
३३	१६	पोषणार्थं	पोषणार्थ
३४	५	त्रिपुरुष	त्रिपूरुषं
४०	३	ग्रह	गृह
४७	१९	स्नेह	स्नेहं
४८	१६	दिष्टया	दिष्टचा
४८	१६	लच्छी	अच्छी
४८	२१	पप्रच्छू।	पप्रच्छुः
५०	१३	कष्ण	कृष्ण
५०	२१	दूःख	दुःख
५१	५	गोपी!श्च	गोपींश्च
५१	२३	भ्राकॄन्	भ्रातॄन्
५१	२३	स्वस्कॄरपि	स्वसॄरपि
५४	९	मुच्छ्वसितो	मुच्छ्वसितो
५४	२०	रूपयन्ती	रुपयन्ती.
५५	२८	भवगान्	भगवान्
५५	३२	जा	जाय
५६	२५	शोरि	शौरिः
५७	४	सात्तवना	सान्त्वना
५८	२६	वस्त्र, जल	वस्त्रं, जलं
५९	१०	ज्योतसना	ज्योत्स्ना
५९	२०	यथा सुख	यथासुखं
६१	१२	प्रलय	प्रालेय
६४	२१	स्तवं	स्त्वं
६४	२४	नस्थेयं	वस्थेयं
६९	५	को	की
७३	२६	बहिर्मूख	बहिर्मुख
७४	१५	अतवीर्णं	अवतीर्णं
७५	२५	नान्य	नान्या
७७	२५	त्यवत्वैहि	त्यक्त्वैहि
७८	३१	कन्थनं	कत्थनं
७९	१२	अन्ताकरण	अन्तःकरण
८५	२५	अल्किष्ट	अक्लिष्ट
८६	५	प्रहरण कर्तृं	प्रहरणकर्त्रौः
८६	७	क्षयौ	क्षयो
८६	२०	मोदवह	मोदवहं
८६	२६	आयोधन	आयोधनं
८९	१७	मत्सरिण	मत्सरिणं
९४	१७	नारायण श्रम	नारायणाश्रम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९५	१८	स्फ़यो	स्फयो
९६	११	ब्रह्मरण	ब्रह्मण्य
९८	१८	स्थान	स्थानं
१०४	१०	त्याशङ्कचा	त्याशङ्कच
११२	१८	रग्नीन्	रग्नीन्
११३	२	मुत्रादि	मूत्रादि
११३	२६	उच्छह्वल	उच्छृह्वल
११५	३०	हस्ति	हस्ती
११६	४	शाखामांरूढ़:	शाखामारूढ़:
११८	२९	माहातमयं	माहात्म्यं
११९	७	नयन	नयनं
१२०	१	उद्गत	उद्धत
१२२	१७	प्रहार	प्रहारं
१२४	१९	साङ्कशौ	सङ्काशौ
१२५	६	मुसललाङ्गल	मुसललाङ्गले
१२६	५	पवत	पर्वत
१२७	५	स्थिती	स्थिति
१३३	२३	अभिवित्त	अभिषित्त
१३४	४	सयत	संयत
१३९	४	न सा साङ्ख्य	न सा सङ्ख्या
१४१	१	नाण्त्रौ	नण्त्री
१४१	१३	सभायस्या	सभार्यस्या
१४३	५	स्वागमन	स्वागमनं
१४४	२४	सौहर्द	सौहार्द
१४८	७	भवितुमहति	भवितुमर्हति
१५०	१०	पूख	पुख
१५२	१८	दानपेक्षेत्या	दानापेक्षोत्या
१५३	१५	स्वीकीयेषु	स्वकीयेषु
१५५	२६	केवक	केवल
१५६	६	क्रिया	क्रिया
१५९	१	सार्थक	सार्थकं
१६३	१०	जगत्त्रायमिति	जगत्त्रयमिति
१६३	१८	सर्वजनिन	सर्वजनीन
१६३	२४	मुद्दीदार्यं	मुद्दिदार्यं
१६५	२२	चायि	चापि
१६७	११	द्विडतस्ते	क्रीडतस्ते
१६८	२५	स्थित	स्थिति
१६८	२७	शरणागतिं	शरणागतिं
१७१	२३	प्रराक्रम	पराक्रम
१७२	१३	हलायुद्धः	हलायुधः
१७६	२७	नरक	नरकं
१७		सङ्ख्या	सङ्ख्चा
१८०	२	उत्फुल्लेन्दु	उत्फुल्लेन्दी
१८२	९	रेकतत्र	रेकस्तत्र
१८२	२७	शारांश	सारांश
१८५	९	निष्कयण्ठीभिः	निष्ककण्ठीभिः
१८६	१	गीता	गीत
१८९	२६	श्रेयार्निति	श्रेष्ठः नीति
१९१	१२	गृहस्ताश्रम	गृहस्थाश्रम
२००	१०	कुत्रचचिद्द्विजमुख्येभ्यौ	कुत्रचिद् द्विज मुख्येभ्यो
२०१	५	कमिर्भोगैः	कामैर्भोगैः
२०४	२४	नरदादीन्	नारदादीन्
२०५	८	हृषीकेशत्यनेन	हृषीकेशेत्यनेन
२११	८	मार्गोऽतीत्यर्थः	मार्गोऽस्तीत्यर्थः
२१६	११	जेत्	चेत्
२२०	२२	गुणावन्	गुणवान्
२२५	१	सम्भूतीरिति	सम्भूतिरिति
२२७	१३	स्स्त्रयों	स्त्रियों
२३४	२	विनती	विनति
२३८	२	भावायमानाः	भावयमानाः
२३९	१	ददाभ्येतद्धतं	ददाम्येतद्व्रतं
२४०	३६	दूःखी	दुःखी
२४९	१	तादीति	तदिति
२५४	९	देवों	देव
२५७	४	अब्र	अब
२५८	९	श्चक्षर्वा	चक्षर्वा

॥ श्री हरि ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

* एकादश पुष्प *

सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण

श्रीमद्भागवत एकादशम्स्कंध अध्याय ७१-७७

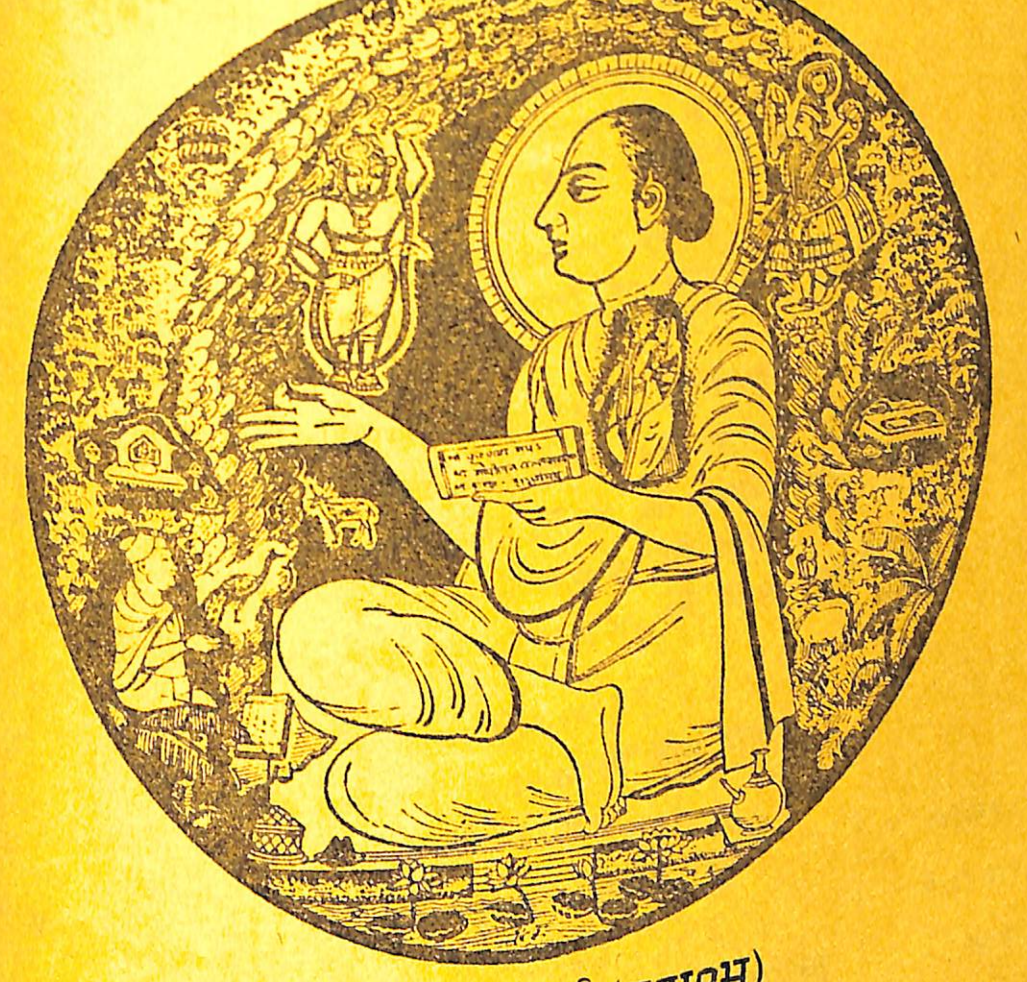

श्रीमद्वल्लभाचार्य (महाप्रभु)

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०) जोधपुर (राज०)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

एकादश पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण (पूर्वार्द्ध) एवं श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय—७१ से ७७
श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय—६८ से ७४
सात्विक - साधन - अवान्तर - प्रकरण अध्याय—१ से ७

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।
साकारु ब्रह्म वादैक स्थापको वेद पारगः ॥—(श्रीमद्वल्लभाचार्य)
श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ —

टिप्पणी—**श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण**
लेख—**नि.ली.गो. श्री वल्लभजी महाराज**
प्रकाश—**नि.ली.गो. श्री पुरुषोतमजी महाराज**
योजना—**गो.वा.प.भ. श्री लालुभट्टजी**
कारिकार्थ—**गो.वा.प.भ. श्री निर्भयरामजी भट्ट**

हिन्दी अनुवादक :
गो.वा.प.भ. श्री फतहचन्दजी वासु शास्त्री
जोधपुर (राज०)

प्रथम आवृत्ति—१०००
प्रबोधिनी एकादशी
दिनाङ्क ६ नवम्बर'७३

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,
जोधपुर (राजस्थान)

न्यौछावर
सादर भेंट
संस्था
सदस्यों को

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

जोधपुर (राजस्थान)

के

उद्देश्य :

जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों का राष्ट्र भाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद कराकर जन साधारण निमित्त प्रकाशन कराना।

सदस्यता :

विशिष्ट आजीवन सदस्य—रु. १०००.०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंट करके बन सकते हैं।

आजीवन सदस्य—रु. १५०)०० से ९९९)०० तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंट करके बन सकते हैं।

संस्था के प्रकाशन :

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित संस्कृत टीका सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेंट।

सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों की सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद तैयार है, जिसमें से प्रथम ७७ अध्यायों का राष्ट्र भाषा हिन्दी में सरल सुबोध अनुवाद ग्यारह पुष्पों में छप गया है; जिसमें से एकादश पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ है, आगे का खण्ड छप रहा है। सब ही पुष्प सचित्र एवं अष्ट छाप के पदों से सुशोभित एवं मनमोहक हैं।

मुद्रक : हिमालय प्रिण्टर्स – खांडा फलसा, कुम्हारिया कुआ, जोधपुर.

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला का एकादश पुष्प

सात्विक – साधन – अवान्तर – प्रकरण

सामग्री

दो शब्द ...गो० श्री वृजभूषणलालजी महाराज—संस्थाध्यक्ष १
विनम्र निवेदन ...श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी वर्मा)—प्रधानमन्त्री २
श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से सौरभ पूर्ण चुनी हुई कुछ कलियाँ—सुबोध-रत्नाकर ४
श्री भागवतार्थ प्रकरण में से सात्विक-साधन-अवान्तर-प्रकरण ...अनुवादक-गो.वा. श्री फतहचन्दजी शास्त्री ५
श्री सात्विक-साधन-अवान्तर-प्रकरण की भूमिका...लेखक " " १३

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय	श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
६८	७१	भगवान् श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ पधारना	१
६९	७२	पाण्डवों के राजसूय यज्ञ का आयोजन और जरासन्ध का उद्धार	३७
७०	७३	जरासन्ध के बन्दीगृह से छूटे हुए राजाओं की विदाई और भगवान् का इन्द्रप्रस्थ लौट आना	७५
७१	७४	भगवान् की अग्र पूजा और शिशुपाल का उद्धार	१०२
७२	७५	राजसूय यज्ञ की पूर्ति और दुर्योधन का अपमान	१४६
७३	७६	शाल्व के साथ यादवों का युद्ध	१७४
७४	७७	शाल्व उद्धार ...	१९६

अनुक्रमणिका २२६
शुद्धि पत्र १

चित्र सूची

शाल्व उद्धार २२३

मुख्य संरक्षक

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज, नाथद्वारा (राज.)
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज, सूरत (गुजरात)
" " दीक्षितजी महाराज, बम्वई (महाराष्ट्र)
" " पुरुषोत्तमलालजी महाराज, कोटा (राज.)
" " गोविन्दरायजी महाराज, पोरवन्दर (गुज.)
" " रणछोड़ाचार्यजी महाराज, जतीपुरा (उ.प्र.)
" " व्रजरायजी महाराज, राजनगर (अहमदाबाद—गुज.)
" " घनश्यामलालजी महाराज, कामवन (कामा—राज.)
" " व्रजभूषणलालजी महाराज,चौपासनी—जोधपुर (राज.), जामनगर (गुज.)

विशिष्ठ आजीवन सदस्यों की ओर से भगवत्स्मरण सादर

प. भ गो व. श्री नन्दलालजी मानधना	रु. ५०००)००
" " " " सौभाग्यवती मानधना	रु. ५०००)००
श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट	रु. ५०००)००
प. भ. गो. वा. श्री जमुनादासजी मून्धड़ा बीकानेर द्वारा उनके सुपुत्र जीवनदासजी आदि	रु. ३५००)००
प. भ. श्री गिरधरदासजी मून्धड़ा एवं उनके सुपुत्र गोविन्ददास जी आदि	रु. ३५००)००

प्रत्येक महानुभाव से १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त हुई, वे निम्न है ।

प. भ. श्री भगवानदासजी अग्रवाल	कलकत्ता	रु. १००१)००
प. भ. गो. वा. श्री ईश्वरलालजी चिमनलालजी	बड़ौदा	रु. १००१)००
प. भ. श्री वल्लभदासजी राठी	अमरावती	रु. १००१)००
प. भ. श्री ब्रजमोहनदासजी विजय	शुजालपुर मण्डी	रु. १००१)००
प. भ. श्री बाला भाई दामोदरदास ट्रस्ट	अहमदाबाद	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती बेला बहन चत्रभुजदासजी	वम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती काशी बाई	बम्वई	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती रम्भाबाई विठ्ठलदासजी मोहता	बीकानेर	रु. १००१)००
प. भ. रामी बाई अग्रवाल	लश्कर [ग्वालियर]	रु. १००१)००
प. भ. श्री रामनारायणजी द्वारा उनके सुपुत्र श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) एवं उङ्कारलालजी वर्मा प्रभृति	जोधपुर	रु. १००१)००
प. भ. श्री दादूभाई अमीन	बड़ौदा	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती गङ्गाबेन मजीठिया	बम्बई	रु. १००१)००
श्री सीराज चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा प.भ. श्री गुलाबचन्दजी सीराज	बम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्री प्रेमाबाई किसनचन्दजी भाटिया	कानपुर	रु. १००१)००
प. भ. श्री विठ्ठलदासजी रुक्मणी बहन	बम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्री व्रजदासजी विजया बहन	इचलकरंजी	रु. १००१)००
गो. वा. श्री हरगोविन्ददासजी अगरचन्दजी भगत वसाई डाबला वालों की स्मृति में द्वारा उनके सुपुत्र एवं श्रीमती चुन्नी बहन ह०अ० चेरिटेबल ट्रस्ट	बम्बई	रु. १०००)००
प. भ. श्री हरिदासजी देवीदासजी माधोजी	बम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती लक्ष्मीबाई	बीकानेर	रु. १००१)००
स्व. श्री मुकन्ददासजी तापड़िया एवं उनके सुपुत्र चिरंजीव श्री रामेश्वरदासजी तापड़िया	जोधपुर	रु. १००१)००

॥ श्री हरिः ॥

दो शब्द

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध सुबोधिन्यानुसार ६८ से ७४ अध्यायों की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)का सात्विक-साधन-उप-प्रकरण हिन्दी अनुवाद सहित श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला का एकादशवाँ पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ है ।

भगवान् ने सात्विक भक्तों को विविध साधनों की मर्यादा का बोध यहाँ कराया है, अतः इसे सात्विक-साधन उप-प्रकरण कहते हैं । नीति के अनुसार मनुष्य को योग्य मनुष्यों से सम्मति प्राप्त करके ही महत्वपूर्ण कार्य करने चाहिए । भगवान् श्रीकृष्ण ने सर्वज्ञ होते हुए भी इस नीति का अनुसरण किया भगवान् को दो कार्य करने थे—(१)युधिष्ठर के राजसूय-यज्ञ में भाग लेना व (२)जरासंध द्वारा कारावास में रखे हुए राजाओं को मुक्त कराना । इन दोनों में से कौनसा कार्य पहले करने के लिए राजसभा में मतभेद था । आपने श्री उद्धवजी से इस सम्बन्ध में सम्मति प्राप्त कर उसके अनुसार कार्य किया ।

किसी भी शुभ कार्य में भगवान् की सर्वप्रथम पूजा करने से सब ही अमङ्गल एवं अनिष्ट वाधाओं का नाश हो जाता है जैसा कि राजसूय-यज्ञ में विघ्न डालने के इच्छुक शिशुपाल का वध तथा दुर्योधन एवं उनके पक्षपातियों का मान भंग हुआ । भगवान् की आज्ञा या इच्छा बिना किए गए कार्यों में सङ्कट व दुःख ही प्राप्त होते हैं, जैसे श्री बलभद्रजी बिना भगवान् की आज्ञा लिये द्वारका से इन्द्रप्रस्थ पधारे तो पीछे द्वारका पर शाल्व का आक्रमण हुआ और द्वारकावासियों को २७ दिन तक असह्य दुःख सहन करना पड़ा, जिसका निवारण अन्त में भगवान् को ही करना पड़ा ।

भगवान् अपने शरणागत जीवों के हृदय में विराजकर उनको साधन की प्रेरणा देकर उनकी सर्वदा भावी सङ्कटों से रक्षा करते हैं जैसे कि इन्द्रप्रस्थ में अधिक समय तक विराजने की प्रेरणा पहले पाण्डवों के हृदय में भगवान् ने की,जिससे उनको सानुरोध वहाँ विराजने की प्रार्थना पाँडवों के करने पर आप श्री वहाँ विराजे, जिससे श्री बलभद्रजी इन्द्रप्रस्थ में पधार कर दुर्योधनादि का मान भंग सहन न कर सकने पर भी भगवान् के वहाँ विद्यमान होने से पाण्डवों को नष्ट न कर सके ।

इन लीलाओं से हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि सब ही कार्यों में परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वप्रथम पूजा करें । उनकी शरण ग्रहण करते हुए उनकी आज्ञानुसार कार्य करें ।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण की आज्ञानुसार सदैव श्री वृजाधिप भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा स्मरण मन लगाकर करें, आत्म कल्याण का सबसे सरल एवं सुगम यही उपाय है ।

विश्वास है पाठक इस सिद्धान्त को केवल पढ़कर ही नहीं, कार्य रूप में इसे परिणित कर अपने आत्म कल्याण मार्ग को सुगम बनावेंगे । किमधिकम् सुज्ञे !

गो० ब्रजभूषणलाल

जामनगर—
अक्षय नौमी, वि.सं. २०३०

॥ श्री हरिः ॥

विनम्र निवेदन

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के इस ११वें पुष्प में श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध के ७१ से ७७वें अध्यायों की श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) सहित हिन्दी अनुवाद का समावेश है। इसे पहले एक पुस्तक के रूप में ही देने का निश्चय था, परन्तु इस कमर-तोड़ नित्य बढ़ती हुई महँगाई ने हमें विवश कर दिया कि इसे हम दशम् पुष्प के साथ एक ही जिल्द में बँधवा दें।

जैसा कि दशम् पुष्प के "विनम्र निवेदन" लेख में सूचित किया गया था कि प्रत्येक सदस्य को अगले तीन पुष्प प्रकाशन में आर्थिक सहायता देनी चाहिए। सदस्य महानुभावों ने इस प्रार्थना का स्वागत किया और कुछ रकम प्राप्त भी हुई, जिससे हम १२वें पुष्प का प्रकाशन करवा रहे हैं। आशा है भगवत्कृपा से १३वें पुष्प का प्रकाशन भी शीघ्र पूर्ण हो जावेगा जो मुद्रणालय ने सहयोग दिया; क्योंकि बढ़ती हुई महँगाई हमारे कार्य में पूर्ण रूप से बाधा डाल रही है। कागज बाजार से दुगुने दामों में लिया जा रहा है; क्योंकि इस वस्तु की एकदम कमी आ गई है और यदि कागज का मिलना ही बन्द हो गया तो हमें विवश होकर कार्य बन्द ही करना पड़ेगा। पुस्तक प्रकाशन में प्रारम्भ से लगे हुए कागज को ही हमने अब तक उपयोग में लिया है और पुस्तक का स्टैंडर्ड स्थिर रखा है और चाहते हैं कि पुस्तक का स्तर यही रहे—आगे भगवान् की जैसी इच्छा होगी, उसके अनुसार ही हम कार्य कर सकेंगा।

पाठक महानुभावों ने अब तक इस निरोध स्कन्ध के १० पुष्पों में दी हुई सामग्री का अध्ययन किया है कि दयार्णव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने किस प्रकार तामस-राजस भक्तों का निरोध सिद्ध किया है। १२वें पुष्प में सात्विक भक्तों को फल की प्राप्ति होगी व उनका निरोध भी सिद्ध होगा। १३वें पुष्प में ६ अध्यायों में भगवान् के छ गुणों के सम्बन्ध में हम पढ़ेंगे, जिसमें वेद स्तुति का भी समावेश है। इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण महाप्रभुजी की कृपा से हमें उपलब्ध होगा।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण एवं उनके वंशजों ने जो जगत् पर साहित्य सृजन द्वारा उपकार किया, वह अनुपम अद्भुत एवं अलौकिक है। सब वेद शास्त्रों का निष्कर्ष निकालकर आचार्य चरण ने षोडश ग्रन्थ नामक श्री वल्लभ-गीता में स्थापित कर दिया है, उन ग्रन्थों की गणना भले ही १६ है, परन्तु एक ग्रन्थ में केवल चार ही श्लोक हैं, जिसमें चार पुरुषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का गम्भीर एवं रहस्यपूर्ण विवरण है, जिसके स्पष्टीकरण के हेतु उनके ही वंशज महानुभावों ने अपने-अपने विचारों से उस रहस्यमयी वाणी को हमें संस्कृत टीका द्वारा समझाया है। उन ही ग्रन्थों में से 'सिद्धान्त रहस्य' ग्रन्थ में आपने बताया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने साक्षात् प्रकट होकर इस ग्रन्थ को मुझे कहा है, जिसका मैं अक्षरशः वर्णन करता हूँ।

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥

इस अवतरणिका के पश्चात् आप उस ग्रन्थ को निम्न श्लोक से प्रारम्भ करते हैं :—

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोष निवृत्तिर्हि दोषा पञ्चविधाः स्मृताः ॥

ब्रह्म के सम्बन्ध से सबकी देह और जीव सम्बन्धी सब दोषों की अवश्य निवृत्ति हो जाती है, वे दोष पाँच प्रकार के कहे हुए हैं। इस आज्ञानुसार श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने अपने मार्ग में इस दीक्षा को मुख्य रखा है, जिसके प्राप्त कर लेने के पश्चात भगवत्सेवा करने का अधिकार प्राप्त होता है। यह दीक्षा ग्रहण करते समय जिस मन्त्र का उच्चारण कराया जाता है, उस "गद्य मन्त्र" कहते हैं। ऐसा सुना है कि इस मन्त्र में पञ्चाक्षर बीज मंत्र है, जिसका स्पष्टीकरण ही गद्य मन्त्र का अन्य भाग है, इस मंत्र में ८४ अक्षर हैं। इस महा मंत्र का अभिप्राय समझाने को अनेक ग्रन्थों की रचना भी हुई हैं। इसी मंत्र द्वारा जीव परब्रह्म परमेश्वर सच्चिदानन्द घन भगवान् श्रीकृष्ण को आत्म समर्पण करते हुए उनका दासत्व स्वीकार करता है।

इस मन्त्र का सूक्ष्म अर्थ है कि हे श्रीकृष्ण ! आपसे बिछुड़े हुए मुझे अनन्त काल हो गया है, जिससे बिछुड़ने के क्लेश के आनन्द की भी मुझे विस्मृति हो गई है। भगवान् कृष्ण आपको मैं देह, इन्द्रियाँ, प्राण, अन्तःकरण और उनके धर्म, दारा, आगार, पुत्र, आप्त, वित्त, यह लोक, परलोक आत्मा सहित समर्पण करता हूँ, मैं आपका दास हूँ।

इस समर्पण के पश्चात् जीव के पास केवल भगवान् के दासत्व के सिवाय कुछ नहीं रहता है; क्योंकि सर्वस्व वह स्वयं तथा जिसको वह अपना मानता है, वे सब भगवान् को समर्पण कर देता है अर्थात् उसकी अहंता व ममता समर्पण हो जाती है, तथापि जी भी उसके पास आत्म निवेदन से पहले पदार्थ थे वे सब उसके पास ही ज्यों के त्यों रहते हैं, परन्तु भेद यह रहता है कि उसे हृदय से वे सब प्रभु के मानने चाहिए और उन पर से अपना ममत्व हटा लेना चाहिए। जब तक जीव का ममत्व उन पदार्थों में से नहीं हटता है, तब तक द्वन्द्व अर्थात् दुःख-सुख, लाभ-हानि, मान-अपमान, यश-अपयश इनका वह अनुभव करता है। जिस समय वह सर्वस्व प्रभु का है, यह हृदय से मान लेता है, तब उसकी चिन्ता निवृत्त हो जाती है, जो पुष्टिमार्ग की साधन अवस्था का एक अङ्ग है। प्रभु की सेवा, स्मरण, गुणगान, कीर्तन हम लोग अवश्य करते हैं—पर चित्त नहीं लगता; क्योंकि जब तक हमारा वस्तुओं में ममत्व होता है, हम चिन्ता से निवृत्त हो नहीं सकते। इस चिन्ता निवृत्ति के लिए श्रीमदाचार्यचरण ने 'नवरत्न' ग्रन्थ की रचना की है, जिसके पाठ व मनन करने से चिन्ता दूर हो जाती है और वह जीव सेवोपयोगी बन जाता है। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण की आज्ञा है कि श्रीमद्भागवत का निरन्तर पाठ करना चाहिए। उन वाक्पति की वाणी का कुछ ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही उनकी इस अलौकिक सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद जो गो०वा० श्रीमान् नन्दलालजी मानधना का मनोरथ रूप फल हमको प्राप्त हो रहा है, जिसका मननपूर्वक लग्न के साथ हमें सेवन करना चाहिए। जब प्रभु के सब पदार्थ हैं तो भगवत्कार्यों में धन का संकोच करना हमारा अपराध बन जाता है, इसलिए इस ग्रन्थ प्रकाशन के कार्य में सेवा करने में वे संकोच करें तो उसका क्या परिणाम होगा? वे स्वयं विचार करें।

इस ग्रन्थ प्रकाशन कार्य में आर्थिक सहयोग देने-दिलाने में जो महानुभाव रुचि रखते हैं उनका तथा पूज्य पाद गोस्वामी माधवरायजी एवं उनके भ्राता रसिकरायजी, द्वारकेशलालजी महाराज का विशेष रूप से आभार यह संस्था सादर स्वीकार करती है; क्योंकि इस वर्ष आप श्री ने इस संस्था के सदस्य बनाकर ग्रन्थ प्रकाशन को तीव्र गति देने की कृपा की है।

अन्य सदस्य महानुभाव जो पुष्प प्रकाशन खर्च से अधिक सेवा भेज रहे हैं, कोई आजीवन सदस्य श्रेणी में पधार रहे हैं, उनका सदस्य श्रेणी से सेवा भावना के कारण विशिष्ट आजीवन सदस्य श्रेणी में पधार रहे हैं, उनका हम सादर अभिनन्दन करते हैं। रसश श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् को यह सादर प्रार्थना है कि उनके वदनावतार आचार्य श्रीमद्वल्लभ महाप्रभु की अलौकिक वाणी को धारण करने व उसका अनुसरण करने की हम सबको सद्बुद्धि एवं शक्ति प्रदान करें।

जोधपुर—
प्रबोधनी एकादशी–वि.सं. २०३०

तदीयजन चरणरजाभिलाषी
नन्ददास (रामचन्द्र)

।। श्री हरिः ।।

श्री सुबोधिनी पुष्प-वाटिका में से चुनी हुई कुछ सौरभ पूर्ण कलियाँ

धर्मब्राह्मणावेव पुष्टिमार्गे बाधकौ तयोः प्रतिविधानं किञ्चित् पुष्टिविरोधार्थेन ।।१०-६८-१।।	धर्म और ब्राह्मण पुष्टिमार्ग में बाधा करने वाले हैं। उनका समाधान कोइक पुष्टि के विरोध करने के अर्थ से होता है।
आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्य ।।१०-६९-३१।।	आपत्ति में भी अपने देश का त्याग नहीं करना।
आदरेण (भगवते) नमनं सर्वकार्यसाधकम् । ।।१०-७०-१६।।	आदर से (भगवान् को) नमन सर्व कार्य सिद्ध करने वाला है।
अत्यन्तस्नेह एव नित्यस्मरणमिति सिद्धान्तः । प्रयोजनसाधकत्वं त्वौपाधिकं संस्मरण हेतुः । ।।१०-७०-१८।।	अत्यन्त स्नेह (होवे) तब ही नित्य स्मरण होवे, ऐसा सिद्धान्त है। प्रयोजन साधन ये समय-समय पर स्मरण करने का कारण है।
चरणोदकधारणमतिश्रद्धाबोधकम् । अन्यथाऽश्रद्धयेति दानं व्यर्थं स्यात् ।।१०-७१-२७।।	चरणोदक धारण करना वह बहुत श्रद्धा दिखाने वाला है, नहीं तो श्रद्धा न होने से दान व्यर्थ होवे।
धर्मफलमधर्मो न सहते यथा आमयो गुरु भोजनम् ।।१०-७१-५३।।	जैसे रोग भारी भोजन सहन करता नहीं, वैसे अधर्म धर्म का फल सहन नहीं करता।
सर्वथा भग्नोपाय एव भगवत्परो भवति । ।।१०-७३-१३।।	सर्वथा उपाय भंग होवे, तब भगवत्परायण होता है।
धर्मकीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीय इति सिद्धान्तः । ।।१०-७३-३३।।	धर्म और कीर्ति में विरोध आवे, तब धर्म का रक्षण करना—ऐसा सिद्धान्त है।
मोक्षदानमेवास्यावतारस्य प्रयोजनम्, अन्यस्तु गौणम् 'नृणां निःश्रेयसार्थाये'ति वाक्यात् । अन्यथा कामादिभिर्भजने मोक्षो न स्यात् । ।।१०-७४-३२।।	'मनुष्यों को निःश्रेयस के लिए' वाक्य से मोक्षदान ही इस अवतार का प्रयोजन है दूसरे (प्रयोजन) तो गौण हैं, नहीं तो काम आदि से भजन करने से मोक्ष नहीं होवे।

।। श्री हरिः ।।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित

तत्त्वार्थ दीप निबन्ध–भागवतार्थ प्रकरण

दशम स्कन्ध–सात्त्विक–साधन उप–प्रकरण

अध्याय ६८ से ७४

सन्दर्भ—दशम पुष्प के आगे

श्लोक—**सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि स्वयं ज्ञात्वाऽपि सर्वथा ।।३३३।।**
कृष्णाज्ञां वा सहायं वा लब्धवैवेष्टपरो भवेत ।
तदा तु हरिरागत्य हितं वक्ति करोति च ।।३३४।।

श्लोकार्थ—सामर्थ्य अर्थात् कार्य करने की शक्ति भी विद्यमान हो तथा सर्व प्रकार से यह ज्ञान भी हो कि यह कार्य कैसे करना चाहिए, फिर भी श्रीकृष्ण की आज्ञा व सहायता लेकर ही अपन इच्छित कार्य प्रारम्भ करना चाहिए, यों करने से हरि प्रसन्न हो स्वयं पधार कर हित का उपदेश देते हैं, और वह कार्य स्वयं पूर्ण करते हैं ।।३३३-३३४।।

व्याख्या—प्रमेय प्रकरण के विचार करने के अनन्तर साधन प्रकरण का बिचार करते हैं जिसमें १३ कारिका से इस प्रकरण के साधन प्रकरण नाम का बीज कहते हैं—यह प्रकरण, भगवान् के कहे हुए साधनों का बोध कराता है तथा साधनों की मर्यादा का बोध कराता है, इसलिए इसका नाम साधन प्रकरण पड़ा है ।।३३३-३३४।।

श्लोक—**साधने सर्वथा नीतिः कर्तव्येति प्रबोधनन् ।**
उद्धवं मुग्ध भावेन पृच्छति स्म करोति च ।।३३५।।

श्लोकार्थ—जब कोई भी साधन करना हो तब मनुष्य को नीति के अनुसार चलना चाहिये, यह बात समझाने के लिए स्वयं भगवान् ने अपने को अज्ञवत् बताकर उद्धव से पूछा, कि मैं क्या करूँ ज्यों उद्धव ने कहा त्यों किया ।।३३५।।

व्याख्या—जब भगवान् स्वयं सर्वज्ञ हैं तब उद्धव से क्यों पूछा? एवं सर्व समर्थ को सर्व साधनों से क्यों जाना कहा जाता है? जिसका उत्तर देते हैं कि लोक में जब कोई साधन-कार्य करना पड़े तब नीति अपनानी चाहिए, मर्यादा का त्याग नहीं करना चाहिए, यह विषय नीति से अनभिज्ञ यादवों को समझाने के लिए आपने मुग्ध (अज्ञ) का भाव दिखाते हुए उद्धव से प्रश्न किया

इस समय क्या करना चाहिए ? उद्धवजी ने जैसी सम्मति दी उसी प्रकार किया—यह साधन के उपोद्घातपन से कहा जाता है इससे यह साधन प्रकरण कहा है। साधन प्रकरण ६८ से ७४ अध्याय तक है ।।३३५।।

श्लोक—**यावत्कर्तुं हि जीवानां शक्यं तावद्वदत्ययम् ।**
साहाय्यं वा कुरूते तावद्येन भवेत्क्रिया ।।३३६।।
इति बोधयितुं कृष्णः सम्भृत्या सर्वथा गतः ।

श्लोकार्थ—उद्धवजी उतना साधन करने के लिए कहते हैं कि जितना जीव से बन (हो) सकता है तथा जितनी सहायता से कार्य पूर्ण हो जाता है, भगवान् भी उतनी ही सहायता देते हैं, यों जताने के लिए श्रीकृष्ण सर्व साधन सहित इन्द्रप्रस्थ पधारे ।।३३६-½।।

व्याख्या—उद्धव भगवान् के प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जीव से शक्ति पूर्वक जितना बन सके उतना कार्य करना चाहिए, भगवान् भी कार्य के प्रमाणानुसार सहायता करते हैं अतः युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ जितने साधनों से सम्पूर्ण हो सके उतने साधन लेकर इन्द्रप्रस्थ पधारे थे, यह ऐश्वर्य लीला है इसी तरह पहले का उपोद्घात प्रकार कहा ।।३३६½।।

श्लोक—**सर्वभावेन पूजार्थं श्रद्धादीनां च वृद्धये ।।३३७।।**
शत्रूणां दृष्टिदोषाय भक्तमाहात्म्य सिद्धये ।
क्वाचिदेकोऽपि वेषेण दृष्टादृष्टप्रकारतः ।।३३८।।
यथा भीमस्य सामर्थ्यं दत्वा मृत्युश्च बोधितः ।

श्लोकार्थ—पाण्डव सर्वभाव से पूजा करे और उनकी श्रद्धा आदि भाव बढे इसलिए इन्द्रप्रस्थ पधारे ।।३३७।।

शत्रुओं की दृष्टि में भगवान् के दोष देखने में आये तथा भक्त का माहत्म्य सिद्ध हो इसलिए किस समय एकाकी वेष बदल कर इसी तरह पधारते थे कि कोई पहचान सके वा कोई न भी पहचान सके, जैसे भीमसेन को अपना सामर्थ्य देकर, जरासन्ध की मृत्यु बताई—

व्याख्या—ऐश्वर्य लीला के पश्चात् 'सर्वभावेन' से लेकर दो कारिकाओं से वीर्य तथा यश की दो लीलाएँ कही है, वे दो लीलाएँ भी प्रकरण में उपोद्घातपन से प्रवेश करती हैं। युधिष्ठिर भक्त था, उसका कार्य सिद्ध हो तो उसका यश (महात्म्य) बढे इसलिए श्रीकृष्ण वेष बदल कर भीम एवं अर्जुन को अपने साथ लेकर जरासन्ध के पास पधारे, जरासन्ध ने जान लिया कि यह कृत्य श्रीकृष्ण का है अतः श्रीकृष्ण दोषी है, यों समझने से उसको साधारण क्षत्रिय तथा डरपोक समझा, उस समय भगवान् ने जरासन्ध से द्वन्द्व युद्ध की याचना की, उसके पराजय का प्रकार जान वैसे किया, अदृष्ट प्रकार समझ में नहीं आया था अतः अब उदाहरण देकर उसका स्पष्टीकरण करते हैं। भगवान् ने गुप्त रीति से अपना सामर्थ्य भीम को दिया और जरासन्ध के मारने का प्रकार भी बता दिया ।।३३८-½।।

श्लोक—**प्रथमेतु मनः प्रीतिर्द्वितीये शत्रु मारणम् ।।३३९।।**
तेनैव यज्ञदेहानां बन्धनं विनिवारितम् ।

श्लोकार्थ—पहले अध्याय में युधिष्ठिर के मन की प्रसन्नता का वर्णन है, दूसरे अध्याय में शत्रु को मारने का वर्णन है, जिससे यज्ञ में होमार्थ बन्धन में पड़े हुए राजाओं के छुड़ाने की कथा है।३३९½।

व्याख्या—उप-प्रकरण सात-सात अध्यायों का होता है। अतः साधन का पहला अध्याय ६८ वाँ है जिसमें युधिष्ठिर के मन की प्रसन्नता की कथा है, दूसरे ६९ वें अध्याय में जरासन्ध के मृत्यु की कथा है एवं जरासन्ध ने जिन राजाओं को शंकर के यज्ञ में होमार्थ बन्धन में डाला था, उनको छुड़ाने का वर्णन है ।।३३९।।

श्लोक—**ततो बोधन मेकेषां लौकिकं चापि कारयन् ।।३४०।।**
साधनं कारयामास तथाऽन्यत्रागतस्तथा ।

श्लोकार्थ—पश्चात् उन राजाओं को भगवान् ज्ञान देते हैं, एवं लौकिक कार्य कराते हुए उनसे साधन भी कराते हैं, अनन्तर इन्द्रप्रस्थ पधारते हैं ।।३४०½।।

व्याख्या—तीसरे अध्याय का भावार्थ बताते हैं कि अनन्तर, भगवान् ७० वें अध्याय में राजाओं को उपदेश देते हैं, पश्चात् उनके लौकिक कार्य व संस्कार कराके बाद में, उनसे भगवत् प्राप्ति के साधन कराने लगे, यों यह कार्य पूर्ण कर स्वयं इन्द्रप्रस्थ पधारे ।।६४०⅓।।

श्लोक—**ततस्तु यज्ञसंसिद्धिस्तत्र दैत्यस्त सन्निधौ ।।३४१।।**
न निःशंकं देवचर्यास्तत्रोपायो हरेर्भजिः ।
तदैव प्रकटा दैत्याः स्वात्मानं दर्शयन्ति हि ।।३४२।।

श्लोकार्थ—दैत्य की सन्निधि (उपस्थिति) में देवकार्य पूर्ण होना अशक्य है, क्योंकि निःशङ्क होकर देव कार्य नहीं किया जा सकता, अतः इसका उपाय भगवान् की पूजा करना ही है, तब ही दैत्य प्रकट होकर अपना स्वरूप दिखाने लगे, यों कार्य करने पर यज्ञ की सिद्धि हुई ।।३४२।।

व्याख्या—युधिष्ठिर के यज्ञ में, शिशुपाल दैत्य भी उपस्थित था, अत दैत्यों के सामने देव कार्य निःशङ्क होकर करने में नहीं आता, अतः वह कार्य छूट से करने में आवे उसका एक ही उपाय श्रीकृष्ण की अग्रपूजा था—इस पूजन से दैत्य प्रकट होंगे यों करने पर शिसुपाल ने अपना दैत्य स्वरूप प्रकट किया ।।३४२।।

श्लोक—**अतः कृष्णस्य पूजायां शिशुपालो हतोऽसुरः ।**
मानभङ्गस्तथाऽन्येषां दुर्योधनहितैषिणाम् ।।३४३।।

श्लोकार्थ—इस अवसर पर कृष्ण की पूजा होने पर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण की निन्दा कर

अपने को स्वयं श्रीकृष्ण के हस्तकमलों से मरवाया एवं दूसरे जो (दुर्योधन) पक्षपाती थे उनका भी मान भंग हुआ ।।३४३।।

व्याख्या—यज्ञ में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा होने के कारण शिशुपाल मारा गया श्रीकृष्ण में सायुज्य को प्राप्त हुआ यह प्रमेय प्रासङ्गिक शिक्षार्थ है और दुर्योधन के हित की जो इच्छा करने वाले अन्य थे उनका मानभङ्ग हुआ, यह लीला अभक्तों का सङ्ग न करना चाहिए, इस शिक्षा के लिए की है ।।३४३।।

श्लोक—**पूर्वं तु बलभद्रोऽत्र न यागार्थं समागतः ।**
प्रद्युम्नप्रमुखास्तत्र समायाता महारथाः ।।३४४।।
मुख्ये यागे निवृत्ते तु तान् प्रस्थाप्य कुशस्थलीम् ।
पाण्डवानां प्रार्थनया कियत्कालं तथाऽवसत् ।।३४५।।

श्लोकार्थ—बलरामजी यज्ञ के लिए पहले नहीं आये थे केवल प्रद्युम्न जिनमें मुख्य था वे महारथी आये थे ।।३४४।।

जब मुख्य यज्ञ का कार्य सम्पूर्ण (समाप्त) हो गया तब प्रद्युम्नादि को द्वारका भेज कर स्वयं श्रीकृष्ण पाण्डवों की प्रार्थना से कितने ही समय तक वहाँ विराजे ।।३४५।।

व्याख्या—जब द्वारका से प्रद्युम्न आदि यज्ञ के लिए आए थे तब बलभद्र नहीं पधारे थे, यज्ञ कार्य जब निपट गया तब भगवान् ने प्रद्युम्नादि को द्वारका भेज दिया, आप पाण्डवों की प्रार्थना से इन्द्रप्रस्थ में कितने ही समय तक विराजे ।।३४४-३४५।।

श्लोक—**दुर्योधनादिमानस्य भङ्गे तत्र समागतः ।**
मिलितः कृष्णदेवेन रामो नोवाच किञ्चन ।।३४६।।
अन्यथा पाण्डवान् सर्वान् हन्यादेवाविचारयन् ।
एतदर्थं स्थितः कृष्णः प्रार्थनां जनयन् हृदि ।।३४७।।

श्लोकार्थ—दुर्योधनादिकों के मान भंग हो जाने के अनन्तर बलभद्र वहां पधारे और श्रीकृष्ण से मिले, श्रीकृष्ण को कुछ भी नहीं कहा, यदि वहाँ श्रीकृष्ण न विराजे होते तो बिना विचार किये सर्व पाण्डवों का नाश कर देते, इसलिए ही भगवान् ने पाण्डवों के हृदय में अपने विराजने के लिए प्रार्थना प्रादुर्भूत की थी, जिस प्रार्थना से आप वहाँ विराजे हुए थे ।।३४६-४७।।

व्याख्या—बलभद्र ने इन्द्रप्रस्थ आकर दुर्योधनादि का मानभंग होना देखा और यह समझा कि यह मानभंग पाण्डवों ने कराया है, श्रीकृष्ण से मिले किन्तु इस विषय में कुछ भी नहीं कहा, यदि श्रीकृष्ण वहाँ न विराज द्वारका पधार गये होते तो बिना विचारे सकल पाण्डवों का नाश कर देते । इस बात को जान कर ही श्रीकृष्ण ने अपने यहाँ विराजने की प्रार्थना का विचार पाण्डवों के हृदय में उत्पन्न किया जिससे उन्होंने प्रार्थना की और आप वहां विराजे, जिससे ही पाण्डवों का नाश बलभद्र न कर सके, योजना कारने 'प्रार्थना जनयन् हृदि' पद का आशय यह लिखा है कि भगवान् ने पाण्डवों के हृदय में यह भाव उत्पन्न किया कि बलभद्र को प्रार्थना कर सन्तुष्ट करो, यज्ञ की सम्पूर्ण सिद्धि श्री गुण का कार्य है, दुर्योधनादि का मानभंग ज्ञान गुण का कार्य है, भू भार

उतारने की इच्छा से युक्त है । पाच अध्यायों से भगवान् की आज्ञा युक्त परिकर सहित एक साधन दिखाया है ।।३४७।।

श्लोक—**महादेवाधिदैवस्तु शाल्वस्तत्र सहायवान् ।**
द्वारकायां यथा पूर्वं ददौ क्लेशं सुदुःसहम् ।।३४८।।
यावत्तत्वानि पुरुषव्यतिरिक्तान्यहानि हि ।

श्लोकार्थ—शाल्व का अधिष्ठाता देव महादेव था वह (महादेव) उसकी (शाल्व की) सहायता करता था, पुरुषतत्व के सिवाय शेष जितने तत्व हैं उतने दिन शाल्व ने द्वारकावासियों को असह्य दुःख दिया ।।३४८-१/२।।

व्याख्या—महादेव ने शाल्व को सौभ विमान देकर सहायता की थी, पुरुष सहित २८ तत्व हैं, पुरुष के सिवाय २७ तत्व होते हैं इतने २७ दिन शाल्व ने द्वारकावासियों को असह्य दुःख दिये ।।३४८-१/२।।

श्लोक—**अत आज्ञां विना किञ्चिन्न कर्तव्यं कथंचन ।।३४९।।**
यतो रामे समायाते द्वारकाऽत्यन्त पीड़िता ।
कालादेरनुरोधेन भगवांश्चापि मन्यते ।।३५०।।
आत्मानमन्यथाऽन्यत्र का शङ्का कार्यसाधने ।

श्लोकार्थ—इससे भगवदाज्ञा प्राप्त किए बिना कुछ भी, कैसे भी कोई कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि भगवदाज्ञा लिए बिना राम इन्द्रप्रस्थ आए तो द्वारका अत्यन्त दुःखी हुई । भगवान् को भी कालादि के अनुरोध से, अपने को अन्यथा मानने लगे, नहीं तो कार्य सिद्ध करने में भगवान् को किसी प्रकार शङ्का न होती ।। ४९-३५०-१/२।।

व्याख्या—इस लीला से यह शिक्षा दी है मेरी (भगवान् की) आज्ञा बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिये । जैसे बलभद्र ने द्वारका रक्षण का कार्य छोड़, भगवदाज्ञा न लेकर इन्द्रप्रस्थ आये तो शाल्व द्वारका को पीडित कर सका ।।३५०१/२।।

श्लोक —**एवं सप्तभिरूद्दिष्टं साधनं यद्धरिर्वदेत् ।।३५१।।**
अन्यथा सेवनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ।

श्लोकार्थ—इसी तरह सात अध्यायों से दिखाए हुए, जो साधन हरि ने, कहे हैं वे करने चाहिये । यदि साधन की आज्ञा न हो, तो भगवान् की सेवा ही करनी चाहिये, यों निश्चित सिद्धान्त है ।।३५१।।

व्याख्या—भगवान् की आज्ञा का पालन करना ही साधन है । यों इस सन्दर्भ में सिद्ध हुआ है । यह वृतान्त भी इस साधन प्रकरण के अन्तर्गत होने से इसे साधन प्रकरण ही माना जाना चाहिये । यों 'एवं' आदि कारिका से सिद्ध है, भगवान् की आज्ञा जिस कार्य के लिए हो वह कार्य करना चाहिये, यदि आज्ञा न हो, तो भगवत् सेवादि करने चाहिये, साधन प्रकरण की समाप्ति यहां होती है । इसका ज्ञान कराने के लिए 'अतः पर सात्विकातां फलं सप्तभि रूच्यते' यह कारिका कही है ।

श्लोक—**अतः परं सात्त्विकानां फलं सप्तभिरूच्यते ।।३५२।।**

श्लोकार्थ—इसके अनन्तर सात्विकों के फल का वर्णन सात अध्यायों से किया जाता है।३५२।

व्याख्या—यहां पूर्वाध्याय की समाप्ति के समय दन्तवक्र के आने का प्रकार आरम्भ में दिखता है इससे यह प्रकरण भी साधन का शेष होने से, फिर यहां से दूसरे (फल) प्रकरण का आरम्भ कैसे कहा जाता है ? ऐसी आकांक्षा पर उभयोः आदि कारिकाएं कहते है ॥३५२॥

श्लोक – **उभयोरैक्यसिद्ध्यर्थं कथाश्लेषो विधीयते ।**
प्रद्युम्नस्य जयस्मृत्या भगवत्स्मरणादपि ।।३५३।।
शाल्वे प्रविष्टो रुद्रो हि तेन प्रद्युम्नमारणम् ।

श्लोकार्थ—दोनों की एकता सिद्ध करने के लिए कथा का परस्पर सम्बन्ध कहा है। प्रारम्भ में जो प्रद्युम्न का जयनाद हुआ था उसको स्मरण कर और भगवान् रूद्र के स्मरण करने से रूद्र ने शाल्व में प्रवेश किया जिससे प्रद्युम्न की सेना मारी गई और प्रद्युम्न पराजय हुआ ॥३५३½॥

श्लोक—**कामजेता यतः प्रोक्तस्तेत्रानाप्यभवज्जयः ।।३५४।।**
द्युमत्यभूत्तदावेशः प्रद्युम्नस्यापकर्षणे ।
अनेन तस्मिन्समये सर्वेषामेव रुद्रतः ।।३५५।।

श्लोकार्थ—शंकर ही काम को जीतने वाले हैं अतः यहाँ भी शंकर की जय हुई है। क्यों कि, द्युमान् में शंकर का आवेश था जिससे प्रद्युम्न रण से हटाया गया, इससे यह ज्ञात हुआ कि सकल पाण्डवों का पराजय शंकर द्वारा ही हुआ है ।।३५४-३५५।।

व्याख्या—दोष भाव तथा फल दोनों का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए यों किया है, यहाँ से फल प्रकरण का प्रारम्भ कहा गया है, किन्तु यह आरम्भ उपोद्घातरूप से है प्रारम्भ तो ६७ कारिका से होता है। शाल्व वध प्रकरण का तात्पर्य अन्य पीछे देखिये ।।३५४-३५५।।

श्लोक—**पाण्डवानां यादवानां सर्वेषामेव कालतः ।**
फलं तदैव भगवान् प्रयच्छति यदाऽखिलाः ।।३५६।।
अत्यन्तं तापमायान्ति नो चेत्स्वादु फलं न हि ।

श्लोकार्थ—जब सब, काल के कारण, अत्यन्त दुःखी होते हैं, तब भगवान् कृपा कर यादव तथा पाण्डवों को फलदान प्रदान करते है अन्यथा फल, रस (आनन्द) देने वाला नहीं होता है।।३५६।।

व्याख्या—सप्तम् अध्याय का अर्थ कहते हैं 'पाण्डवानां' इत्यादि कारिकाओं से, यहाँ धर्मी लीला स्पष्ट है, इस प्रसंग में रूद्र से पराजय का होना असम्भव था तो फिर हस्त से शाङ्र्ग पातादि कैसे हुए ? जिसके उत्तर में कहते हैं पाण्डव आदि को दुःखी करने के लिए यह लीला की, तथा फल को स्वादिष्ट बनाने के लिए यों किया। यदि यों न करते तो माहात्म्य ज्ञान का अंश विशेष हो जाता, जिससे स्नेह न्यून हो जाने से फल में पूर्ण रसालता न आती।

यदि यों है तो फिर अलौकिक अर्थ देखने वाला ऋषिगण इसको मोह लीला कैसे गिनते है ? और शुकदेव उनके मन को दूषित कैसे करते हैं ? इस पर 'इतिकोचिद्वि चार्यात्र'...... कारिका

कही है। इस फल का, कृष्ण (परमात्मा) में रसालता सम्पादन ही अर्थ है यों विचार कर कहा है। स्वेच्छा से प्रकट रूप अथवा अपने शान्त स्वरूप में वा शुद्ध सत्व में अवतार लेना, अर्थात् साक्षात् स्वयं के प्राकट्य का अनुसंधान करने के लिए यों किया है।

श्लोक— **इति केचिद्विचार्यात्र कृष्णोऽपि परमात्मनि ।।३५७।।**
साक्षादुद्भूतरूपेऽपि प्राकृतत्वप्रतीतितः ।
अवतारान्तरे यद्वत्तथा वक्तुं विचारणाम् ।।३५८।।
कुर्वन्ति लोकमोहाय ।

श्लोकार्थ—इस प्रकार के चरित्रों का विचार कर लोगों को भुलावे में डालने के लिए कितनों ही का कथन है कि साक्षात् प्रकट परमात्मा के स्वरूप श्रीकृष्ण में प्राकृतपन की प्रतीति होने से, अन्य अवतारों की तरह ये भी हैं ।।३५८-½।।

व्याख्या—यदि श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं परब्रह्म होते तो, यादव दुःखी होवे, उनका पराजय हो, यों बन नहीं सकता है अतः श्रीकृष्ण भी अन्य अवतारों के समान है उनमें प्राकृतत्व भी है, इस प्रकार का सिद्धान्त लोक के मोहार्थ कुछ व्यक्ति निश्चित करते हैं ।।३५८-¼।।

श्लोक— **तदर्थं तन्मतं क्वचित् ।**
फलात्पूर्वं पूर्वपक्षरीत्योक्त्वा दूषयत्यतः ।।३५९।।
शुकः परमतत्वज्ञः केचित्प्रक्षेपमूचिरे ।
पूर्वपक्षकथायां तु मोहलीलेति निश्चयः ।।३६०।।

श्लोकार्थ—किन्तु परमतत्वज्ञ श्रीशुकदेवजी फल से पहले उस मत को पूर्व पक्ष की तरफ कह कर उसका दोष प्रकट करते हैं एवं कहते हैं कि कितने ही इस कथा को प्रक्षिप्त कहते हैं, पूर्व पक्ष में जो कुछ कहा है वह मोह लीला है, यों निश्चय है ।।३५९-६०।।

व्याख्या—वह मत सत्य नहीं है यों सिद्ध करने के लिए ही शुकदेवजी ने उस मत को पूर्व पक्ष में कहने के बाद उनके दोष बताये हैं जो तात्विक सिद्धान्त को नहीं जानते हैं ऐसे जो माध्वादि हैं उनका मत बताते हैं- वे कहते हैं ये श्लोक प्रक्षिप्त (पीछे जाते हुए) हैं, फिर सिद्धान्त कहा है कि, यह लीला मोहार्थ की यह निश्चय है ।।२६०।।

श्लोक- **महादेवस्य तोषार्थं क्वचित्कल्पे तथाऽभवत् ।**
तत्स्मृतिर्योगधर्मेण तत आहुर्मुनीश्वराः ।।३६१।।
तच्चापि न शुको मेने भक्तियुक्ताच्च योगतः ।
हृदिस्थदुष्टभावेन सहितं स्मरणं तथा ।।३६२।।
न तु शुद्धेन योगेन तथा दृष्टमतो न हि ।। ½

श्लोकार्थ—महादेवजी को प्रसन्न करने लिए किसी कल्प में यों हुवा, उसकी स्मृति योग धर्म से होने के कारण मुनियों ने इसी तरह कहा था, उसका भी भक्ति युक्त योग से यह सिद्धान्त सत्य है यों शुकदेवजी ने नहीं माना है। इस तरह का जो स्मरण मुनीश्वरों को हुवा जिसका कारण उनके हृदय में रहे हुए दुष्ट भाव थे, न कि शुद्ध योग से ऐसा देखा था, इस कारण से वह सत्य सिद्धान्त नहीं हैं ।।३६१-६२-½।।

व्याख्या—जिस कल्प में भगवान् का पूर्णावतार नहीं हुआ था उसी कल्प में महादेव को

प्रसन्न करने के लिए यों हुआ था, जिस चरित्र की कथा मात्र स्मृति योग से मुनिओं ने जान कर कही थी किन्तु भक्तिहीन योगियों को भगवान् की लीलाओं का तात्विक ज्ञान नहीं होता है फिर उन मुनिओं का हृदय दुष्ट भाव पूर्ण था, उस अशुद्ध हृदय में जो स्मरण हुआ था वह पूर्ण नहीं था अतः श्री शुकदेवजी भक्त योगी थे, इससे 'भक्त्यामामभिजानाति' इस श्री भगवद्गीता के वाक्यानुसार ही सत्य सिद्धान्त शुकदेवजी ही जान सके, जिससे इस मत को दूषित माना और कहा कि इन मुनियों ने शुद्ध (भक्तियुक्त) योग से नहीं देखा है, अतः जो देखकर कहा है वह सत्य नहीं है यदि यों है तो यह कथा क्यों कही ? जिसका उत्तर निम्न कारिकाओं से देते हैं ॥३६२-½॥

श्लोक—**एतस्य कथनादेवं ज्ञापितं सर्वथा यदा ॥३६३॥**
कार्यविशो वितनुते तदा मोहो भवेदिति ।
तेन केनापि लीलाऽपि न कर्तव्या कथंचन ॥३६४॥
तदाऽधिकारिणो देवा मन्यन्ते दुष्टभावनाम् ।
सत्त्वावतारपक्षे हि भवेदेतन्न चान्यथा ॥३६५॥
निर्गुणस्तु हरिः कृष्णः स्वयमाविर्बभूवह ।
सन्देहे तस्य भक्तैस्तु निर्णयो ज्ञायतं यथा ॥३६६॥
तं शस्त्रपूगैरित्यादि शुद्धं नान्यत्ततोऽधिकम् ।

श्लोकार्थ—इसके कथन से यों जताया है कि, जब कार्य में सब प्रकार से आसक्ति बढ जाती है तब मोह होता है, इसलिए मनुष्य को भगवान् की लीला का अनुकरण कभी भी नहीं करना चाहिए।

ऐसे प्रसंग में अर्थात् अनुकरण करने के प्रसंग में अधिकार वाले देव अनुकरण कर्ता की भावना दोषवाली है यों विचारते हैं, कारण कि भगवान् जब सत्व में स्थित हो प्रकट होते हैं तब यों बन सकता है अन्यथा (दूसरी स्थिति में) नहीं बनता है। श्रीकृष्ण तो हरि होने से निर्गुण रूप से प्रकट हुवे हैं।

सन्देह होने पर उनके भक्तों को चाहिए कि, शस्त्रों के समूहों से प्रहार करने वाले शाल्व के चरित्र की शिक्षा ग्रहण कर निर्णय करना चाहिए, श्रीकृष्ण ही शुद्ध परब्रह्म है, इससे अधिक उत्तम शुद्ध तत्व दूसरा कोई नहीं है ॥३६६-½॥

व्याख्या—इस कथा कों कह कर अथवा यह लीला कर यह बताया (शिक्षा दी) कि, जब कार्य में आवेश (आसक्ति) बढता है तब मोह उत्पन्न होता है। इस लीला में आसक्ति होने से, भगवान् हूँ तो भी मुझे मोह हुवा है तो आप जीवों को आसक्ति होने से मोह बढे जिसमें कोई आश्चर्य नहीं अतः जीवों को किसी कार्य में आसक्ति नहीं करनी चाहिए, तथा यह भी शिक्षा दी है कि इस लीला का अनुकरण भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि करने से अनिष्ट होता है।

अनुकरण करने में देवों के हृदय में दोष दृष्टि क्यों होती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसी लीला सत्वावतार में ही की जाती है भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं निर्गुण हैं उस स्वरूप से ऐसी लीला नहीं होती है यदि कोई श्रीकृष्ण ने ऐसी लीला की यों विचारता है तो अधिकारी देव उस भावना (विचार) को दुष्ट भावना मानते हैं।

श्रीकृष्ण स्वयं निर्गुण रूप हैं और यों ही प्रकटे हैं यदि इसमें संशय हो तो शाल्व चरित्र से मिटा देना चाहिए। श्रीकृष्ण से विशेष कोई अन्य नहीं है।

यों ३४-½ कारिकाओं से सात्विक साधन प्रकरण का विचार किया है।

॥ श्री हरिः ॥

भूमिका

सात्विक साधन ~~तामस फल~~ प्रकरण

अध्याय ६८ से ७४

श्रीमद्वाल्लचार्य श्री ने दशम स्कन्ध के पांच प्रकरण किए हैं–१–जन्म प्रकरण, २–तामस प्रकरण, ३–राजस प्रकरण ४–सात्विक प्रकरण और ५–गुण प्रकरण। जन्म प्रकरण के ४ अध्याय हैं, तामस प्रकरण के २८ अध्याय हैं, इसके ७–७ अध्याय के ४ उप प्रकरण हैं १–प्रमाण, २–प्रमेय, ३– साधन और ४–फल, वैसे ही राजस प्रकरण में भी इसी तरह ४ उपप्रकरण होने से, वह भी २८ अध्याय का है, सात्विक प्रकरण में ३–उपप्रकरण हैं प्रमेय, साधन और फल, जिससे इस प्रकरण में २१ अध्याय हैं, शेष गुण प्रकरण में ६ अध्याय हैं कारण कि ईश्वर ने ऐश्वर्यादि छ गुणों की लीला इस प्रकरण में प्रकट की है, इसी तरह दशम स्कन्ध में ८७ अध्याय होते हैं, शेष ३ अध्याय आचार्य श्री ने प्रक्षिप्त माने हैं, इस प्रकार समग्र दशम स्कन्ध ९० अध्याय का है।

उत्तरार्ध के २२ अध्याय से २८ अध्याय तक के इस सात्विक साधन प्रकरण में यह सिद्ध किया है कि भगवान् स्वयं जब तक साधन रूप हो भक्त का कार्य सिद्ध नहीं करते हैं तब तक भक्त के प्रयत्न अथवा अन्य साधन फलीभूत नहीं होते हैं, जैसे कि जरासन्ध के कैद किए हुए राजाओं ने दुःख से छूटने के लिए अनेक प्रयत्न एवं साधन किए किन्तु दुःख मिटा नहीं, जब भगवान् की शरण ली, तब भगवान् स्वयं साधन बने, जिससे उनके दुःख दूर हुए, नारद द्वारा प्रार्थना होने पर भगवान् स्वयं सैन्य सहित इन्द्रप्रस्थ जाकर युधिष्ठिर के यज्ञ पूर्ण करने में साधन रूप बने।

भगवान् जिस समय जैसा साधन बनना योग्य समझते हैं वैसे ही गुप्त वा प्रकट रूप से साधन बनकर शरणागतों का कार्य सिद्ध करते हैं—

सात्विक साधन प्रकरण के प्रथम अध्याय में भगवान् युधिष्ठिर के मन में अपने लिए प्रेम उत्पन्न करते हैं, मय को अग्नि से मुक्त कराकर उससे युधिष्ठिर के लिए सुधर्मा सभा भवन तैयार कराते हैं, और आप युधिष्ठिर का प्रिय सिद्ध करने के लिए कितने ही समय तक इन्द्रप्रस्थ में रहे, इससे अपना ऐश्वर्य धर्म प्रकट कर दिखाया है।

सात्विक साधन प्रकरण के द्वितीय अध्याय में जरासन्ध का वध करते हैं और बन्धन में डाले हुए राजाओं को छुड़ाते हैं–यह वीर्य धर्म का कार्य है।

सात्विक साधन प्रकरण के तीसरे अध्याय में इन बन्धन से छुड़ाए हुए राजाओं को भगवान् उपदेश करते हैं कि, लौकिक कर्म, आशक्ति बिना करते हुए,'मुझ में मन स्थिर करो, मुक्ति की प्राप्ति के अन्य साधनों का भी उपदेश देकर पश्चात् इन्द्रप्रस्थ पधारते हैं, यहां यश धर्म का कार्य प्रकट किया है।

चौथे अध्याय में भगवान् ने भक्त मेरा पूजन निर्विघ्न कर सके, तदर्थ दैत्य नाश ही उत्तम उपाय है, दैत्य का स्वरूप प्रकट हो, इसी वास्ते सहदेव द्वारा अपना पूजन कराया जिससे शिशुपाल का दैत्य स्वरूप प्रकट हो गया, उसको भगवान् ने नाश किया, यहां श्री धर्म दिखाया है।

पांचवे अध्याय में, दुर्योधन और इसके हितेच्छुओं का भगवान् ने नाश किया, इसी कार्य सिद्धि के लिए एवं पाण्डवों का बलभद्र अनिष्ट न कर सके, तदर्थ ही भगवान् ने पाण्डवों के हृदय में अपने यहां ठहराने की इच्छा प्रकट की थी, जिससे उन्होंने प्रार्थना की और भगवान् वहां हो ठहर गए, यदि भगवान् यहां न बिराजे होते तो बलभद्र यहां आकर दुर्योधन का मान भङ्ग देख शान्त न रह कर पाण्डवों का नाश करते ये यहां ज्ञान धर्म प्रकट किया है।

भगवान् की आज्ञा बिना यदि कोई कार्य किया जाता है तो उसका परिणाम दुःख ही होता है, जैसे कि बलभद्रजी भगवान् की आज्ञा न लेकर द्वारका को छोड़ इन्द्रप्रस्थ आ गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि शिशुपाल के हितैषी शाल्व ने समझा कि द्वारका में कृष्ण बलराम दोनों नहीं है अब जीत पाने का अवसर है, अतः सौभ में बैठकर द्वारका आकर युद्ध करने लगा वह युद्ध सत्ताईस दिन चला, जिस में द्वारका को बहुत दुःख भोगना पड़ा।

छट्ठे अध्याय में शाल्व से युद्ध में मूर्च्छित होने पर प्रद्युम्न को सारथी बाहर ले आया, किन्तु प्रद्युम्न यों भाग आने से युद्ध में मरना श्रेष्ठ समझते थे, जिससे सारथी के कार्य की निन्दा की है, इसी प्रकार शरीर में निर्मोहता दिखाई है अतः यह वैराग्य कार्य है।

सातवें अध्याय में शाल्व का वध भगवान् ने किया है, यह धर्मी कार्य है, यहां धर्मी स्वरूप से वीर्य धर्म प्रकट कर दिखाया है।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७१वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६८वां अध्याय

उत्तरार्ध २२वां अध्याय

सात्विक-साधन-अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—१"

भगवान् श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ पधारना

कारिका—**द्वाविंशे धर्मरक्षार्थं धर्मस्थानगतिर्हरेः ।**
सर्वसंमतियुक्तस्य शोभा युक्ता निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस २२वें अध्याय में धर्म की रक्षा के लिए भगवान् सर्व सम्मति से इन्द्रप्रस्थ पधार रहे हैं, इससे उनकी जो शोभा होने लगी, उसका निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**एका कृतिर्हरेरत्र बहुकार्यनिरूपिका ।**
निर्धार्यते सर्वसुखा धर्मे सर्वाधिकारिणी ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् की एक क्रिया बहुत कार्यों को सिद्ध करने वाली होगी, अतः प्रथम धर्मावतार युधिष्ठर के यहाँ जाने के लिए तैयारी की, वह क्रिया सर्व की

अधिकारिणी और सर्व को सुख देने वाली होगी, यह निर्धार किया जाता है, इस सुहृद् कार्य द्वारा भक्त रक्षण भी सिद्ध होगा एवं नारद तथा दूत दोनों का कथन बिना विरोध के सिद्ध हो जाएगा ॥२॥

—: इति कारिकार्थ सम्पूर्ण :—

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भगवद्वाक्यं शिरसा स्वीकृतम्, ततो भगवदिच्छानुसारेणैव कथने मन्त्रित्वं व्याहन्येतेति पूर्वापरानुसंधानार्थं उद्धवस्य प्रकरणज्ञानपूर्वकं उत्तरारम्भमाह **इत्युदीरितमिति** ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय के अन्त में उद्धवजी ने भगवान् के वाक्य को शिरोधार्य किया, उसके अनन्तर यदि केवल भगवदिच्छानुसार ही कहने में मन्त्रीपन की हानि होती है, इसलिए उद्धवजी को पूर्वापर का अनुसन्धान है, यह सिद्ध करने के लिए उद्धवजी का प्रकरण ज्ञान पूर्वक 'इत्युदीरितमाकर्ण्य' श्लोक में उत्तर देने का आरम्भ करते हैं, यों श्री शुकदेवजी वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् ।**
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि देवर्षि नारदजी का इस प्रकार का कहना सुनकर, श्रीकृष्ण और सभासदों का मत भी जानकर, महाबुद्धिमान् उद्धवजी कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—दूतवाक्ये न कस्यापि विवाद इति **देवर्षेरुदीरितमित्युक्तम्** । भगवद्वाक्यश्रवणानन्तरमुत्तरस्य वक्तव्यत्वेपि पुनर्नारदवाक्यानुसंधानात् तत्समाधानार्थमेव **उद्धवोऽब्रवीत्** । धर्मब्राह्मणावेव पुष्टिमार्गे बाधकौ, तयोः प्रतिविधानं किञ्चित्पुष्टिविरोधार्थेनेति प्रकरणार्थः । विवादे हि मन्त्रिणो वचनमिति पक्षद्वयं निरूपयति **सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य चेति** । सभ्यानां मतं युद्धार्थं गमनं मुख्यं धर्मार्थं पश्चात् । दुःखाभावसुखयोः आदौ दुःखं प्रतिविधातव्यमिति, एवं भगवतोप्येवं मतं **च**काराद्विपरीतं च । पौर्वापर्यसंदेहे निर्णयार्थमस्य बुद्धिरस्तीत्याह **महामतिरिति** । भक्तिमार्गनारदयोः कोपः प्रतिविधातव्यः, मर्यादा च स्थाप्या यावच्छक्यम् । अतो धर्मब्राह्मणमर्यादात्रयमेकत्र विरुध्यते, अपरत्र भक्तिमार्ग एवैकः ॥१॥

व्याख्यार्थ—श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'देवर्षेरुदीरितम्' कहा, 'दूतस्योदीरितम्' भी न कहा, जिसका आशय आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि दूत के कहे हुए वाक्य में किसी का भी विवाद नहीं था, केवल नारदजी के वाक्य में विवाद था, इसलिए विवादग्रस्त वाक्यों को ही उद्धवजी ने ध्यानपूर्वक सुना, उन पर ही विचार कर निर्णय देना था कि क्या किया जाय? भगवान् के वाक्यों के श्रवण के अनन्तर उत्तर कहना था, तो भी फिर नारदजी के वचनों के अनुसंधान से ही उसका समाधान करना है, यों विचार कर उद्धवजी कहने लगे।

धर्म और ब्राह्मण ही पुष्टिमार्ग में बाधक हैं अर्थात् यहाँ राजाओं पर अनुग्रह होने में धर्म[1] और ब्राह्मण[2] प्रतिबन्धक हुए हैं, उन दोनों का जो प्रतिविधान है, वह कुछ पुष्टि के निरोधार्थ होने से प्रकरणार्थ है।

जब मत भेद हो, तब मन्त्री के वचन मान्य होते हैं, इसलिए दोनों पक्षों का निरूपण करते हैं, सभ्यों का तथा श्रीकृष्ण का मत पूर्ण रीति से समझकर पीछे नारद के वचनों को भी सुना और विचार कर कहने लगे। सभासदों का मत था कि प्रथम जरासन्ध से युद्ध के लिए जाना चाहिए, उसको जीतकर पश्चात् युधिष्ठिर के पास यज्ञ के लिए चलना चाहिए, दुःख का अभाव करना और सुख करना; इन दोनों में से प्रथम दुःख का कार्य[3] कर दुःख का अभाव करना अर्थात् युद्ध द्वारा जरासन्ध वध कर राजाओं को छुड़ाकर उनको सुखी करना, पश्चात् सुख कार्य राजसूय में चलना चाहिए, भगवान् का भी यह मत है। 'च' पद से विपरीत भी है अर्थात् राजसूय में युधिष्ठिर के पास चलने में भी सम्मति थी, इस प्रकार विचारों में विभिन्नता होने पर निर्णय की आवश्यकता है, किन्तु इसके निर्णय के लिए बुद्धि की आवश्यकता है, वैसा निर्णय कर्त्ता हो जो बुद्धिमान् हो, इस पर कहते हैं कि उद्धवजी 'महामति' बड़े बुद्धिमान् हैं, अतः उनसे निर्णय कराना योग्य जानकर भगवान् ने उद्धवजी से पूछा कि क्या करें? भक्ति मार्ग और नारदजी का कोप झेल[सम्हाल]लेना, जहाँ तक बन सके मर्यादा की भी स्थापना करनी चाहिए, अतः धर्म, ब्राह्मण और मर्यादा; ये तीन एकत्र विरुद्ध होते हैं और दूसरी ओर भक्ति मार्ग एक ही है ॥१॥

आभास—अतो बहूनामनुग्रह इतिन्यायेन वक्तव्यमिति निश्चित्य पक्षद्वयमनुवदति **यदुक्तमिति** ।

आभासार्थ—अतः 'बहूनामनुग्रहः' इस न्यायानुसार कहना चाहिए, यों निश्चय कर दोनों पक्षों का अनुवाद 'यदुक्तम्' श्लोक से उद्धवजी कहते हैं।

श्लोक—उद्धव उवाच—**यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।**
कार्यं पैतृष्वस्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥२॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी ने कहा कि हे देव ! नारदजी के कहने के अनुसार यज्ञ करने की इच्छावाले बूआ के बेटे राजा युधिष्ठिर का मन्त्रीत्व करना है और दूत के कहने से शरणागत राजाओं की रक्षा करनी है ॥२॥

सुबोधिनी—**देवेति** संबोधनम् । **साचिव्यं** मन्त्रोपदेशः, न तु युद्धे न सहायकरणम्, अलौकिकप्रकारस्तु मन्त्रे न वक्तव्यः, अतः साचिव्यमेव नारदेनोक्तमनुवदति । 'कर्तुः शास्तुरनुज तु' इति वाक्यात् तथाकरणे धर्मः । **पैतृष्वस्रेय**कार्यकरणं लौकिकम्, तस्मादत्र लोकवेदौ विरुद्धौ न भवत इति द्वयं निरूपितम् । द्वितीयः पक्षः **शरणैषिणां** रक्षा । **च**काराद्बन्धूनां वाक्यं च । तथासति द्वयोरैक्यं यथा भवति तथा कर्तव्यम् ॥१॥

---

[1] राजसूय यज्ञ, [2] नारद, [3] युद्ध

व्याख्यार्थ—'देव' यह सम्बोधन है। 'साचिव्य' पद से यह कहा है कि आप केवल परामर्श देना, न कि युद्ध से सहायता करनी। परामर्श में अलौकिक प्रकार तो नहीं कहना चाहिए, अतः नारद ने जो साचिव्य कहा, उसका ही अनुवाद करते हैं। 'कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः' इस वाक्य के अनुसार उसी प्रकार करने में धर्म है। बूआ के बेटे का कार्य करना, यह लौकिक है, इससे इसमें लोक और वेद विरुद्ध नहीं हैं, इसलिए दोनों कहे हैं। दूसरा पक्ष कहते हैं कि शरणागतों की रक्षा करनी, 'च' बान्धवों के वाक्य भी मानने; दोनों पक्ष हैं तो भी इस प्रकार क्रिया करनी चाहिए, जैसे दोनों में एकता हो, यों देखने में आवे ॥२॥

आभास—तत्र यज्ञो मोचने विनियोक्तुमशक्य इति मोचनमेव यज्ञे विनियोक्तव्यमित्याह **यष्टव्यमिति**।

आभासार्थ—इन दोनों पक्षों में राजाओं के छुड़ाने के कार्य में यज्ञ का कार्य भी हो सके, यह अशक्य है, इसलिए छुड़ाने का कार्य यज्ञ के साथ हो सकेगा। अतः छुड़ाने का कार्य यज्ञ के साथ जोड़ लो अर्थात् यज्ञ में पधार कर दोनों कार्य सिद्ध कर लो, इसलिए 'यष्टव्यं' श्लोक में वह मार्ग उद्धवजी बताते हैं।

श्लोक—**यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो।**
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥३॥

श्लोकार्थ—हे विभो! राजसूय यज्ञ दिग्विजय कर लेने के पश्चात् होता है, अतः प्रथम दिग्विजय अवश्य करना है, उस प्रसङ्ग से जरासन्ध भी जीता जाएगा, इसलिए इन्द्रप्रस्थ चलने से दोनों कार्य सिद्ध होंगे, मेरा तो यह मत है ॥३॥

सुबोधिनी—दिशां चक्रं दश दिशः, तत्र जयशीलेन राजसूयः कर्तव्यः, अत एव स एव जरासंधं घातयिष्यति, यज्ञार्थं वधे तु न दोषः, एवं सति ये दोषास्ते अग्रे परिहर्तव्याः। आदौ यज्ञार्थं तद्वधं स्थापयति **अतो जरासुतजय** इति। तर्हि भक्तिमार्गो बाधित एवेत्याशङ्कायामाह **उभयार्थ** इति। यज्ञार्थं मोचनार्थं च, अयं पक्षो **मम** संमतः। युक्तश्चायम्, नारदादेः कोपाभावात् ॥३॥

व्याख्यार्थ—दिशाओं का चक्र अर्थात् दस दिशाओं को जीतने वाले को ही राजसूय यज्ञ करना चाहिए, अतः जो दिशाओं को जीतेगा, वह ही जरासन्ध का घात करेगा। यज्ञ के लिए मारने पर कोई दोष नहीं लगता है, यों होने पर जो दोष लगते हैं, उनका परिहार आगे ही जाएगा। 'आदि' में यज्ञ के लिए उसके वध को स्थापन करता है, वहाँ चलकर दिग्विजयार्थ जाने से वहाँ जरासन्ध का वध होगा, तब तो भक्ति मार्ग बाधित ही होगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि मैं जैसा कहता हूँ, यों करने से दो अर्थ सिद्ध होंगे। (१) यज्ञ की सिद्धि होगी और (२) राजाओं का छुटकारा होगा; यह पक्ष मुझे पसन्द है, यह ही उचित है, यों करने से नारदादि भी प्रसन्न होंगे, उनको किसी प्रकार से क्रोध करने का अवसर नहीं मिलेगा ॥३॥

आभास—अस्मिन् पक्षे दोषान् परिहरति **अस्माकं चेति** सार्धाभ्याम्।

आभासार्थ—जो पक्ष मैंने कहा है, उसमें जो दोष हैं, उनका परिहार 'अस्माकं च' से २½ श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति।**
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बन्धाद्विमुञ्चतः ॥४॥

श्लोकार्थ—अपने पक्ष को यों करने से महान् लाभ होगा, हे गोविन्द! राजाओं को छुड़वाने से आपका बहुत यश फैलेगा ॥४॥

सुबोधिनी—पराक्रमेण जरासंधवधे तद्धनमस्माभिः प्राप्तव्यम्, यज्ञार्थवधपक्षे तु तस्याभावः। पूर्वं भगवद्धनं च तेनापहृतं यवनजयोद्भवं तस्य प्रत्यावृत्तिश्चकारार्थः मोचितेभ्यश्च, एतत्सर्वमपि यज्ञार्थवधेनापि भविष्यतीत्याह **एतेनैव भविष्यतीति**। तेन धनेन मोचिता भक्ताः पोषणीया इति। अन्यसंमेलनाद्यशो न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यशश्च तव गोविन्देति**। **च**कारात्प्रतिज्ञा 'अभयं सर्वभूतेभ्यः' इति। बन्धाद्विमोचनं न तद्वधमात्रेण भवति, तत्पुत्रेणापि तत्संभवात्। अतो विशेषतो मोचनं हेतुत्वेनोपदिशति **राज्ञो बन्धादिति**। राज्ञो राजशरीराणि आत्मनश्च बन्धादुभयविधात्, विशेषतो मोचनं तदेव, **विमुञ्चतस्तव** ॥४॥

व्याख्यार्थ—पराक्रम से जरासन्ध का वध करने से उसका धन हमको मिलेगा, यज्ञार्थ वध किया जायगा तो धन नहीं मिलेगा। यवन के जीतने से जो धन प्राप्त हुआ था, वह भगवान् का धन उसने हड़प लिया था, उसको लौटा कर लेना। 'च' पद से छुड़ाए हुए राजाओं से भी जो धन लिया, वह भी लौटा कर लेना, यह सब यज्ञ के लिए मारने से भी हो जायगा; क्योंकि युधिष्ठिर वह धन अपने को ही दे देंगे, कारण कि वे समझेंगे कि यह भगवत् कार्य है और दूसरा समझेगा कि यवन जय का भी धन वहाँ है, अतः स्वयं नहीं लेंगे। उस प्राप्त धन से जो भक्त छुड़ाए जायेंगे, उनका पोषण होगा, अन्य के मेल से यदि उसको मार, राजाओं को छुड़वाएँगे तो यश नहीं होगा, यों करने से आपका ही यश होगा। 'च' शब्द से आपकी 'अभयं सर्व भूतेभ्यः' प्रतिज्ञा का भी पालन हो जायगा, केवल उसके मार डालने से राजाओं का बन्धन से छूटना न होगा; क्योंकि उसके पुत्र से भी बन्धन हो सकता है, अतः विशेष प्रकार से बन्धन से छुड़ाने में हेतुपन से उपदेश देते हैं। 'राज्ञो बन्धात्' बन्धन दो प्रकार का है, एक शरीर का और दूसरा आत्मा का; दोनों प्रकार के बन्धन से छुड़वाना ही विशेष मोचन है, उसके करने से आपका यश होगा ॥४॥

आभास—ननु को विशेषः ऋषिरेव वक्तव्य आवश्यको जरासंधवधः तं कृत्वा समागमिष्यतीति, अस्मिन् पक्षे स्त्रीभिः सह लीलया गमनं बाध्यते। मर्यादायामवश्यश्चायं पक्ष इति वक्तुं जरासंधस्वरूपमाह द्वाभ्यां **स वै दुर्विषह** इति।

आभासार्थ—इसमें क्या विशेषता है ? ऋषि को ही कह देना चाहिए कि जरासन्ध का वध आवश्यक है। उसे कर फिर यहाँ इन्द्रप्रस्थ पधारेंगे। यदि यह पक्ष स्वीकार किया जायगा तो इन्द्रप्रस्थ स्त्रियों के साथ लीला से जाने में जो शोभा आदि होगी, उसका बाध होगा, मर्यादा में यह पक्ष अवश्य है, यों कहने के लिए जरासन्ध के स्वरूप का 'स वै दुर्विषह' से दो श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले।**
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥५॥

श्लोकार्थ—दस हजार हस्तियों के समान बलवान् होने से, सबसे बलवान् है, किन्तु समान बल वाले भीम के सिवाय अन्य बलवान् राजाओं से भी वह (जरासन्ध) जीता नहीं जाएगा ॥५॥

सुबोधिनी—केनापि यादवेन स सोढुं न शक्यः। यतो **राजा** क्षत्रियः अनपोह्यः प्रायेण, एतदलौकिकं बलम्। लौकिकमप्याह **नागायुतसम** इति। बलविषये अयुतहस्तिसमः। एतादृशा अन्येऽपि सन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **बलिनामपि चान्येषा**मिति। महाबलिनां सर्वेषामेवायं मिलितानां समः। चकाराद्ब्राह्मणादिवरसिद्धमपि तस्य बलम्। तर्हि मर्यादायामवध्य एवेत्याशङ्क्चाह **भीमं समबलं विने**ति। भीमोप्येतादृशः तथापि यथा जयस्तदग्रे वक्ष्यते ॥५॥

व्याख्यार्थ—कोई भी यादव इसके बल को सहन न कर सकेगा; क्योंकि यह क्षत्रिय राजा बहुत कर दबाने योग्य नहीं है, यह अलौकिक बल है। उसके बल का वर्णन करते हैं कि दस हजार हस्तियों के बल के समान बल इसमें है, ऐसे तो अन्य राजा लोग भी हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि दूसरे जो बलवान् हैं, उन सबसे यह विशेष बलवान् है, अन्य सब बली राजाओं का बल इकट्ठा किया जाय तो वह जितना हो, उतना इस एक में बल है। 'च' शब्द से यह बताया है कि ब्राह्मणादि के वरदान से भी इसका बल सिद्ध है, यदि यों है तो मर्यादानुसार तो यह अवध्य ही है। इसका उत्तर देते हैं कि अन्य से जीता नहीं जायगा, केवल एक भीमसेन ही इससे लड़ सकेगा और जीत जायगा; क्योंकि वह भी वैसा ही बलवान् है तो भी जैसे भीम की जीत होगी, वह आगे कही जाएगी ॥५॥

आभास—किञ्च तस्यान्यदपि वरप्राप्तं सामर्थ्यमस्तीत्याह **द्वैरथे स तु जेतव्य** इति।

आभासार्थ—जरासन्ध में वर से प्राप्त अन्य सामर्थ्य भी है, यह 'द्वैरथे स तु जेतव्यो' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः।**
ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥६॥

श्लोकार्थ—शत अक्षौहिणी से भी यह नहीं जीता जाएगा, किन्तु बाहु युद्ध से ही इसको जीतना चाहिए, यह ब्राह्मणों का भक्त है, यदि ब्राह्मण इससे कुछ भी याचना करे तो वह कभी भी देने में आनाकानी किए बिना दे देता है ॥६॥

सुबोधिनी—द्वन्द्वयुद्धे नैव जेतव्यः न त्वपरिमिता**क्षौहिणीयुतः**। अनेन तस्य सेनाधिक्यमपि सूचितम्। एवं तस्य गुणानुक्त्वा एको गुणः समयविशेषे दोषत्वमापद्यत इति तदाह **ब्रह्मण्य** इति। स्वभावतो हि ब्राह्मणहितकारी, अभ्यर्थितश्चेन्न **प्रत्याख्याति कर्हिचि**दिति। कपटं ज्ञात्वापि धर्मदार्ढ्यादिदमेकं तस्य मारणे छिद्रम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—इसको द्वन्द्व युद्ध से ही जीतना चाहिए, अगणित अक्षौहिणी ले जाकर भी नहीं जीतना चाहिए,यों कहने से यह इंगित (इशारा) किया है कि इसके पास अधिक सेना है। इस प्रकार उसके गुणों को कहकर कहते हैं कि कोई एक ऐसा गुण भी होता है, जो किसी विशेष समय पर दोष रूप हो जाता है, जिससे हानि होती है। वह गुण कहते हैं कि वह ब्राह्मण भक्त है, स्वभाव से ब्राह्मणों का हित करने वाला है। यदि कोई ब्राह्मण उससे कुछ याचना करे तो उसको मना नहीं करता है, यह ब्राह्मण नहीं है, किन्तु ब्राह्मण-वेश धारण कर आया है तो भी अपने धर्म की दृढ़ता सिद्ध करने के लिए उसकी माँग को स्वीकार कर लेता है, अतः यह एक ही इसके मारने के लिए अवसर है ॥६॥

आभास—तर्हि क्षत्रियाणां किमायातमित्याशङ्क्चोपायमाह **ब्रह्मवेषधर** इति।

आभासार्थ—तो क्षत्रियों को क्या करना चाहिए ? इस शङ्का का उत्तर 'ब्रह्मवेष' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः।**
हनिष्यति न संदेहो द्वैरथे तव संनिधौ ॥७॥

श्लोकार्थ—भीमसेन ब्राह्मण का वेष धारण कर इससे द्वन्द्व युद्ध की याचना करे, आप भी उसके साथ होंगे, जिससे द्वन्द्व युद्ध में भीम जरासन्ध को जीत जाएगा, इसमें संशय नहीं है ॥७॥

सुबोधिनी—कञ्चुकाद्यभावसहितं सोपवीतवस्त्रद्वयं तिलकादिसहितं **ब्रह्मवेषः**। यद्यपि तेजो न संपादयितुं शक्यं तथापि प्रार्थितदाने मारणे च सामर्थ्यमाह **तव संनिधा**विति ॥७॥

व्याख्यार्थ—चोला, अचकन आदि के बिना (केवल) दो वस्त्र, एक धोती, एक उपरना एवं यज्ञोपवीत तथा तिलक यह ब्राह्मण-वेश है, यद्यपि इस वेशमात्र से ब्रह्मतेज तो नहीं आवेगा तो भी जिस दान को माँगेगा, वह मिल जायगा और युद्ध में जरासन्ध को मार सकेगा, ऐसा सामर्थ्य आपकी सन्निधि से उसमें हो जाएगी ॥७॥

आभास—नन्वहं परब्रह्म चेत् तदोदासीनः सर्वात्मा च, विष्णुश्चेत्पालक एव न घातकः। तेजसा आप्यायनपक्षे ब्रह्मण्ये न वैष्णवं तेजः प्रभवति, अतः कथं वध इति चेत्तत्राह **निमित्तं परमीशस्येति** ।

आभासार्थ—यदि मैं परब्रह्म और सर्वात्मा हूँ तो उदासीन हूँ, यदि विष्णु हूँ तो पालक हूँ, घातक नहीं हूँ, यदि कहो मेरा तेज यों करेगा तो ब्रह्मण्य में वैष्णव तेज कुछ नहीं कर सकता है, अतः वध कैसे होगा ? जिसका उत्तर 'निमित्तं परमीशस्य' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।**
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥८॥

श्लोकार्थ—निराकार कालरूप ईश्वर आप ही जगत् की सृष्टि और प्रलय करते हैं, जैसे ब्रह्मा और शिव तो निमित्त मात्र है, वैसे यहाँ भीमसेन निमित्त मात्र होगा ॥८॥

सुबोधिनी—ईश्वरः कालरूपोपि भवान्, सन्निधिमात्रेणैव स्वभीष्टसमये विश्वमेवोत्पादयसिहंसि च, ब्रह्मरुद्रयोस्तु खड्गादिवन्निमित्तत्वमेव, यतः **कालस्य तव** कालेनाक्रोडितानामेवोत्पत्तिप्रलयौ। यथा कर्मक्रोडीकृतानां पितृव्याघ्रौ सृष्टिप्रलययोर्**निमित्तमेव** । नन्वहमेव चेत्सर्वदा मारकस्तदा कथं सर्वेषामनुपलम्भ इति तत्राह **अरूपिण** इति । स एव त्वमिदानीं रूपमधिकमित्यर्थः ॥८॥

व्याख्यार्थ—कालरूप ईश्वर भी आप ही हैं, जब अपनी इच्छा की पूर्ति करनी चाहते हो, तब संनिधि मात्र से इस विश्व को उत्पन्न करते हो तथा लीन भी कर लेते हो, ब्रह्मा और महादेव तो तलवार की तरह निमित्तमात्र है; क्योंकि कालरूप आपने काल की गोद में जिनको लाए हो, उनकी ही उत्पत्ति और प्रलय होती है, जैसे जो कर्म की गोद में बैठे हैं, उनकी सृष्टि का निमित्त कारण 'पिता' और नाश का कारण 'व्याघ्र' कहा जाता है। यदि मैं ही सर्वदा मारने वाला हूँ तो तब सबका अनुपलम्भ कैसे हूँ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप निराकार हैं, वह निराकार ही आप अब यहाँ रूप से विराजमान होकर जगत् को सुशोभित कर रहे हो यह ही तात्पर्यार्थ है ॥८॥

आभास—नन्वेवमपि तथा यशो न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **गायन्ति ते विशदकर्मेति** ।

आभासार्थ—यों है तो भी यश न होगा ? इस शङ्का के उत्तर में "गायन्ति ते" श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो**
राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥९॥

श्लोकार्थ—आपका यश त्रिलोकी में फैला हुआ है, जब आपने हिरण्यकशिपु को मार, देवों को छुड़ाया, तब देवों की स्त्रियों ने अपने शत्रु का नाश होना, स्वयं शत्रु-भय से मुक्त हुई, यह जानकर आपका यश गाने लगी है, गजेन्द्र को आपने नक्र से छुड़ाया, जिससे उनकी स्त्रियाँ आपका यश गा रही है, सीता भी आपका यशोगान कर रही है; क्योंकि उसने भी देखा कि मुझे हरण करने वाले मेरे शत्रु को आपने ही नाश किया है, गोपीजन भी शङ्खचूड़ वध से आपका गुणगान कर रही हैं, आपने कंस को मारकर माता-पिता को कैद से छुड़ाया, जिससे वे भी आपका यश गा रहे हैं, अतः हम भी आपका यश गा रहे मुनिगण और हम आपकी शरण से रक्षित हैं, अत हम भी आपका यश गा रहे हैं ॥९॥

सुबोधिनी—तव यशः पूर्वमेव लोकत्रये व्याप्य तिष्ठति किमद्योत्पादतक्लेशेनेति वाक्यार्थः। अनेन भगवतो भगवदीयानां वा भगवत्त्वाद्भगवदीयत्वाच्च सिद्धमेव यशो न नूतनमुत्पादनीयम्। ते **विशदकर्म** हिरण्यकशिपुरावणवधादिरूपं देव्यो देवस्त्रियः सहजं भगवच्चरित्रं **स्वशत्रूणां** हिरण्यकशिपुप्रभृतीनां **वधं आत्मनो** बन्दीकृतानां विशेषेणाविद्यातो मोचनं च स्वस्व**गृहेषु गायन्ति** ते गृहेषु वा। **देव्यो** नरकासुरगृहीताः। पूर्ववत् सर्वं योजनीयम्। ते **राज्ञा**मुग्रसेनादीनां देव्यो वा भाविनि भूतवदुपचारेण वा मोक्ष्यमाणानाम्। किञ्च। अन्येऽपि बहवो गायन्तीत्याह **गोप्यश्चेति**। **च**कारात्संबन्धिस्त्रियोपि, **स्वशत्रोः** शङ्खचूडादे**र्वधं** अविद्यालज्जादीनां वा। यथा स्वशत्रो**र्वधं** गायन्ति एवं **कुञ्जरपतेरपि** गजेन्द्रस्य **शत्रोर्नक्रस्य** वधं तथा **जनकात्मजायाः** सीतायाः **शत्रोः** रावणस्य, **पित्रोरपि** देवकीवसुदेवयोः **शत्रोः** कंसस्य। एवं प्राकृता अपि स्वस्यान्यस्य वा त्रिविधा गायन्ति। तथा अन्येपि त्रिविधा गायन्तीत्याह **लब्धशरणा मुनयो वयं च।** कर्मिणो ज्ञानिनो भक्ताः। **लब्धशरणा** इति बिशेषणं वा सर्वत्र, 'मा भैष्टेत्यभयारावौ' 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्' 'एतद्व्रतं मम'इत्यादिवाक्यसहस्रैः। पाण्डवा **लब्धशरणा** इति केचित्। **मुनयो**पि दण्डकारण्यवासिनः विश्वामित्रादयश्च, **वयं** सर्वे एव भक्ताः। **च**कारात्त्रिगुणा अपि अन्यशत्रुवधं गायन्ति। तस्मात्सिद्धैव कीर्तिरित्यर्थः ॥९॥

व्याख्यार्थ—आपका यश प्रथम ही त्रिलोकी में फैला हुआ है, अब उस यश को उत्पाद करने का क्लेश क्यों किया जावे ? यों वाक्यार्थ है। इससे भगवान् का भगवान्पन से और भगवदीयों का भगवदीयपन से यश सिद्ध ही है, नूतन यश उत्पादन नहीं करना है।

आपके विशद कर्म हैं, जैसे हिरण्यकशिपु, रावण वध आदि अनेक कर्म हैं। देवों की स्त्रियाँ

जिनको हिरण्यकशिपु आदि ने बन्दीखाने में बन्द किया था, उन शत्रुओं को आपने मारा तथा विशेषता यह है कि अविद्या से भी छुड़ाया आदि कर्मों का यश घरों में गा रही हैं। इसी तरह जिनको नरकासुर ने कैद किया था, वे भी आपके यश गा रही हैं; क्योंकि नरकासुर का भी आपने नाश किया था, इसी प्रकार कंस को मारकर उग्रसेनादि राजाओं को मुक्त किया और राज्य दिया इत्यादि आपका यश स्त्रियाँ सर्वत्र गा रही हैं, पिता वसुदेव, माता देवकी भी आपके गुणों का गान कर रहे हैं, अन्य भी बहुत गा रहे हैं। अपने शत्रु शङ्खचूड़ आदि को मारा, जिससे गोपियाँ तथा 'च' से सम्बन्ध वाली अन्य स्त्रियाँ भी आपका यशोगान करती हैं, जिस प्रकार अपने शत्रु के वध की कथाओं का गान करती हैं, वैसे ही गजेन्द्र के शत्रु मगरमच्छ के वध का तथा जनक की पुत्री सीता के शत्रु रावण के वध का एवं वसुदेव-देवकी के शत्रु कंस के वध का गान करती रहती हैं। इसी तरह त्रिविध प्राकृत मनुष्य भी अपने अथवा अन्य के दोषों का नाश आपके द्वारा होने से आपका यश गाते हैं, वैसे ही जिन कर्मिष्ठ, ज्ञानी तथा भक्तों को आपकी शरण प्राप्त हुई है, वे तीनों ही आपका गुण गान करते हैं। 'माभैष्टेत्यभयारावौ' 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्' 'एतद्व्रतं मम' इत्यादि सहस्रों वाक्यों में निष्ठावाले, कर्मी, ज्ञानी और भक्तों ने आपकी शरणागति ग्रहण की है। पाण्डवों ने आपकी शरण प्राप्ति की है, वे भी गुण गाते हैं, यों कोई कहते हैं। 'मुनि' शब्द से दण्डकारण्यवासी व विश्वामित्रादि और हम सब ही भक्त लिए जाने चाहिए। 'च' पद से यों समझना चाहिए कि जो निर्गुण हैं, वे भी अन्यों के शत्रुओं का वध गाते हैं; क्योंकि वे समदृष्टि हैं, अतः उनकी दृष्टि में कोई उनका शत्रु नहीं है, इससे आपकी कीर्ति तो सिद्ध ही है, कहने का तात्पर्य यों है ॥९॥

आभास—नन्वलौकिकोपायेन राज्ञां मोचनं शीघ्रं कृत्वा कथं न यागार्थं गम्यत इत्याशङ्क्याह **जरासंधवध** इति।

आभासार्थ—अलौकिक उपाय से राजाओं को शीघ्र छुड़वाकर क्यों नहीं राजसूय यज्ञ के लिए युधिष्ठिर के पास पधारते हैं? जिसका उत्तर 'जरासन्धवधः' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**जरासंधवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते ।**
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण! जरासन्ध के वध से कई प्रयोजन सिद्ध होंगे, मैं समझता हूँ कि जरासन्ध के कर्मों का विपाक आ गया है, इसलिए आपकी भी रुचि यज्ञ होने के लिए हुई है ॥१०॥

सुबोधिनी—**कृष्णेति** कालरूपस्यैतदेव कृत्यमिति सूचितम्। केवलं संबोधनं वक्तृत्वाभिनिवेशात् प्रमादात् पापक्षयार्थं वा। **भूर्यर्थायेत्यनेक**प्रयोजनाय। भक्तद्रोहे विनश्यतीति भक्तिमार्गसिद्धिः शरणागतरक्षा यज्ञः कीर्तिः पूर्ववैरप्रतीकारः भूभारहरणमित्यादिसहस्रप्रयोजनानि सिध्यन्ति। भक्तिमार्गश्च सर्वेभ्योतिरिच्यते। किं च। **प्रायः पाकविपाकेनेति**। जरासंधकर्मणां परिपाकस्य विपाकेन समाप्त्या। पाकविपाकेन वा बहुद्रोहाद्, राजसूयो हि भूमेर्निर्वीरत्वं संपादयति तेन कारणेन **तवाप्यभिमतः क्रतुः**। चकारात्क्रतुश्च **भूर्यर्थायोपकल्पते** शिशुपालवधदुर्योधनमानभङ्गाद्यर्थत्वात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—'कृष्ण' यह सम्बोधन कहकर सूचित किया है कि बालरूप का यही कृत्य है, 'केवल' सम्बोधन कर्त्तापन के अभिनिवेश से, प्रमाद से वा पापक्षयार्थ है। जरासन्ध का वध अनेक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए करना है, भक्तद्रोह करने पर नाश होगा, यों भक्तिमार्ग की सिद्धि शरणागतों की रक्षा, यज्ञ, कीर्ति, पूर्व-वैर का प्रतिकार और भू भार हरण इत्यादि सहस्र प्रयोजन सिद्ध होंगे। भक्ति मार्ग सबसे विशेष है, 'किं च' और विशेष (बहुत) करके जरासन्ध के कर्मों की समाप्ति हुई है अर्थात् बहुत द्रोह से पुण्यों की समाप्ति हो गई है, राजसूय यज्ञ से यह सिद्ध होगा कि पृथ्वी पर अब कोई वीर नहीं है, इसलिए आपको भी यज्ञ करना पड़ा। 'च' से यह आशय है कि यज्ञ से बहुत कार्य सिद्ध होंगे जैसे कि शिशुपाल-वध और दुर्योधन का मान भङ्ग आदि अर्थ सिद्ध होंगे ॥१०॥

आभास—प्रकारान्तरेण वध्यो न भवतीत्यनेनैव युद्धार्थमुद्युक्ता निवारिताः। प्रथमसिद्धत्वाद्यशोपेक्षा च निवारिता। मोचनार्थं समायातीति शङ्कायां प्रमथनाथार्थं प्रथममेव दद्यात् अत उद्धववाक्यमेव सर्वतोभद्रमिति भगवता तदेव गृहीतमित्याह **इत्युद्धववच** इति।

आभासार्थ—यद्यपि यादवादि जरासन्ध के वधार्थ युद्ध करने के लिए उद्यत थे, किन्तु युद्ध से वह न मरेगा, इसलिए युद्ध से उनको रोका, युद्ध न किया जायगा, तो यश प्राप्ति कैसे होगी? इसका उत्तर देते हैं कि उसका वध तो यज्ञ में जाने से सिद्ध ही होगा, इसलिए यश की उपेक्षा नहीं की है, छुड़ाने के लिए आते हैं, यह शङ्का उसके मन में हो जायगी तो महादेव के लिए पहले ही दे देंगे, ऐसा विचार उसके मन में उत्पन्न न होवे, इसलिए उद्धव का वाक्य ही सर्व प्रकार कल्याणकर है, इससे भगवान् ने उद्धव का कहा हुआ वाक्य ग्रहण किया, यह 'इत्युद्धववचः' श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रमच्युतम् ।**
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥११॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! इस उद्धवजी के वाक्य को देवर्षि नारद, वृद्ध यादव और श्रीकृष्णचन्द्र ने सर्व प्रकार श्रेष्ठ माना ॥११॥

सुबोधिनी—एवं कापट्येन वधे न किञ्चिद्दूषणम्। 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेः। 'तद्धैतान् भूत्वावति' इति च। कापट्यव्यतिरेकेण न दैत्यवधः सिद्ध्यतीति न कापट्यस्वीकरणं दोषाय। **राजन्निति** संबोधनं राजधर्मोपि तादृश इति ज्ञापनार्थम्। सर्वतोभद्रता निरूपितैव। **अच्युत**-

मिति न च्युतं कापि क्षतिर्यत्रेति। भगवद्रूपोयं प्रकारः निर्दोषपूर्णगुणरूपः। अत एव सर्वेषां संमतं जातमित्याह **देवर्षिरिति**, यादवेषु **वृद्धाः**, **च**कारादन्येऽपि। तरुणानां परं शौर्योत्सिक्तानां नागतं मनसीति सूचितम्। **कृष्णश्चे**ति चकाराद्वसुदेवादयो भगवद्भक्ताश्च। **प्रतिपूजनं** साध्विति वचनम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कपट से जरासन्ध को मारने में कोई दूषण नहीं है; क्योंकि 'मायेत्यसुराः' असुरों का प्रभु माया है अर्थात् कपट है, इस कारण से दोष नहीं है। 'तद्धैतान् भूत्वावति' यह माया इनको बार-बार बचाती है, अतः बिना कापट्य के दैत्यों का वध सिद्ध नहीं होता है, इसलिए कापट्य के स्वीकार करने में दोष नहीं है। 'राजन्' सम्बोधन से बताया है कि राजधर्म भी वैसा ही है अर्थात् इसमें भी बिना कापट्य किए सिद्धि नहीं मिलती है, इस उद्धव की कही हुई रीति से कार्य करने में किसी प्रकार त्रुटि नहीं है, इसलिए 'अच्युतम्' विशेषण दिया है, त्रुटि न होने से सर्व प्रकार हित कर निरूपण किया है, यह प्रकार भगवद्रूप है, अतः दोष रहित पूर्ण गुणों वाला है, इसी कारण से ही सबको पसन्द है। देवर्षि नारद, वृद्ध यादव 'च' से दूसरे भी जो सभ्य थे, उन सबको यह मत जच गया, ये नाम आदि कहकर यह सूचित किया कि जो वीर युवक लड़ने के उत्सुक थे, उनके मन में यह राय अच्छी नहीं लगी। 'कृष्णश्च' कृष्ण और 'च' से वसुदेव तथा जो भगवद्भक्त थे, उन सबने उद्धव का वाक्य हितकर जाना, जिससे सबने साधु-साधु कहकर उद्धव के वाक्य को समादर किया और मान लेने की प्रतिज्ञा की ॥११॥

आभास—अथ भिन्नप्रक्रमेण लौकिकानां सुखार्थं गृहस्थितिक्लेशाभावाय निर्गमनोत्सवं निरूपयति **अथेति** सार्द्धैः षड्भिः।

आभासार्थ—अब भिन्न प्रक्रम से कहते हैं कि लौकिकों के सुखार्थ और गृह की स्थिति में किसी प्रकार क्लेश नहीं है, यह जताने के लिए प्रस्थान के उत्सव का 'अथादिशत्' से ६½ श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**अथादिशत्प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः।**
भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून् विभुः ॥१२॥

श्लोकार्थ—देवकी के पुत्र भगवान् ने बड़ों से आज्ञा लेकर दारुक जैत्र आदि भृत्यों को प्रयाण के लिए आज्ञा की ॥१२॥

सुबोधिनी—लौकिक्येषा भाषा। **देवकीसुत** इति स्त्रीप्रभृतीनां सुखदायकः। **भृत्या** अन्तरङ्गसेवकाः कर्मकराः। **जैत्रो**पि जयशीलः कश्चिद्रथयोजकः। **गुरून्** पित्रादीन् ब्राह्मणान् वा। **विभु**रिति सर्वकरणसमर्थः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—यह लौकिकी भाषा है, देवकी सुत कहने का भाव यह है कि स्त्री प्रभृति सबको सुख देने वाले हैं। 'भृत्य' पद का आशय है कि काम करने वाले अन्तरङ्ग सेवकों से हैं। 'जैत्र' का तात्पर्य जो रथ का योजक जयशील है। 'गुरून्' पद से पिता आदि अथवा ब्राह्मण समझने चाहिए। 'विभुः' शब्द से यह कहा कि देवकी का सुत कहने से साधारण मानव न समझना, किन्तु ये सर्वकरण समर्थ भगवान् हैं ॥१२॥

श्लोक—**निर्गमय्यावरोधान् स्वान् ससुतान् सपरिच्छदान्।**
संकर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन्।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद्गरुडध्वजः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे शत्रु घातक! अन्तःपुर से पुत्र और सामान सहित सब को निकाल आगे कर सङ्कर्षण और उग्रसेनजी से आज्ञा लेकर, आप(श्रीकृष्णचन्द्र)सारथी के लाये हुए अपने रथ पर चढ़े ॥१३॥

सुबोधिनी—प्रथमत एवान्तःपुरस्त्रियो **निर्गमय्य, अवरोधो**न्तःपुरस्त्रियः पुलिङ्गनिर्देशः स्त्रीभावाभावाय। **संकर्षणः** सहायार्थम्, **यदुराजः** उग्रसेनः। अनेन राजसतामसौ परित्यज्य अन्ये सर्वे निर्गता इति सूचितम्। **शत्रुहन्निति** बहिर्मुखताभावाय, प्रद्युम्नादयोपि कौतुकाद् भगवद्रथमानयेयुः, भगवान् वा कौतुकादन्यरथमारोहेत्, स्त्रीभिः परिवृतो वा गच्छेदतः **सूतोपनीतं स्वरथमित्युक्तम्**। **गरुडध्वज**त्वान्न सहायापेक्षा। ॥१३॥

व्याख्यार्थ—पहले ही अन्तःपुर से स्त्रियों को बाहर किया, 'अवरोध' शब्द पुलिङ्ग है, वह स्त्रियों के लिए देने का आशय यह है कि उनमें स्त्रीभाव का अभाव था। 'सङ्कर्षण' नाम इसलिए दिया है कि वह सहाय करने वाले हैं। 'यदुराज' शब्द उग्रसेन के लिए दिया है, इन नामों को देने का भाव यह है कि भगवान् ने राजस और तामस को यहाँ ही छोड़ा, शेष अन्य को साथ ले गए। 'शत्रुहन्' विशेषण से बहिर्मुखता का अभाव दिखाया है, सूत के लाए हुए अपने रथ में चढ़े, लिखने का तात्पर्य यह था कि कदाचित् कौतुक से प्रद्युम्नादिक रथ ले आए हो अथवा कौतुक से भगवान् अन्य रथ में बैठे अथवा स्त्रियों से परिवृत होकर पधार जावें, इन शङ्काओं को यह वाक्य देकर टाल दिया है कि वह रथ गरुड़ की ध्वजा वाला है, इसलिए सहायता की अपेक्षा नहीं है ॥१३॥

श्लोक—**ततो रथोद्वेपभटसादिनायकैः करालया परिवृत आत्मसेनया।**
मृदङ्गभेर्यानकशङ्खगोमुखैः प्रघोषघोषैः ककुभो निराक्रमत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—रथ, हस्ती, प्यादल, घोड़े सवार और इनके नायकों से भयंकर दीखती हुई अपनी सेना से आवृत हो, मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी, आनक और गोमुख इनके शब्दों से दिशाएँ व्याप्त हो गई, इस प्रकार भगवान् रवाना हुए ॥१४॥

सुबोधिनी—ततः सेनासहितः नानाविधवाद्यसहितोपि दिशां प्रतिध्वनिसहितोपि **निराक्रमत् । सादयो**श्ववाराः । चतुर**ङ्गनायकैः** सहिता दर्शनमात्रेणैव भयजनिका केवलं भगवत एव सेना ॥१४॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से सेना के साथ एवं अनेक प्रकार के वाद्यों सहित तथा उन वाद्यों के ध्वनि की प्रतिध्वनि दिशाओं में जिस समय आ रही थी, उस समय रवाना हुए चतुरङ्ग नायकों वाली रथ, हस्ती, घोड़े सवार आदि सहित एक ही भगवान् की सेना थी, जिसके दर्शन मात्र से भय उत्पन्न होता था ॥१४॥

आभास—ततः असाधारणीनां साधारणीनां च प्रयाणप्रकारमाह **नृबाजीति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—पश्चात् असाधारणीय और साधारणीयों के प्रस्थान प्रयाण का प्रकार 'नृवाजि' से दो श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—**नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।**
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—तलवार और ढाल हस्त में लिये हुए पुरुषों से वेष्टित हो, उत्तम आभूषण वस्त्र अरगजा और मालाओं को धारण कर, पुत्रों को सङ्ग ले प्रभु की पतिव्रता स्त्रियाँ बाघी (बग्घी), पालकी तथा तामजाम (चोंडोल) में बैठ भगवान् के पीछे-२ जाने लगी ॥१५॥

सुबोधिनी—**नृ**शब्देन नरयानं दोला, **वाजिनो**श्वाः केवलाः शकटयोजिताश्च, **काञ्चनशिबिका**श्चतुर्दोलाः चोंडोल इति भाषायां नृभिर्वाजिभिर्वा युक्ताः । **अच्युतं पतिमनु सुव्रताः** पतिव्रताः रुक्मिण्यादयः सपुत्रा **ययुः** । चतुर्विधालंकरणयुक्ताः मार्गेऽपि । स्वतोपि रक्षिताः **नृभिरपि** **सुसंवृताः** ॥१५॥

व्याख्यार्थ—'नृ' शब्द से 'डोली' कही है, केवल घोड़े और रथों में जोड़े हुए ऐसे दो प्रकार के अश्वों के थे, सोने की शिबिकाएँ जिनको चोंडोल वा तामजाम कहते हैं, उनमें मनुष्य वा घोड़े जुड़े हुए थे अर्थात् शिबिकाओं को मनुष्य खेंचते थे अथवा घोड़े खेंचते थे, अपने अच्युतपति के पीछे मार्ग में भी चतुर्विध अलङ्कार धारण की हुई रुक्मिणी आदि पतिव्रता स्त्रियें पुत्रों सहित जाने लगी, स्वतः भी रक्षित थीं एवं मनुष्यों से भी अच्छी तरह घिरी हुई थीं ॥१५॥

आभास—साधारणीनामाह **नरेति** ।

आभासार्थ—साधारण सेना आदि का वर्णन 'नरोष्ट्र' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनःकरेणुभिः परिजनवारयोषितः ।**
स्वलंकृताः कटकुटिकम्बलाम्बराद्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वशः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मनुष्य, उष्ट्र(ऊँट), घोड़े, महिष(भैंसे), गर्दभ(गधे), खच्चर, रथ और हस्तिनियाँ; ये सब सुसज्जित थे, परिचारगी करने वाले मनुष्य तथा वाराङ्गनाएँ आदि तथा चटाईयों के डेरे, कम्बल तथा वस्त्र आदि सब समान उन पर लाद तथा मनुष्य आदि रथ पर बैठ नगर से जाने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी—**नरादिभिरष्टभिः परिजना वारयोषित**श्च निर्गताः, **गावो** वृषभाः । **अश्वतरी, अनः** शकटं, **करेणुः** करिणी, सर्वा एव **स्वलंकृताः** । तासां जातिस्वभावसामग्रीं वर्णयति **कटकुटीति** । कटानामेव कुटी कटः पटकुटी वा, **कम्बला**दयो वृष्टिनिवारकाः । तासां कृष्णमन्विति न नियमः किंतु **सर्वश** एव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—मनुष्य से लेकर हस्तिनियों तक के आठ, परिचारगी करने बाले और वाराङ्गनाएँ ये सब नगर से जाने के लिए निकले । 'गौ' शब्द यहाँ बैलों के अर्थ में है । अश्वतरी (खच्चर) 'अनः' शकट और करेण यानि हस्तिनी; ये सब ही अलंकृत थे, अब उनकी अपनी जाति स्वभावानुसार जो सामान उनके पास था, उसका वर्णन करते हैं, चटाईयाँ, कम्बल आदि वस्त्र जिनसे वृष्टि से अपनी रक्षा की जाती है । केवल पत्नियाँ ही पीछे गईं, यों नहीं है, किन्तु सर्व ही पीछे चलने लगे ॥१६॥

आभास—सामान्यतो भगवत्कटकं वर्णयति समुद्रतुल्यतया **बलमिति** ।

आभासार्थ—सामान्य रूप से भगवान् की सेवा का 'बलं' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—**बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरैर्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।**
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवेर्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे क्षुभित समुद्र, तिमिङ्गिल मत्स्य और बड़े तरङ्गों से शोभा पाता है, वैसे ही बड़ी ध्वजा, छत्र, चँवर, उत्तम आयुध, आभरण, किरीट तथा जो कवच (बख्तर)थे, उन पर पड़ती हुई सूर्य की किरणों से तुमुल ध्वनि वाली सेना शोभावती हुई ॥१७॥

सुबोधिनी—वस्त्रै रायुधैः सूर्यरश्मिभिस्त्रिवि**धैर्बभौ** उपर्याच्छादकाः **बृहन्तो ध्वजादयः** । **पट**सहितानि **छत्राणि** भिन्नानि वा, **आयुधानि आभरणानि किरीटानि** कवचानि च । **तुमुलो रवो** यत्रेत्यन्तःशौर्यम्, तस्यापरिमितत्वाय **यथार्णव** इति । **क्षुभितास्तिमिङ्गिलाः ऊर्मयश्च** ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वस्त्र, आयुध और सूर्य की किरणों से सेना शोभा पाने लगी, बड़ी-२ ध्वजाएँ, ऊपर ढाँकने वाली थीं, वस्त्र सहित छत्र अलग थे, आयुध आभरण किरीट और कवच थे, सेना में तुमुल ध्वनि हो रही थी, जिससे भीतर का शौर्य प्रकट हो रहा था, वह शौर्य अगणित था, जिसके लिए समुद्र का दृष्टान्त दिया है कि जैसे तिमिङ्गिल मत्स्य (मगरमच्छ) और लहरें क्षुभित हो (ऊपर उठ-उठ कर) समुद्र के भीतर का अपना शौर्य प्रकट करते हैं ॥१७॥

आभास—एवं निर्गम्य नारदवाक्यमिव कृत्वा ततोग्रे नारदं प्रेषयामासेत्याह **अथो मुनिरि**ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार निकल कर जैसे नारद ने कहा, मानों उसी प्रकार किया, उस कारण से नारदजी को प्रथम भेजा । जिसका वर्णन 'अथो मुनिः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक**—अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा ।**
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो मुकुन्दसंदर्शननिर्वृतेन्द्रियः ॥१८॥

श्लोकार्थ—फिर नारदजी भगवान् से आदर पाकर, भगवान् के दर्शन से परमानन्द में मग्नचित्त वाले होकर भगवान् का निश्चय सुन, उन्हें प्रणाम कर हृदय में उनका स्मरण करते हुए पूजा को स्वीकार कर आकाश मार्ग से चले ॥१८॥

सुबोधिनी—भिन्नप्रक्रमः समाधिभाषार्थः । भगवन्तं विहाय भक्तस्य पुरतो गमनमनुचितमित्याशङ्क्याह **तं हृदि विदध**दिति । **विहायसा** तु आकाशमार्गेण, तस्य भगवतो व्यवसायं गमनात्मकं **निशम्य** निर्धारितं श्रुत्वा । बहिरन्तश्चानन्दपूर्णो निर्गत इति वक्तुं विशेषणद्वयम्, आहृ**तमर्हणं** यस्मै **मुकुन्दसंदर्शनेन निवृतानीन्द्रियाणि** यस्य । एवं स्वतः कार्यतश्च सिद्धो गत इत्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—यह प्रक्रम पृथक है क्योंकि समाधिभाषा है भगवान को छोड़ भक्त का पहले जाना उचित नहीं ? इस शंका की निवृत्यर्थ कहते हैं कि मनमें भगवान् को विशेष प्रकार से धारण करते हुए जाने लगे, आकाशमार्ग से चले चलने से पहले, भगवान् इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर के यहाँ पधारेंगे, यह निश्चय निर्णय सुन लिया था, बाहर और भीतर आनन्दपूर्ण होकर चले, जिसके लिए दो विशेषण "आहृतमर्हणं" "मुकुन्दसंदर्शननिर्वृतेन्द्रियः" दिए हैं, जाते समय भगवान् से पूजित होकर गए मुकुन्द के दर्शन से जिसकी इन्द्रियाँ आनन्दपूर्ण हो गई हैं अतः स्वतः और कार्य से सफल होकर रवाना हुए ॥१८॥

आभास—ततो दूतसमाधानमाह **राजदूतमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् दूत का समाधान "राजदूतं" श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा ।**
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—भगवान् वाणी से दूत को प्रसन्न करते हुए कहने लगे, मत डरो, आपका कल्याण होगा; क्योंकि मागध का नाश कराऊँगा ॥१९॥

सुबोधिनी—**इदं** वक्ष्यमाणम्, वाक्येनैव तस्य प्रीतिं जनयन् **मा भैष्टे**तिवाक्यं मध्यमपुरुषबहुवचनं राज्ञः प्रति । **दूते**ति केवलस्यैव संबोधनं तथा कथनाय । अन्यथा भगवतैव राजानो बोधिता इति दूतो व्यर्थः स्यात्, न केवलं मोचनं कि तु **वो भद्रम**पीत्याशीः । हेतुभूतं कर्तव्यमाह **घातयिष्यामी**ति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—"इदं" पद का भावार्थ है कि यह, जो अब कहना है, वाक्य से ही उसको प्रसन्न करते हुए कहने लगे कि "मा भैष्ट" मत डरिये । "भैष्ट" यह क्रिया मध्यम पुरुष का बहुवचन है जिसका भावार्थ है कि "मतडरो" यह शब्द राजाओं को कहें है । "दूत" यह सम्बोधन इसको इसलिए दिया है, राजाओं को जाकर कहना कि आप डरो नहीं, यदि सम्बोधन का यह आशय नहीं तो भगवान् ने ही राजाओं को यों कहा तो दूत का आना और राजाओं का संदेश सुनाना व्यर्थ हुआ भगवान् ने 'भद्रं" शब्द कहकर यह बताया है कि आप केवल बन्धन से नहीं छूटोगे किन्तु आपका कल्याण भी होगा, यह आशीर्वाद भी दिया है, यों होने में जो हेतुभूत कर्तव्य है वह भी प्रकट कह देते हैं कि मागध का घात कराऊँगा ॥१९॥

आभास—ततो दूतकर्तव्यतादिकमाह **इत्युक्त** इति ।

आभासार्थ—पश्चात दूत ने कर्तव्यादि कहा (वह) "इत्युक्तः" श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान् ।**
तेपि संदर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्त मुमुक्षवः ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जो इस प्रकार कहा, वह सुनकर दूत रवाना हुआ, वहाँ जाकर जैसे भगवान् ने कहा था, वैसे सब राजाओं को कहा, वे भी मुक्त होने की इच्छा वाले भूपतिगण भगवान् के दर्शन की प्रतिक्षा करने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी—**यथावज्ज्ञा**तानुपूर्व्या । श्रुतानां मनोवृत्तिमाह **तेपी**ति । भगवतैव मोक्ष इति भगवत्**संदर्शनमे**व काङ्क्षन्तः स्थिताः । अयमेव मोक्षोपायः सर्वेषामिति सूचितम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—जैसा जो कुछ हुआ वह सब प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दूत ने राजाओं को सब सुनाया, सुनने वाले राजाओं के मन की वृत्ति तब कैसी होने लगी, वह कहते हैं कि भगवान् द्वारा

ही मोक्ष होगा और भगवान् के दर्शन भी होंगे, यह कब होगा ऐसी प्रतिक्षा में ही स्थित हुए, यों करने से यह सूचित किया है कि मोक्ष का एक ही उपाय मेरी शरण आना है ॥२०॥

आभास—इन्द्रप्रस्थपर्यन्तं भगवत आगमनमाह **आनर्त**ेति द्वाभ्यां स्थलजलोत्तरणप्रयत्नभेदात् ।

आभासार्थ—इन्द्रप्रस्थ तक भगवान् पहुँचे मध्य में जो देश और नदी आदि आए उनका वर्णन "आनर्त" श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ।**
गिरीन्नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ॥२१॥

श्लोकार्थ—ओखामण्डल, सौराष्ट्र, मारवाड़, कुरुक्षेत्र देशों से होते हुए, गिरि और नदियों को पार कर पुर ग्राम, व्रज और खानों के देशों का उल्लङ्घन कर इन्द्रप्रस्थ पधारे ॥२१॥

सुबोधिनी—**आनर्तो** द्वारकादेशः, **सौवीर** सुराष्ट्रदेशः, **मरवो** मरुदेशः। ततो **विनशनं** कुरुक्षेत्रदेशः। अल्पपरिभ्रमणेनागमनं पर्वतवनाद्यभावात्। यतो **हरिः**, **गिरीन्** रैवतकादीन्, तत्प्रभवा **नदीश्च** **अतीयाय** पादगत्यैवातिक्रान्तवान् । **पुरग्रामव्रजाकरा**श्चत्वारो भेदाः जनस्थानानाम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—"आनर्त" द्वारकादेश "सौवीर" सु "सौ" राष्ट्रदेश "मरवो" मरुदेश (मारवाड़) वहाँ से हो कुरुक्षेत्र में आए, यों घूमकर भी जल्दी पहुँचने का कारण यह है कि वहां बड़ी नदियां व पहाड़ तथा वन नहीं आए, क्यों कि आप "हरि" हैं। बाद में रेवतक पर्वत और उनसे निकली हुई नदियों को पैदल ही पार कर, पुर, गांव व्रज और खान वाले देशों का उल्लंघन कर "अन्त में" इन्द्रप्रस्थ पधारे ॥२१॥

श्लोक—**ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोथ सरस्वतीम् ।**
पाञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ॥२२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् मुक्ति देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण दृषद्वती और सरस्वती को पार कर, पाञ्चाल और मत्स्य देशों का अतिक्रमण कर इन्द्रप्रस्थ आए ॥२२॥

सुबोधिनी—**दृषद्वती सरस्वती** च तदानीमतिगम्भीरनद्यौ। दृषद्वतीसरस्वत्योर्मध्ये। **मुकुन्द** इति पदमग्रे तत्र मोक्षं दास्यतीति सूचयति। **अथे**त्यग्रे शनैर्गमनं सूचितम्। **पाञ्चालदेशो मत्स्यदेशश्च** मध्येमार्ग एवांशभेदेनेति विमर्शः। **शक्रप्रस्थ**मिन्द्रप्रस्थं अन्वर्थसंज्ञा स्थानस्येति ज्ञापयितुं तथा वचनम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—दृषद्वती और सरस्वती उस समय में बहुत बड़ी और गम्भीर नदियां थीं। दृषद्वती और सरस्वती के मध्य भाग में जो देश हैं उनमें से होकर पधारे, पधारने का कारण मोक्ष देना है इसलिए "मुकुन्द" नाम दिया है। "अथ" पद से यह जताया है कि आगे धीरे-२ पधारेंगे, पांचाल देश तथा मत्स्यदेश, मार्ग के बीच में ही आएंगे किन्तु यहां उनका अंश भेद से विचार किया अर्थात् मत्स्यदेश अथवा पांचालदेश का समग्र भाग नहीं फिरे किन्तु मध्य भाग भी अंश भेद से फिर कर इन्द्रप्रस्थ आ गए "इन्द्र" नाम से ही उसके गुणों का ज्ञान हो जाता है ॥२२॥

आभास—ततो निकटे समागमने युधिष्ठिरस्य स्नेहपूर्वकं कृत्यमाह **तमागत**मिति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—अनन्तर जब सुना कि भगवान् निकट आ गए हैं तब महाराजा युधिष्ठिर ने जो स्वागत कृत्य प्रेमपूर्वक किया जिसका वर्णन "तमागतं" श्लोक से चार श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—**तमागतमुपाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् ।**
अजातशत्रुर्निरगात्सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ॥२३॥

श्लोकार्थ—जिनका दर्शन प्राणी मात्र को कठिन है, वे निकट पधार गए हैं, यों सुन प्रसन्न हुए युधिष्ठिर उपाध्याय और मित्रों सहित महल से बाहर निकले ।२३।

सुबोधिनी—**नृणां** प्राणिमात्रस्य **दुर्दर्शनम**ित्यलभ्यलाभोक्तिः। **अजातशत्रु**रिति भगवद्दर्शनाधिकारः। विद्यापरिजनाभिमानाभावाय **सोपाध्यायः सुहृद्वृत** इति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्राणि मात्र को जिनका दर्शन होना दुर्लभ है उनका दर्शन होता है जो यों कहकर बताया है कि यह अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ है, युधिष्ठिर को "अजातशत्रु" कहकर यह सूचित किया है कि इस गुण से ही वह भगवान् के दर्शन करने का अधिकारी हुआ है, उपाध्याय और सुहृदों को साथ यह बताने के लिए लाए कि हमको तो अभिमान नहीं है किन्तु हमारे यहां जो विद्यावाले हैं और जो हमारा परिजन (मित्र बान्धवादि) हैं उनमें भी अभिमान नहीं है तथा उनमें आप के लिए आदर और प्रेम भी है ॥२३॥

श्लोक—**गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।**
अभ्ययात्स हृषीकेशं प्राणः प्राणमिवादृतः ॥२४॥

श्लोकार्थ—गाजे-बाजे और भारी वेद ध्वनि के साथ भगवान् से मिलने के लिए गए, जैसे प्राण फिर प्राणों में लीन हो जाते हैं, वैसे युधिष्ठिर प्रेम से भगवान् से मिले ॥२४॥

सुबोधिनी—ततो निकटमागतः। गीतादिसहितः यतः **स** प्रसिद्धः निकटागमनयोग्यः। ननु भक्त्या मध्ये विकलः कथं न जातः कथमागत इति शङ्कां वारयति **हृषीकेशमिति**। इन्द्रियाधिपतित्वादिन्द्रियाण्येव गतानि न तु तत्प्रयत्नः तत्र जात इत्यर्थः। स्वत एव गमने दृष्टान्तः **प्राणः प्राणमिवेति**। बहिर्निर्गतः प्राणः यथा नायासेन प्राणमेव समागच्छति। ततः परमादरयुक्तो जातः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् निकट आए, गीत वाद्य वेद घोष के साथ आए, क्योंकि वह प्रसिद्ध निकट आने के योग्य था, इतना प्रेम जब था तो भक्ति से मार्ग में ही विकल क्यों न हो गए। यहां कैसे आ गए ? इस शंका का निवारण करते हैं कि जिनके पास आए हैं वे इन्द्रियों के स्वामी हैं, अतः वहां इन्द्रियां स्वतः स्वयं पहुँच गई न कि युधिष्ठिर अपनी इन्द्रियों के प्रयत्न से पहुँचे जिसको समझाने के लिए दृष्टन्त देते हैं कि जैसे बाहर निकला हुआ प्राण बिना प्रयत्न के प्राण में ही पहुँच जाता है वैसे ही यह भी भगवान् से मिले और महान् आदर पाया ॥२४॥

आभास—निकटे समागतस्य कृत्यमाह **दृष्ट्वेति**।

आभासार्थ—निकट में आकर युधिष्ठिर ने जो कृत्य किया वह "दृष्ट्वा विक्लिन्न" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः।**
चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजे स्म पुनः पुनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण का दर्शन करते ही युधिष्ठिर का हृदय स्नेह से आर्द्र हो गया और चिरकाल से देखे हुए प्रियतम का बार-बार आलिङ्गन करता रहा ॥२५॥

सुबोधिनी—**स्मेति** प्रसिद्धे। अन्यथा जीवस्यैवं धाष्र्ट्यं वर्णयितुमनुचितम्। भगवता कथमङ्गीकृतमिति शङ्कां वारयितुमाह **विशेषेण** **क्लिन्नहृदय** इति। तस्य विचाराभावेनालिङ्गने हेतुः **प्रियतममिति**। **पुनः पुनरिति** अन्तरानन्देन अन्तरानन्देन बहिःसंमूढता सूचिता ॥२५॥

व्याख्यार्थ—"स्म" पद यहां प्रसिद्धि के अर्थ में दिया है, अन्यथा जीव इस प्रकार धृष्टता करे जिसका वर्णन करना अनुचित है, भगवान् ने इस की धृष्टता कैसे स्वीकार की ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि उसका स्नेह से आर्द्र हृदय हो गया था वह देख कर भगवान् ने धृष्टता को स्वीकार किया। युधिष्ठिर बिना विचार किये बार-बार आलिंगन करता रहा जिसका कारण कृष्ण भगवान् को वह अपना प्रिय नहीं बल्कि प्रियतम समझता था जिससे अन्तःकरण के आनन्द में लीन हो गया जिससे बाहर का ज्ञान ही न रहा यह सूचित किया ॥२५॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **दोर्भ्यामिति**।

आभासार्थ—अनन्तर जो कुछ हुआ वह "दोर्भ्यां" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः।**
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥२६॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मीजी का निर्मल निवास स्थान जो भगवान् का श्रीअङ्ग उसको आलिङ्गन किया, जिससे उसी क्षण उसके सब अशुभ नष्ट हो गए और ऐसे आनन्द मग्न हो गए, जो नेत्रों में से प्रेमाश्रु बहने लगे, शरीर पुलकित हो गया, जिससे सर्व लौकिक व्यवहार भूल गया ॥२६॥

सुबोधिनी—रमायाः अमलमालयम्। अनेन लौकिकन्यायेनापि दोषाभावाय सुखाय च हेतुरुक्तः। **मुकुन्दगात्रमिति** मोक्षानन्दोपि। ततः सर्वपापक्षयः, ततः परमानन्दस्फूर्तिरन्तर्बहिर्लोचनयोः शरीरे च तदुल्लासः, ततो लौकिकमोहनिवृत्तिः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् के श्रीअंग का आलिंगन किया, प्रभु का श्रीअंग लक्ष्मी का निर्मल निवास स्थान है, अतः उस श्रीअंग के आलिंगन आदि से महाराज के सब दोष नष्ट हो गए और सुख की प्राप्ति हुई, यों कहकर लौकिक न्याय से भी दोषों के अभाव तथा सुख के लिए यह हेतु कहा है "मुकुन्दगात्र" पद से यह बताया कि इससे मोक्षानन्द भी मिला, उससे सर्व पापों का क्षय हो जाने से परमानन्द की भी स्फूर्ति हो गई, नेत्र और शरीर में अन्दर और बाहर उसका उल्लास हो गया, जिससे लौकिक मोह की निवृत्ति हो गई ॥२६॥

आभास—उत्तमाधिकारित्वादस्यैतावन्निरूप्य ततो न्यूनं भीमकृत्यं निरूपयति **तं मातुलेयमिति**।

आभासार्थ—उत्तम अधिकारी होने से इसका इतना निरूपण कर, उससे भीम का कृत्य न्यून है, यों "तं मातुलेयं" श्लोक से निरूपण करते हैं।

श्लोक—**तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन्प्रेमजवाकुलेन्द्रियः।**
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—भीमसेन, मामा के पुत्र, श्रीकृष्ण से हँसते हुए मिला, तब प्रेम के वेग से उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गई। अर्जुन, नकुल और सहदेव प्रिय श्रीकृष्णचन्द्र से आनन्दपूर्वक मिले, तब उनके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बहने लगी ॥२७॥

सुबोधिनी—संबन्ध एव तस्य हृदये प्रतिभातः तथापि वस्तुसामर्थ्यान्निर्वृतिः, भगवत्संबन्धाद्बलाद्विर्भावे जाते । **स्मयन्** मन्दहासं कुर्वन् । ततोधिकारित्वात्**प्रेमजवेनाकुलानीन्द्रियाणि** यस्य । **यमौ** माद्रीपुत्रौ, तयोरपि लौकिकत्वाद्भीमानन्तरं कथनम् । **किरीटी** अर्जुनः । तत्र चकारः राजधर्ममन्यधर्मं च समुच्चिनोति । परिष्वङ्गे हेतुः **सुहृत्तममिति मुदा** । **प्रवृद्धबाष्प** इत्यविचारे । भगवांस्त्व**च्युत** इति न कापि तस्य क्षतिरित्यनुमोदनं सूचितम् ।।२७।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि भीमादि के हृदय में सम्बन्ध ही देखने में आया तो भी वस्तु के सामर्थ्य से उसकी निवृत्ति होकर आनन्द की प्राप्ति हुई; क्योंकि भगवत्सम्बन्ध से वल का आविर्भाव हो गया था । 'स्मयन्' पद का तात्पर्य है कि मिलने के समय मन्द हास करते थे, भगवान् से मिलने के अधिकारी होने से अन्तःकरण में जो प्रेम का वेग वढ़ा, उससे इन्द्रियाँ व्याकुल होने लगी, नकुल और सहदेव ये दोनों लौकिक होने से भीम के पीछे कहे हैं और अर्जुन भी । 'च' पद राजधर्म और अन्य धर्मों को दिखाता है, मिलने में कारण वताते हैं कि श्रीकृष्ण इनके हार्दिक मित्र थे, इसलिए प्रसन्नता से मिले । विशेष में नेत्रों से आँसू आने लगे, इससे अविचार प्रकट किया है, भगवान् स्वयं तो अच्युत हैं, इसलिए उनकी तो कुछ भी हानि नहीं हुई, इससे भीम आदि को मिलने के कार्य का अनुमोदन किया, यह सूचित होता है ।।२७।।

आभास—प्रेमकार्यं निरूप्य लौकिकं कृत्यमर्जुनादीनां निरूपयति **अर्जुनेनेति-द्वाभ्याम्** ।

आभासार्थ—अर्जुन आदि का प्रेम कृत्य कहकर अब लौकिक कार्य का 'अर्जुनेन' दो श्लोकों से निरूपण करते हैं ।

श्लोक—**अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ।**
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ।।२८।।

श्लोकार्थ—अर्जुन से भगवान् आलिङ्गन कर मिले, नकुल और सहदेव ने भगवान् को प्रणाम किया, अनन्तर भगवान् ने ब्राह्मणों को और बड़ों को जैसे योग्य था, वैसे ही प्रणाम किया ।।२८।।

सुबोधिनी—समस्यालिङ्गनम्, कनिष्ठौ चेदभिवादनम्, अतः **अर्जुनेन परिष्वक्तः यमाभ्यां चाभिवादितः** । ततो भगवान् भीमादयो ज्येष्ठा इति तान् सर्वानेव नमस्करोतीत्याह **ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्चे**ति । **यथार्हतः** यथायोग्यतः । ।।२८।।

व्याख्यार्थ—समान से आलिङ्गन, छोटे हो वे प्रणाम करें, इस लौकिक नीति के अनुसार अर्जुन समवय (बराबर उमर) वाला था, इसलिए भगवान् अर्जुन से आलिङ्गन द्वारा परस्पर मिले । नकुल और सहदेव छोटे थे, इसलिए उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया, अनन्तर भीम

आदि जो बड़े थे, उनको भगवान् ने नमन किया और जो वृद्ध थे, उनको भी नमस्कार किया; जैसा योग्य था, वैसा सबने किया ।।२८।।

श्लोक—**मानितो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् ।**
सूतमागधगन्धर्वान् बन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ।।२९।।

श्लोकार्थ—प्रथम कौरवादि द्वारा मान पाकर अनन्तर आपने कौरव, पाण्डव और कैकयों का आदर सत्कार किया, बाद में सूत मागध, गन्धर्व, बन्दी और उपमन्त्रियों को मान दिया ।।२९।।

सुबोधिनी—सर्वैर्मानितः सर्वानेव **मानयामास** । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति लौकिकभावेन प्रपन्नान् लौकिकभावं बोधयतीति निरूप्यते । **कुरवः सृञ्जयाः कैकयाश्च** सात्त्विकादिभेदा इव त्रिविधा निरूपिताः । बन्धुत्वोपजीवकानुक्त्वा **सूतमागधगन्धर्वा**निति । **गन्धर्वा** गायकाः, **उपमन्त्रिणः** परिहासकर्तारः समीचीनाः ।।२९।।

व्याख्यार्थ—सबने भगवान् का सन्मान किया, आपने भी सबका आदर किया । "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इस श्लोक के अनुसार लौकिक भाव से जो शरण आए, उनको लौकिक भाव ही दिखाया है, यों निरूपण करते हैं । कौरव, सृञ्जय और कैकेय; ये तीन सात्विकादि भेद वाले हैं, अतः तीन प्रकार के कहे हैं, बन्धुत्व से जो जी रहे हैं, उनका वर्णन कर विद्या से जीविका करने वालों को कहते हैं । सूत, मागध, गन्धर्व[1] और बन्दीजन तथा उपमन्त्री[2] थे, इनका भी यथायोग्य सन्मान किया गया ।।२९।।

आभास—ततो भगवता मानिताः भगवन्तं मानयामासुरित्याहुर्मृदङ्गेति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् से सत्कार पाकर भगवान् को मान देने लगे, जिसका वर्णन 'मृदङ्गशङ्ख' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**मृदङ्गशङ्खपटहवीणापणवगोमुखैः ।**
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ।।३०।।

श्लोकार्थ—उस समय मृदङ्ग, शङ्ख, ढोलक, वीणा, पणव और गोमुख बाजे बजने लगे, ब्राह्मण स्तुति करने लगे, भक्त नाचने लगे और सामवेदी ब्राह्मण सामवेद का गान करने लगे ।।३०।।

१– गाने से आजीविका करने वाले, २– परिहास करने वाले विदूषक,

सुबोधिनी—चकारात् क्षत्रियादयोपि । अरविन्दाक्षमिति दृष्ट्यैवाप्यायिताः । ज्ञानिनस्तुष्टुवुः । भक्ता ननृतुः, जगु. कर्मिणः सामगाः। ।।३०।।

व्याख्यार्थ—'च' शब्द से बताया है कि क्षत्रिय आदि भी मान देने लगे। 'अरविन्दाक्ष' नाम देकर यह सूचित किया है कि भगवान् ने दृष्टि से ही सबको आनन्द देकर तृप्त कर दिया है, ज्ञानी ब्राह्मण स्तुति से भगवान् का सत्कार करने लगे, भक्त नृत्य द्वारा अपना प्रेम प्रकट कर भगवान् को प्रसन्न करने लगे, कर्मकाण्डी सामगान कर भगवान् का आदर करने लगे ।।३०।।

आभास—दर्शनस्थानकृत्यमुपसंहरन्नग्रिमकृत्यमाह **एवं सुहृद्भिरिति** ।

आभासार्थ—दर्शन और स्थान पर जो कृत्य हुआ, उसका उपसंहार करते हुए आगे के कृत्य का 'एवं सुहृद्भिः' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ।**
संस्तूयमानो भगवान्विवेशालंकृतं पुरम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार के पुण्यश्लोकों के मुकुट मणिरूप जिनकी स्तुति नागरिक कर रहे हैं, वैसे भगवान् ने सुहृदों के साथ सिंगारे हुए नगर में प्रवेश किया ।।३१।।

सुबोधिनी—एवंभूतैः सुहृद्भिः पर्यस्तो व्याप्तस्तैरेव **संस्तूयमानः पुरम**विशत्। भगवतो महतो नगराद्बहिरेव स्थातुं युक्तं कथमन्तःप्रवेशनमिति शङ्कां वारयति **पुण्यश्लोकशिखामणिरिति**। **पुण्यश्लोका** युधिष्ठिरादयः तेषां **शिखामणिर्**मुकुटमणिः। भगवतः प्रवेशाभावे कोपि पुण्यश्लोको न प्रविशेदिति तदनुरोधेन प्रार्थनया **प्रविष्ट** इत्यर्थः। भगवत्त्वादनन्यत्वम्, सर्वैरेव स्तूयमानत्वान्न लज्जा। सर्वानुमोदनार्थं विशेषणम**लंकृतमि**ति ।।३१।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के सुहृदों से घिरे हुए और उनसे ही स्तुत होते हुए भगवान् पुर में प्रविष्ट हुए, भगवान् को तो नगर से बाहर ही रहना उचित था तो नगर में भीतर क्यों पधारे? इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि यदि नगर में भीतर भगवान् प्रवेश न करते तो नगर में कोई भी पुण्यश्लोक नहीं जाता और न रहता। युधिष्ठिरादि पुण्यश्लोक भी फिर वहाँ न रहते, अतः युधिष्ठिरादि के अनुरोध पूर्वक प्रार्थना से भीतर पधारे। आप भगवान् हैं ही, इसलिए आपके लिए अन्य कुछ नहीं अर्थात् उनके लिए बाहर और भीतर पृथक् नहीं हैं, सब कुछ आप ही हैं, फिर लौकिक से भी जब बाहर और भीतर के सब लोग स्तुति कर रहे हैं तो भीतर जाने में कोई लज्जा नहीं है, पुर का विशेषण 'अलंकृत' देकर यह सूचन किया है कि भगवान् के भीतर पधारने का सब अनुमोदन कर रहे हैं ।।३१।।

आभास—भगवत्प्रविष्टं पुरं वर्णयति द्वाभ्यां **संसिक्ते**ति ।

आभासार्थ—भगवान् जिस नगर में पधारे उसके सजाने का दो श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयै-**
श्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्र-
ग्गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—जहाँ मार्ग में हाथियों के मदवाले सुगन्धित जल से छिरकाव हो रहा था, चित्र ध्वजा, सुवर्ण के तोरण, जल से भरे घड़े घरों पर धरे हुए थे, जिनकी अपूर्व शोभा हो रही थी, स्नान कर उज्वल हो, नवीन वस्त्र, आभूषण, माला व सुगन्धित पदार्थों को धारण किए हुए पुरुष और युवतियों से वह नगर विशेष शोभा वाला हो रहा था । ३२।।

सुबोधिनी—करिणां मदगन्धतोयैः संसिक्तवर्त्मेति अधो वर्णितम्। **कनकतोरणैः पूर्णकुम्भैश्चे**त्युपरि। मध्ये वर्णयति **मृष्टात्मभिरि**ति। **मृष्टा** उद्वर्तनादिभिः शोधिताः **आत्मानो** देहा येषां, **नवानि दुकूलानि स्रजो** माला **गन्धाश्च** येषां एतादृशैर्**नृभिर्युवतिभिः** स्त्रीपुरुषैर्**विराजमानमि**ति साधारणपुरुषाणां शोभा निरूपिता। प्रसिद्धपुरुषाणां तु पुरमेव शोभाकरम् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—नगर के नीचे के भाग पृथ्वी का वर्णन करते हैं कि उस पर हस्तियों के मद से सुगन्धित जलों से छिरकाव होने से नीचे के भाग पृथ्वी सुगन्धित हो रही थे, नगर के भवनों की शोभा से ऊपर के भाग की शोभा को कहते हैं कि सुवर्ण के तोरण और जल से पूर्ण घड़े भवनों पर धरने से ऊपर की शोभा हो रही थी, मध्य भाग की शोभा कहते हैं अर्थात् कि नगर के साधारण स्त्री-पुरुषों की शोभा से नगर का मध्य भाग सुशोभित हो रहा था, जैसे कि पुरुष तथा युवा स्त्रियाँ इतर, फुलेल आदि उबटन कर, नवीन वस्त्र और पुष्प माला धारण कर चन्दन आदि लगाकर घूम रही थी, ऐसे नगर में आपने प्रवेश किया ।।३२।।

आभास—साधारणं पुरं वर्णयित्वा राजगृहात्मकं वर्णयति **उद्दीप्ते**ति ।

आभासार्थ—साधारण नगर का वर्णन कर राजगृह रूपी नगर का 'उद्दीप्तदीप' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**उद्दीप्तदीपवलिभिः प्रतिसद्मजाल-**
निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-
र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ।।३३।।

श्लोकार्थ—जहाँ प्रत्येक गृह दीप तथा पुष्प मण्डलियों से सुशोभित हो रहा था, भवनों की जालियों से सुन्दर धूप का सुगन्धित धूम निकलता था, सुन्दर पताकाओं से प्रत्येक सदन (महल) सुशोभित था, उन महलों के ऊपर सोने के कलश, उनके नीचे के भाग में चाँदी के बड़े-बड़े शिखर थे, ऐसे सुन्दर राज भवनों से सुशोभित कुरुराज की राजधानी भगवान् ने देखी ॥३३॥

सुबोधिनी—राजगृहाः सर्वे भोगस्थानभूता इति तत्र **उद्दीप्ता दीपा वलयश्च** पुष्पमण्डलानि पूजासाधनानि भवन्ति । **प्रतिसद्म** सर्वेष्वेव गृहैषु ये **जाला** गवाक्षाः तन्मार्गेण **निर्याता** ये **धूपास्तैः रुचिरम्। विलासयुक्ताः पताका** यस्मिन्। सात्त्विकराजसतामसोत्कर्षो निरूपितः क्रमेण पदत्रयेण । गृहाणां स्वाभाविकोत्कर्षमाह **मूर्धन्येति** । गृहमूर्धनि स्थितैः **हेमकलशैः, राजतानि उरु शृङ्गाणि** च तैर्जुष्टं सेवितम्, ज्ञापकत्वेन तानि स्थितानि । अयमर्थः । भगवान् दूरादेव दीपविशेषैः पताकाभिः सुवर्णकुम्भैः राजतशृङ्गैश्च राजगृहमिदमिति ज्ञातवानिति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—सब राजगृह भोग के स्थान बन गए थे उन भवनों में तेज दीपक जल रहे थे और पुष्प मण्डलियां रखी थीं, ये दोनों दीप और पुष्प पूजा के साधन होते थे प्रत्येक घर में जो जालियां थीं उनमें से धूप का सुगन्धित धूप निकलता था, उनसे वे सुन्दर लगते थे, जिन भवनों पर पताकाएं विलास कर रही थीं अर्थात् हिलती हुई मानों क्रीड़ा कर रही थीं इन तीनों पदों से सात्विक राजस और तामस तीन प्रकार का उत्कर्ष वर्णन किया है, अब राजगृहों का स्वाभाविक तीन प्रकार उत्कर्ष कहते हैं, गृहों के ऊपर सोने के कलश स्थापित थे, उनके नीचे चांदी के बड़े बड़े शिखर थे, उनसे वे पहचाने जाते थे कि यह भवन राजगृह हैं, इस कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् दूर से ही विशेष दीपों से, पताकाओं से सुवर्ण के घड़ों से चांदी के शिखरों से जान गए कि ये सब राज महल हैं ॥३॥

आभास—ततः पुरं प्रविष्टस्य भगवतः प्रकारान्तरेण स्वरूपं वर्णयितुं तत्रत्यानां औत्सुक्यमाह **प्राप्तं निशम्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् नगर में प्रविष्ट भगवान् का अन्य प्रकार से स्वरूप वर्णन करने के लिये, वहां के निवासियों की उत्सुकता का वर्णन "प्राप्तं निशम्य" श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-**
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ॥३४॥

श्लोकार्थ—मनुष्य नेत्रों से जिस पान पात्र में से लावण्यामृतरस का पान करते

हैं, वह पान पात्र भगवान् पधार गए हैं, यह सुनते ही उत्सुकता से जिनके केश और वस्त्र के बन्धन शिथिल पड़ गए हैं, ऐसी तरुण स्त्रियाँ घर का कार्य त्याग तथा पतियों को शय्या पर ही सोया हुआ छोड़कर भगवान् के दर्शनार्थ राज मार्ग पर आ गईं ॥३४॥

सुबोधिनी—नराणां यानि **लोचनानि** लावण्यामृतसारज्ञानयुक्तानि तेषां लावण्यामृतपानं भगवान्**पानपात्रं** यत्रत्यं रूपामृतं चक्षूंषि पिबन्ति । ततो रूपदर्शनेन उन्मथिताशयानां देहवैक्लव्यमाह **औत्सुक्येति** । दर्शने दर्शनानन्तरं वा या उत्सुकता **औत्सुक्यं** तेन **विश्लथिताः केशदुकूलयोर्बन्धा** यासाम्, केशबन्धापगमे मनोवैक्लव्यम्, दुकूलबन्धापगमे देहकार्श्यम्, अन्तर्बहिः-क्लेशो निरूपितः । ततः पूर्वावस्थायां स्थातुमशक्ताः **सद्य एव गृहकर्म पतींश्च तल्पे** त्यक्त्वा क्रियाः क्रियाफलानि च त्यक्त्वा **नरेन्द्रस्यैव मार्गे** राजमार्गे **युवतयो** भगवन्तं **द्रष्टुं ययुः** । तल्पे पतीनां निरूपणान्न ते भगवद्भक्ताः । राजा तु भगवत्संमुखं गत इति पतिगृहेभ्यः राजमार्ग एव श्रेष्ठ इति तत्रैव निविष्टा येन भगवान् दृश्येतेति वा । तामस्यर्थः । गृहाः कर्माणि पतयश्चेति त्रयः तामसादिभेदात्त्रयः त्यागार्हा एव अर्थाद्राजमार्गो गुणातीत एव भवति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—लावण्यामृतरस के ज्ञाता जो मनुष्यों के नेत्र हैं, उन नेत्रों के लावण्यामृतपान का पात्र भगवान् हैं क्योंकि मनुष्य भगवान् के रूपामृतरस का पान नेत्रों से ही करते हैं। नेत्रों से रूपरस का पान करने से जो भगवान् के मिलने की उत्सुकता बढ़ गई, जिससे देह में जो बेचैनी हुई उससे उनके केश तथा वस्त्रों के बन्धन खुल गए,केशों के खुलने से मनमें विकलता होने लगी वस्त्रों के खुलने से यह सूचित हुआ कि देह कृश हो गई है, इससे भीतर और बाहर का क्लेश वर्णन किया, यों होने से पहले की तरह रहने में असमर्थ हो गई, अतः शीघ्र ही गृह के कार्य और पतियों को शय्या पर ही छोड़, अर्थात् क्रियाएं और उनके फलों को छोड़ कर, वे युवतियां राजमार्ग पर प्रभु के दर्शनार्थ गईं, पतियों को शय्या पर ही छोड़ा जिससे यह सूचित होता है कि वे (पुरुष) भगवान् के भक्त नहीं थे, यदि भगवद् भक्त होते तो, वे भी उठकर दर्शनार्थ जाते। राजा तो भगवान् को पधराने के लिए सामने गए हैं इसलिए पतिगृह से राजमार्ग ही श्रेष्ठ है वहां ही बैठ गईं जिससे भगवान् देखने में आवें, गृह, कर्म और पति, ये तीन ही तामस आदि भेद से तीन प्रकार के हैं अतः त्यागने के योग्य ही हैं अर्थात् राजमार्ग गुणातीत ही हैं, क्योंकि वहाँ भगवद् दर्शन होते हैं ॥३५॥

आभास—अत एव तत्र गतानां भगवद्दर्शनं जातमित्याह **तस्मिन्निति** ।

आभासार्थ—इस कारण से ही वहां जो गए उनको भगवान् के दर्शन हुए यह "तस्मिन्" श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तस्मिन्सुसंकुल इभाश्वरथद्विपद्भिः**
कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य
सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षणेन ॥३५॥

श्लोकार्थ—कितनी ही स्त्रियाँ घर के ऊपर के भाग पर चढ़कर दर्शनार्थ बैठ गई, उन्होंने चतुरङ्गिणी सेना की भीड़ में पटरानियों सहित श्रीकृष्ण को पाकर उन पर पुष्प वर्षा करने लगीं तथा मन से आलिङ्गन कर मुस्कान युक्त दृष्टि से उनका स्वागत करने लगीं ॥३५॥

सुबोधिनी—चतुरङ्गसेनासंकुले **तस्मिन्** मार्गे **सभार्यं** भगवन्तमुपलभ्य **गृहाधिरूढाः** सत्यः आरोहदोषपरिहाराय **कुसुमैर्विकीर्य** विवाहमिव कृत्वा पश्चा**न्मनसोपगुह्य उत्स्मयवीक्षणेन** हासपूर्वकनिरीक्षणेन **सुष्ठु स्वागतं विदधुः**, सर्वनिरूपणेन ह्यपराधक्षमा । तत्र विधानपूर्वकं भगवन्तं परिगृह्य प्रमाणविरोधं परिहृत्य आत्मानं भगवति योजयित्वा प्राप्तं भगवन्तं पूरितमनोरथं पूर्णमनोरथाः हासेनाधिकरतिं दास्याम इति सूचयन्त्यः मोहयन्त्यो वा ततः साभिलाषं भगवन्तं सम्यगागतमिति सन्माननां कृतवत्य इत्यर्थः । ॥३५॥

व्याख्यार्थ—चतुरंगिणी सेना से युक्त उस मार्ग में पटराणियों के साथ भगवान् को पाकर पुष्पों की वर्षा करने लगीं मानो अब विवाह ही रहा है स्त्रियों ने घरों के ऊपर के भाग में बैठने का जो दोष किया था, क्योंकि भगवान् नीचे थे आप ऊपर बैठी थी उस दोष के मिटाने के लिए भी पुष्प वर्षा की, जिससे यह भी सूचन किया कि हम इसके लिए ऊपर बैठी हैं पश्चात् पुष्प बर्साने के अनन्तर मन से भगवान् का आलिंगन कर हास पूर्वक दर्शन करने से सुन्दर स्वागत किया यों सर्व प्रकार स्वागत करने से अपराध की क्षमा भी मांगली, यों करने का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक भगवान् को पाकर प्रमाण के विरोध का परिहार किया आत्मा को भगवान् में मिलाकर जिससे मनोरथ पूर्ण हुए हैं ऐसे प्राप्त भगवान् को इंगति से कहने लगी कि यद्यपि हमारे मनोरथ पूर्ण हो गए हैं तो भी हास्य से अधिक रति का दान करूँगी यों सूचन करती थीं अथवा मोहित करती थीं उससे अभिलाषा वाले भगवान् को कहने लगीं कि आप भले पधारे, यों सन्मान करने लगीं ॥३५॥

आभास—एवं भगवति स्त्रीणां भावमुक्त्वा पुरुषाणां भावमाह **तत्र तत्रेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् में स्त्रियों के भाव को कहकर अब "तत्र तत्र" श्लोक में पुरुषों के भाव को कहते हैं—

श्लोक—**तत्र तत्रोपसंगम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।**
चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ॥३६॥

श्लोकार्थ—निष्पाप पुरवासी, मुख्य-मुख्य कारीगर विशेष वैश्य, व्यापारी, जहाँ-तहाँ माङ्गलिक पदार्थ हस्तों में लेकर समीप आकर भगवान् का गन्धादि से पूजन करने लगे ॥३६॥

सुबोधिनी—**पौराः** पुरवासिनः सर्व एव कृष्णस्य **सपर्यां** पूजां **चक्रुः** । श्रेणीमुख्यानां विशेषमाह एकशिल्पोपजीविनः वणिग्विशेषाः **श्रेणीमुख्याः** ते भगवता तत्तच्छिल्पसहिता विशेषतो दृष्टाः सर्वात्मना **हतैनसो** जाता इत्यर्थः । मङ्गलद्रव्ययुक्तपाणित्वं तु समानमेव, **सपर्या** गन्धपुष्पादिभिः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—पुर में रहने वाले सब ही भगवान् की पूजा करने लगे एक ही शिल्प से आजीविका करने वाले विशेष वैश्यों को "श्रेणी मुख्याः" कहा है, भगवान् ने उनको उस शिल्प सहित विशेष प्रकार से देखा, जिससे उनके सर्व प्रकार से सर्व पाप नष्ट हो गए, मंगलद्रव्य तो सबके हाथों में था वह सर्व में समान ही है—सपर्या-पद से जताया है कि गन्ध पुष्पादि से पूजा की ॥३६॥

आभास—एवं सर्वैः सभाजनमुक्त्वा स्त्रीभिः कृतं मुकुन्दपत्नीनां पुनराह **ऊचुरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार सबने सन्मान किया यह कहकर अब स्त्रियों ने जो भगवान् की पत्नियों का सन्मान किया वह "उचुः" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-**
स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-
लीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥३७॥

श्लोकार्थ—जैसे तारों के साथ चन्द्रमा, वैसे इनके साथ भगवान् शोभा दे रहे हैं, इनको देख कर इन्द्रप्रस्थ की स्त्रियाँ बातें करने लगीं कि अहो इन्होंने क्या पुण्य किया होगा, जो भगवान् इनके नेत्रों को अपने उदार मन्द हास्य और लीलापूर्वक अवलोकन की कला से आनन्द दे रहे हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—**स्त्री**त्वभक्तत्वाविशेषेऽपि एता एव धन्या न तु वयम् । यद्यपि वयमुपरि तथापि भगवान् भूमौ समागत इति भूमिरेव स्वर्ग इति निरूपयन्त्यो दृष्टान्तमाहुः **तारा यथोडुपसहा** इति । 'देवगृहा वै नक्षत्राणि' इति श्रुत्या तासामिन्द्रियाणां देवद्भोगाधिक्यं सूचितम् । केन धर्मेणायमर्थः **प्राप्त**-इति तासां विमर्शनमाहुः **किमकार्यमूभिरिति** । ननु किमाश्चर्यं बह्वीनामेव तथाभावादित्याशङ्क्य तासां सर्वोत्तमफलभोगमाह **यच्चक्षुषामि**ति । यासां चक्षुषां भगवानेव स्वयमु**त्सवमातनो**ति । भगवानेव सर्वकर्तेति किमाश्चर्यमिति शङ्कां वारयितुं भगवति विशेषमाह **पुरुषमौलि**रिति । न हि पुरुषोत्तमः स्त्रिया चिन्त्यं उत्सवं संपादयति तथा सत्युत्तमत्वमेव स्यात् । तत्रापि **उदारो** यो हासः सर्वेषामनायासेन सर्वपुरुषार्थदाता, तत्सहितो यो **लीलावलोकः** पूर्णसर्वपुरुषार्थोपि भक्तिज्ञानसहितः, **उदारो** गुणः त्रयाणां च **हासलीलावलोकानां** तेषामपि

या कला नैपुण्यातिशयः तेन स्वसर्वस्वेनापि तासां नेत्राणामुत्सवं करोतीति तासां महती स्तुतिः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि इनका और हमारा स्त्रीत्व और भक्तत्व समान ही है तो भी ये ही धन्य हैं न कि हम धन्य हैं, यद्यपि हम ऊपर हैं तो भी भगवान् भूमि पर पधार रहे हैं, अब भूमि ही स्वर्ग है, इसका निरूपण करती हुई दृष्टांत देती है कि तारे जैसे चन्द्रमा के साथ शोभते हैं "देवगृहा वै नक्षत्राणि" इस श्रुति से उनकी, इन्द्रियों के भोग की देव की तरह अधिकता वर्णन की है, इन्होंने कौनसा धर्म किया है जो यह धन इनको प्राप्त हुआ है ? इसमें क्या आश्चर्य है कि बहुतों का ही वैसे भाव होने से यह फल मिला हो ? उनके सर्वोत्तम फल के भोग को कहते हैं कि "यच्चक्षुषां" जिनके नेत्रों को भगवान् स्वयं आनन्द दे रहे हैं, भगवान् ही सर्व कर्ता हैं इसमें क्या आश्चर्य है ? इस शंका को निवारण करने के लिए कहती हैं कि भगवान् में सबसे विशेषता है क्योंकि 'पुरुषमौलिः' पुरुषों में उत्तम हैं,पुरुषोतम स्त्री से उत्सव सम्पादन नहीं करते हैं यदि यों हो तो उत्तमत्व ही विचारणीय हो जावे, उसमें भी जो आपका उदार हास है वह सबको बिना परिश्रम के सर्व पुरुषार्थ देते वाला है, उस उदार हास के साथ जो लीला से अवलोकन है वह पूर्ण सर्व पुरुषार्थ भी भक्ति ज्ञान सहित है, उदार गुण के साथ, हास्य लीला और अवलोकन का जो अतिशय नैपुण्य है, उससे अपने सर्वस्व से भी उनके नेत्रों को आनन्दित कर रहे हैं, इससे उनकी यह बड़ी भारी स्तुति है, ॥३७॥

आभास—पुरवासिनां कृत्यमुक्त्वा अन्तःपुरवासिनामाह **अन्तःपुरजनैरिति** ।

आभासार्थ—नगर वासियों ने जो सत्कार आदि किया वह कह कर अब अन्तःपुर वासियों का कृत्य "अन्तपुर" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।**
ससंभ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—प्रेम से प्रफुल्लित नेत्र वाले अन्तःपुर के जन बड़े सम्भ्रम से सन्मुख जाकर भगवान् का सत्कार करने लगे, अनन्तर प्रभु राजमन्दिर में पधारे ॥३८॥

सुबोधिनी—अन्तःकरणेन्द्रियशरीराणि तेषां भगवत्पराणीति वक्तुं विशेषणत्रयम्। **प्रीत्या फुल्ललोचनैः ससंभ्रमैरिति संभ्रमो** देहधर्मः। एवं सर्वभावैः -प्रपन्नै **रभ्युपेतः** सन् **राजमन्दिरं प्राविशत्** ॥३८॥

व्याख्यार्थ—अन्तःपुरवासी जनों के अन्तःकरण, इन्द्रियां और शरीर तीनों ही भगवत्परायण थे, यों कहने के लिए तीन विशेषण दिये हैं १-प्रीत्या २-फुल्ललोचनैः और सम्भ्रमैः, सम्भ्रम पद से देह धर्म कहा है, इस प्रकार सर्वात्म भाव वाले शरणागती सामने आए जिनसे सत्कार पाते हुए उनके साथ राजमन्दिर में प्रभु प्रविष्ट हुए ॥३८॥

आभास—संमाननाया अविच्छेदं वक्तुं पृथादिकृतं संमानमाह **पृथा विलोक्येति** ।

आभासार्थ—सत्कार का विच्छेदन हो, इसलिए पृथा आदि ने किए सत्कार का "पृथा विलोक्य" श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—**पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।**
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥३९॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण त्रिलोकी के नाथ हैं तो भी अपने भतीजे हैं, अतः उनको देखकर पृथा (कुन्ती) प्रसन्न हुई, अपनी बहू के साथ, पलङ्ग से उठ(आ)कर उनसे मिली ॥३९॥

सुबोधिनी—भ्रातृपुत्रोपि **कृष्णस्त्रिभुवनेश्वरः** महान् संबन्धीति **प्रीतात्मा** सती **सस्नुषा पर्यङ्कादुत्थाय परिषस्वजे** महति लज्जाभये भवतः ते च परित्यज्य **परिष्वङ्गा**ज्ज्ञातिदेहधर्मनिवृतिः। **पर्यङ्कादुत्थायेति** सुखसाधनपरित्यागः। **सस्नुषेति** निरन्तरत्वम्। अन्तःकरणप्रीत्या दोषाभावपूर्वकं सर्वगुणा निरूपिताः। पर्यङ्कस्थितिः भगवत्कृपां सूचयति। भगवदर्थं गृहकार्ये स्थितताया विकलाया वा पर्यङ्के स्थितिः। एतावदेव तयोः कृत्यं प्रेम्णा विकलयोर्नाधिकम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—भ्राता का पुत्र श्रीकृष्ण त्रिभुवनेश्वर है, महान् सम्बन्धी है इसलिए प्रसन्न हुई पृथा (कुन्ती) बहू के साथ पलंग से उठकर आके उनसे मिली, यद्यपि बड़े से मिलने में लज्जा और भय होता है किन्तु उन दोनों का त्यागकर मिलने से जाति और देह के धर्म से अपनी निवृत्ति दिखाई पलंग से उठने से बताया है कि भगवान् से मिलने के लिए सुख के साधन छोड़ने चाहिए बहू को साथ लाने से यह सूचन किया कि सतत भगवान् से मिलना चाहिए, अर्थात् गृहस्थ छोड़ अकेले होने से ही भगवान् मिलते हैं यों नही है, केवल अन्तःकरण में उनके लिए प्रेम चाहिए,पृथा के अन्तःकरण की प्रीति से दोष रहित सर्वगुण निरूपण किए, पलंग पर बैठना, भगवत्कृपा का सूचन है, गृह के कार्य में स्थित अथवा विकलता से पलंग पर जो बैठता है वह भगवान् के लिए है, प्रेम से विकल उन दोनों "पृथा और बहू" का इतना ही कृत्य है इससे विशेष नहीं हैं ॥३९॥

आभास—ततो गृहागते भगवति राज्ञः कृत्यमाह **गोविन्दमिति** ।

आभासार्थ—गृह में पधारे हुए भगवान् में राजा का कृत्य 'गोविन्दं गृह' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।**
पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतेन्द्रियः ॥४०॥

श्लोकार्थ—देवों के देव गोविन्द को घर में पधरा कर आया, तब महाराज की सब इन्द्रियाँ आनन्द में मग्न हो गईं, जिससे प्रभु के लिए आदर होते हुए भी जान न सके कि उनकी पूजा कैसे करूँ ? ॥४०॥

सुबोधिनी—देवमात्रेऽपि गृहागते महती पूजा कर्तव्या भगवांस्तु **देवानामपि देवः** तस्मिन्नप्यागते स्वयमेव **गृहान्नानीय पूजायां** कर्तव्यायां आदरे विद्यमानेऽपि सति **कृत्यं** कर्तव्यं **नाविदत्**। भगवद्व्यतिरेकेण तस्यान्यत्र पूजासाधने दृष्ट्यभावात्। बलाच्चित्तप्रेरणे वैकल्यसंभवात् न पूजाज्ञानम्। **प्रमोदेन** च **उपहतानीन्द्रियाणि** सुखासक्तानि न क्रियायां प्रवर्तन्त इत्यर्थः ।४०।

व्याख्यार्थ—केवल देवता भी घर में आवे तो उसकी विशेष पूजा करनी चाहिए भगवान् तो देवों के भी देव हैं उनके आने पर भी महती पूजा करनी चाहिए किन्तु यहां तो स्वयं भगवान् को पधरा कर लाए हैं, अतः पूजा में आदर होते हुए भी किस प्रकार पूजादि कृत्य किया जाय यह समझ न सके, कारण कि उन (महाराज) की भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी पूजादि साधनों में दृष्टि अर्थात् ध्यान ही नहीं था, बलपूर्वक चित्त को खींचें तो विकलता होने का सम्भव होने से पूजा विधि का ज्ञान न रहे, भगवान् के पधारने से जो सुख मिला उस सुख में सब इन्द्रियां आसक्त हो गई थीं, सुख में आसक्त इन्द्रियां कार्य में प्रवृत्त हो नहीं सकती है ॥४०॥

आभास—एवं सर्वेषु प्रेम्णा विकलेषु सत्सु भगवत्कृत्यमाह **पितृष्वसुरिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार जब सब प्रेम से विकल हो गये तब भगवान् ने जो किया। उसका वर्णन "पितृष्वसुः" श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम्।**
स्वयं च कृष्णया राजन्भगिन्या चाभिवन्दितः ॥४१॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपनी भूवा और बड़ों की स्त्रियों को प्रणाम किया, है राजन् ! द्रौपदी और सुभद्रा ने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया ॥४१॥

सुबोधिनी—येन भगवच्चरित्रेण मोहकेन तेषां सावस्था दूरे भवति अन्यथाग्रिमकार्यं न स्यात् तच्चरित्रमाह। स्वापेक्षया ज्येष्ठानां **स्त्रीणां पितृष्वसुश्च** भगवान**भिवादनं चक्रे**। ततस्तानां देहधर्मयुक्तानां कृत्यमाह **स्वयं चेति**। **स्त्री**त्वैकगृहत्वैकगोत्रत्वादिभिः सर्वा एकभावमापन्ना इति वृद्धनमस्कारेऽप्यन्यासामपि देहधर्मसंबन्धः। **कृष्णा** द्रौपदी। **भगिनी** सुभद्रा **च**कारादन्या अपि ॥४१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के जिस मोहक चरित्र से उनकी वह विकल अवस्था मिट जावे, नहीं तो आगे का कार्य नहीं हो सकेगा वह चरित्र कहते हैं— अपनी अपेक्षा जो बड़े थे उनकी स्त्रियों को और भूआ को भगवान् ने अभिवादन किया, पश्चात् देह के धर्मवालियों के कृत्य को कहते हैं—स्त्रीपन, एक ही गृह और गोत्र आदि से सब एक भाववाली होने से वृद्धाओं के नमस्कार में भी अन्यों के देह धर्म का सम्बन्ध आ गया, अर्थात् सबसे यथोचित अभिवादन हुआ कृष्णा (द्रोपदी) और भगिनी (सुभद्रा) और "च" पद से अन्यों ने भी भगवान् को अभिवादन किया ॥४१॥

आभास—ततो भगवत्पत्नीनां पूजामाह **श्वश्र्वेति**।

आभासार्थ—भगवान् की पत्नियों की पूजा "श्वश्र्वा" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**श्वश्र्वा संचोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीस्तु सर्वशः।**
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥४२॥
कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैव्यां नाग्नजितीं सतीम्।

श्लोकार्थ—सास की प्रेरणा से द्रौपदी ने रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, शैव्या, नाग्नजिती आदि सब कृष्ण की स्त्रियों का यथाविधि पूजन किया ॥४२½॥

सुबोधिनी—पृथया संप्रेषिता **कृष्णा। सर्वशः** सर्वप्रकारेण, **कृष्णपत्नीरर्चयामास**। **तु**शब्देन न्यूनाधिकभावेन पूजा निवारिता। समुदायेन पूजां निवारयितुं प्रत्येकं नामान्याह **रुक्मिण्यादि**पदैः। **सत्या** सत्यभामा, **शैव्या** लक्ष्मणा, **नाग्नजित्येव सती** सत्या। एवमष्टमहिष्यो नाम्ना निरूपिताः ॥४२½॥

व्याख्यार्थ—पृथा ने द्रोपदी को पूजा के लिए, भेजा, उसने आकर सर्व प्रकार से कृष्ण की स्त्रियों का पूजन किया 'तु' शब्द का यह भाव है कि सबकी समान रूप से पूजा की न्यूनाधिक भाव न किया, वह पूजन प्रत्येक का पृथक् पृथक् किया न सबका इकट्ठा कर दिया, इसलिए प्रत्येक के नाम दिये हैं रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा, नाग्नजिती ही सती (सत्या) है, इस प्रकार अष्ट पटरानियों के नाम कहे जिनकी पूजा द्रौपदी ने सर्व प्रकार से की है ॥४४½॥

आभास—षोडशसहस्राण्यवशिष्टानि एकभावापन्नत्वात् समुदायेनाह **अन्याश्चे**ति।

आभासार्थ—शेष षोड़श सहस्र रह गईं, वे एक-भाव वाली हैं अतः उनका नाम न कहकर समुदाय से उनका पूजन हुआ वह "अन्याश्च" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःसङ्मण्डनादिभिः ॥४३॥**

श्लोकार्थ—अन्य स्त्रियाँ भी जो आई थीं, उनका वस्त्र, माला और आभूषणादि से पूजन किया ॥४३॥

सुबोधिनी—किं वहुना प्रद्युम्नादिपत्न्योपि याः काश्चन समागताः ताः सर्वा **एव वासःस्रङ्मण्डनादिभिः** आनर्चेतिसंबन्धः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—वहुत कहने से क्या ? भगवान् की षोड़श सहस्र पत्नियों के अतिरिक्त जो कोई प्रद्युम्न आदि की स्त्रियां भी आई थीं उनका सबका ही वस्त्र, माला और आभूषणादि से पूजन किया ॥४३॥

आभास—तात्कालिकं पूजाविशेषमुक्त्वा राज्ञः स्थिरं कृत्यमाह **सुखं निवासयामासेति** ।

आभासार्थ—उस समय की पूजा विशेष का वर्णन कर, राजा के स्थिर कृत्य को "सुखं निवासयामास" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।**
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—धर्मराज भी भगवान् को तथा उनकी सेना, अनुचर और रानियों को प्रतिदिन नवीन प्रकार से सुख पूर्वक निवास कराने लगा ॥४४॥

सुबोधिनी—वस्तुतस्तु **सुखरूपं** भगवन्तं स्थापयित्वा स्वयं सुखी जात इत्यर्थः । **जनार्दन**मविद्यानाशकम् । यथैव भगवतो मनःप्रीतिर्भवति तथा स्थापितवान् । न केवलं भगवतः किंतु सर्वेषामित्याह **ससैन्यमिति** । भगवतश्चत्वार्यङ्गानि **सैन्यं** सेवकाः **अमात्या भार्याश्चे**ति । तत्सहितं प्रत्यहं **नवं नवं** यथा भवति ॥४४॥

व्याख्यार्थ—सचमुच तो सुखरूप भगवान् को अपने पास स्थापित करने से राजा स्वयं सुखी हुआ, "जनार्दन" नाम से बताया कि भगवान् अविद्या का नाश करने वाले हैं, जिस प्रकार भगवान् का मन प्रसन्न हो उसी प्रकार भगवान् को स्थापित किया, केवल भगवान् को इस प्रकार स्थापित नहीं किया, किन्तु सबको अर्थात् भगवान् के चारों अंग सैन्य, सेवक, अमात्य और स्त्रियां, इनके साथ हर रोज जैसे-जैसे नवीनता देखने में आवे वैसे सुख पूर्वक सबको विराजमान किया ॥४४॥

आभास—एवं सर्वभावेन सेवायां क्रियमाणायां लौकिकधर्माभिनिविष्टे राजनि भगवता यत्कृत्यं तदाह **तर्पयित्वेति**द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्वभाव से सेवा करने पर लौकिक धर्मयुक्त राजा के लिए जो कृत्य भगवान् ने किया वह "तर्पयित्वा" से दो श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक—**तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ।**
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥४५॥

श्लोकार्थ—भगवान् अर्जुन को साथ लेकर, अग्नि को खाण्डव वन का भोजन देकर उसको प्रसन्न किया और मय को छुड़ाया, जिससे राजा के लिए अलौकिक सभा बनाई ॥४५॥

सुबोधिनी—देवेष्वग्निः प्रधानभूत इति **खाण्डवेन** तमादौ तर्पयामास । दैत्याधिपतिं **मयं** च मोचयामास । एवं देवासुररूपाणीन्द्रियाणि स्वाधिदैविकतर्पणेन तृप्तानि सन्ति युधिष्ठिरं सर्वथा लौकिकवैदिकभावेन तर्पयिष्यन्ति । दैत्यभागस्य शीघ्रफलत्वज्ञापनाय मयकृतोपकारमाह **येन** मयेन **राज्ञे दिव्या सभा कृते**ति । क्त्वाप्रत्ययान्तयोः उवासेत्यनेन संबन्धः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—देवों में अग्नि देव मुख्य देवता हैं, इसलिए भगवान् ने प्रथम उस देव को खाण्डव वन का भोजन दिया जिससे वह प्रसन्न हुआ और मय देव को बचाया, जिस मय ने राजा के वास्ते अलौकिक सभा बनाई इस प्रकार देव और असुर रूपी इन्द्रियां अपने आधिदैविक की प्रसन्नता से प्रसन्न हैं, अतः वे लौकिक वैदिक भाव से युधिष्ठिर को प्रसन्न करेंगी अर्थात् तृप्त करेंगे, दैत्य शीघ्र प्रसन्न होते हैं अतः वे शीघ्र फल दे देते हैं, जैसे मय असुर को छुड़ाकर प्रसन्न किया तो उसने शीघ्र ही सभा बनाकर फल देके कृतज्ञता प्रकट की है, 'क्त्वा' प्रत्यय के अन्त काले शब्दों का "उवास" पद से सम्बन्ध है ॥४५॥

आभास—न केवलं कृत्यैव तं सुखीचकार किंतु स्थित्यापीत्याह **उवासेति** ।

आभासार्थ—केवल अपने कृत्यों से उसको सुखी नहीं किया किन्तु वहां विराजमान होकर भी प्रसन्न किया यह "उवास" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**उवास कतिचिन्मासान्राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।**
विहरन्रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥४६॥

श्लोकार्थ—अर्जुन के साथ रथ में विराजकर, योद्धाओं को साथ में लेकर, विहार करते हुए भगवान् राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से कितने ही मास वहाँ इन्द्रप्रस्थ में विराजे ॥४६॥

सुबोधिनी—**कतिचिन्मासान्**इति कार्यान्तरमकृत्वा राज्ञः प्रियार्थं निरन्तरं राजसन्निधान **एवोवास** मासचतुष्टयमिति विमर्शः भगवतः शयनकाल एव तादृश इति । निर्बन्धेन स्थितिं वार-

यति **विहरन् रथमारुह्येति** । तत्रत्यान् स्वकीयांश्च प्रीणयन्निति वक्तुं **फाल्गुनेन भटैर्वृत** इत्युक्तम् । **फाल्गुनस्तत्रत्योपलक्षक:** । **भटा:** स्वकीयाः उभयैर्वृतः । वेष्टनेन निरन्तरं सर्वेषां सुखदानं निरूपितम् ॥४६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे द्वाविंशाध्याय: ॥२२॥

व्याख्यार्थ—कितने मास अर्थात् चार महिने अन्य कोई कार्य न कर राजा को प्रसन्न करने के लिए राजा के पास ही विराजने लगे, ये चार मास भगवान् के पोढने का समय हैं, क्या वहां आग्रह से बन्धन में रहे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं "विहरन् रथमारुह्य" रथ में बैठकर विहार भी करते रहे,न केवल राजा को ही प्रसन्न करते थे किन्तु वहां के निवासी तथा जो अन्य अपने थे उन सबको भी प्रसन्न करते थे जैसे कि "फाल्गुनेन भटैर्वृत" अर्जुन और योधाओं को भी साथ में लेकर विहार करते थे,फाल्गुन शब्द से वहां वाले सब कहे और भट शब्द से स्वकीय अर्थात् अपने कहे साथ में लेने से बताया है कि सबको निरन्तर सुख दान करते थे ।।५६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध २२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन
अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस तथा अगले अध्याय में वर्णित भगवल्लीलाओं का निम्न पद से मनन करने को विनम्र प्रार्थना है

राग मारू

चले हरि धर्म सुवन के देस ।
संतन हित भू भार उतारन, काटन बंदि नरेस ॥
जब प्रभु जाइ संख धुनि कीन्ही, होत नगर परवेस ।
सुनि नृप बंधु सहित उठि धाए, झारत पद रज केस ॥
आसन दै भोजन विधि पूछी, नारद सभा सुदेस ।
तच्छन भीम धनंजय माधौ, धरचौ विप्र कौ भेस ॥
पहुँचे जाइ राजगिरि द्वारै, घुरे निसान सुदेस ।
माँग्यौ जुद्धहिँ जरासिंधु पै, छत्री कुल आवेस ॥
जरासंध कौ जुद्ध अर्थ, बल रहत न छत्री लेस ।
सूरज प्रभु दिन सात बीस मैं, काटे सकल कलेस ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)
श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)
श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ७२वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ६९वाँ अध्याय
उत्तरार्ध २३वाँ अध्याय

सात्त्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—२"

पाण्डवों के राजसूय यज्ञ का आयोजन और जरासन्ध का उद्धार

कारिका—**निरोधः सात्त्विकानां हि सगुणानां निरूपितः ।**
धर्मप्रसङ्गे शुद्धानां तेषां दुःखं निवार्यते ॥१॥

कारिकार्थ–सगुण सात्विकों के निरोध का निरूपण किया,(अब)यज्ञ के प्रसङ्ग में उन शुद्ध हुए सात्विकों का दुःख निवारण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**त्रयोविंशे जरासंधवधः क्लेशहरो महान् ।**
निरूप्यते यतः सर्वसात्त्विकाः सुखिनोऽभवन् ॥२॥

कारिकार्थ—मूल से उत्तरार्ध के इस२३वें अध्याय में अर्थात् सात्विक साधन उपप्रकरण के दूसरे अध्याय में जरासन्ध का वध कहा जाएगा । जो वध महान् क्लेश को मिटाने वाला होगा, जिससे सब सात्विक सुखी होंगे ॥२॥

कारिका—**त्रिविधाः सात्त्विकाः प्रोक्ता राजानो यादवास्तथा ।**
पाण्डवाश्च ततस्तेषु द्वयोरिष्टो वधः स्फुटः ।।३।।

कारिकार्थ—सात्विक तीन प्रकार के हैं-(१) राजा,(२) यादव और (३) पाण्डव; इन तीनों में से दो को जरासन्ध का नाश इष्ट है, यह स्पष्ट समझ में आता है ।।३।।

कारिका—**पाण्डवानामिष्टतायै प्रसङ्गोप्यत्र रूप्यते ।**
भक्तानां कर्मिणां चेत्स्यादिष्टं मागधनाशनम् ।।४।।
तदैव नाशनं युक्तं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ।
ब्राह्मणस्याप्यालभनं यज्ञार्थं हि निरूप्यते ।।५।।

कारिकार्थ—पाण्डवों के इच्छित की पूर्ति के लिए यहाँ प्रसङ्ग का भी निरूपण किया जाता है, भक्त और कर्मठों को भी यदि जरासन्ध का वध इष्ट हो, तब ही तो दयावान् और ब्रह्मण्य का वध करना उचित है । वेद ने यज्ञ के लिए ब्राह्मण का भी नाश निरूपण किया है ।।४-५।।

कारिका—**ब्रह्मण्ये तत्र को मर्षः क्षत्रिये विमुखे हरेः ।।**

कारिकार्थ—हरि के विमुख ब्रह्मण्य क्षत्रिय के (फिर) मारने में कौनसा दोष है?

।। इति कारिकार्थ सम्पूर्ण ।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते स्वगृहे भगवन्तं सुखेन स्थापितवानित्युक्तम् । ततो यदर्थं स्थापनं तद्विज्ञापनार्थं प्रसङ्गमाह **एकदा त्विति** द्वाभ्याम् । साधारणासाधारणसंबन्धिसहभावभेदात् ।

आभासार्थ— पूर्व अध्याय के अन्त में कहा कि महाराजा युधिष्ठिर ने भगवान् को अपने गृह में सुख पूर्वक विराजमान किया, पश्चात् जिस कार्य के लिए घर में स्थापित किया, उसकी प्रार्थना करने के लिए प्रसङ्ग की 'एकदा' श्लोक से दो श्लोक में कहते हैं, दो श्लोकों में कहने का भावार्थ यह है, जो कार्य कहता है वह साधारण और असाधारण सम्बन्धि भाव से दो प्रकार का है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।**
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ।।१।।
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ।।२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि एक दिन महाराजा युधिष्ठिर मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, भ्राता, आचार्य, कुलवृद्ध, ज्ञाति-सम्बन्धी बान्धवों से वेष्टित हुआ बैठा था, फिर सभा के बीच खड़ा हो, वहाँ बैठे हुए सर्व सभासदों को सम्बोधन कर यों कहने लगा ।।१-२।।

सुबोधिनी—एकान्ते विज्ञापनमभिमाननिवर्तकं न भवतीति संभावनायां सर्वसंनिधानं निरूप्यते । **एकदा** शुभलग्ने, तुशब्दः कालान्तरसंनिधानं वारयति । **आस्थित** उत्थितः । धर्मार्थमेव विज्ञापनमिति ज्ञापयितुमादौ **मुनीनां** सहभावः । अन्ये साधारणा **ब्राह्मणाः** त्रयो वर्णाः क्रमेण निरूप्यन्ते । शूद्रस्तु यज्ञे अनवक्लृप्तः । **भ्रातरो** भीमादयः, **च**कारादुदुर्योधनादयश्च ।।१।।

आचार्या द्रोणादयः, **कुलवृद्धाः** भीष्मादयः, **ज्ञातयोन्ये** गोत्रजाः । **संबन्धिनो** विवाह्याः । **बान्धवा** दूरस्थाः सर्व एव । तद्द्वारा तत्स्त्रीणामभ्यनुज्ञा सिद्धेति न कस्यापि परोक्षता । सर्वे सावधानाः शृण्वन्त एव स्थिताः । **एव**कारेण **च**कारेणानुद्दिष्टानामपि । व्यासङ्गो निवार्यते । एवमभि**आभाष्य** हे कृष्ण स्वामिन्नित्युक्त्वा । एवमभिमानपरित्यागः आश्चर्ययेति हेत्युक्तम् ।।२।।

व्याख्यार्थ— युधिष्ठिर ने सभा के मध्य में सबके सामने यज्ञ करने की भगवान् को प्रार्थना की, इससे उसने अपना निरभिमानत्व प्रकट किया है, यदि अभिमान होता तो एकान्त में प्रार्थना करता, 'एकदा' पद् से वह प्रार्थना का समय शुभ लग्नवाला था, यह सूचन किया है 'तु' शब्द से अशुभ काल के सानिध्य का भी निषेध करते हैं, यह प्रार्थना धर्म कार्य के लिये थी । इसे बताने के लिए प्रथम मुनियों का साथ कहा है, दुसरे साधारण ब्राह्मण आदि तीन वर्ण क्रम से निरूपण किए गए हैं । शूद्र तो यज्ञ में अनधिकारी हैं 'भ्राता' पद से भीम आदि कहे हैं और च शब्द से दुर्योधनादि भी कहे हैं ।।१।।

'आचार्य' पद से द्रोण आदि कहे, कुल वृद्ध पद से भीष्म आदि कहे, 'ज्ञाति' पद से दूसरे जो गोत्र में उत्पन्न हुवे बान्धव हैं । 'बन्धिना' पद से वे कहे हैं जिनसे कन्या लेनदेन का सम्बन्ध है, 'बान्धव' पद से दूर के जो सम्बन्ध वाले हैं उनको कहा है, उनसे आज्ञा लेने से उनकी स्त्रियों की भी आज्ञा मिल गई यों समझना चाहिए, जिससे किसी की परोक्षता नहीं रही, सब सावधान हो सुनने लगे 'एव' पद कह कर बताया है कि दूसरी किसी प्रकार की आसक्ति नहीं थी, 'च' पद से जिनका प्रत्यक्ष नाम नहीं कहा हैं वे भी सावधान हो सुन रहे थे । आभाष्य का भावार्थ प्रकट करते हैं कि हे कृष्ण ! हे स्वामिन् ! यों कह कर अपनी सब दीनता दिखाई है, 'ह' पद से आश्चर्य प्रकट किया है ।।१।।

आभास—विज्ञापनामाह **क्रतुराजेनेति** ।

आभासार्थ— 'क्रतुराजेन' श्लोक से प्रार्थना कहता है।

श्लोक—युधिष्ठिर उवाच-**क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।**
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्संपादय नः प्रभो ।।३।।

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने कहा कि हे गोविन्द ! सब यज्ञों का राजा जो राजसूय यज्ञ है, उससे मैं आपकी पवित्र विभूतियों का पूजन करूँगा, अतः हे प्रभो ! इस कार्य को आप सिद्ध करो ।।३।।

सुबोधिनी—गोविन्देति संबोधनमिन्द्र एव यष्टव्य इति मर्यादास्थापनार्थम् । यथा राजा पुरुषाणां तथा राजसूयो यज्ञानामिति **क्रतुराजत्वम्** । यद्यपि नारदेन त्वां यक्ष्यतीत्युक्तं तथापि सर्वरूपस्य परिच्छेदः समायातीति भगवदंशानामेव विभूतिरूपाणां देवानां यागं निरूपयति **पावनीरित्याधि**-**पावनीस्तव विभूतीर्यक्ष्य** इति । **पावनीरित्याधि**दैविकीः दैत्यसंबन्धव्यावृत्त्यर्थं वा । **तत्तस्मात्** सामर्थ्यात् तद्वा यजनं **नोऽस्माकं संपादय** । सामर्थ्यार्थ संबोधनम् ।।३।।

व्याख्यार्थ— 'गोविन्द' नाम से यह सूचन किया है कि इन्द्र ही यज्ञ में पूजनीय है, आप इन्द्र हैं इसलिए अन्य का पूजन मैं नहीं करता हूं । यज्ञ में तो दूसरे देवों का भी पूजन करना पड़ेगा ? जिसके उत्तर में कहता है कि, यद्यपि नारद ने कहा है कि 'त्वां यक्ष्यति' आपका पूजन करेगा तो भी आपके पूजन कहने में आपके सर्वरूपों का पूजन कहा गया है । इसलिए आपके अंशरूप पवित्र विभूति रूपों का ही पूजन करूंगा, यों कह कर अन्य पूजन का निषेध कर दिया । अर्थात् 'पावनी' पवित्र शब्द से आधिदैविकी विभूतियों का पूजन कहकर दैत्य सम्बन्ध की निवृत्ति कही हैं, जैसे मनुष्यों का राजा सम्राट कहा जाता है वैसे ही यह राजसूय यज्ञों का राजा है इसलिए 'क्रतुयज्ञ' कहा है इस कारण से यह यज्ञ का मेरा कार्य आप सिद्ध करो, क्योंकि आप प्रभु होने से सर्व समर्थ हैं ।।३।।

आभास—ननु भगवद्भक्ता न किंचन वाञ्छन्ति 'पुंसां किलैकान्तधियाम्' इति शास्त्रानुसारेणापि भगवदीयानां कार्यसिद्धिः तत्कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्याह **त्वत्पादुके** इति ।

आभासार्थ— भगवद्भक्त तो कुछ मांगते ही नहीं है क्योंकि 'पुंसां किलैकान्तधियाम्' इस प्रमाणानुसार उनकी कार्य सिद्धि स्वतः हो जाती है तो फिर प्रार्थना क्यों ? जिसका उत्तर त्वत्पादुके श्लोक में देता है ।

श्लोक—**त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति**
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ।।४।।

श्लोकार्थ—हे पद्मनाभ ! हे ईश ! जो लोग पवित्र हो, दुःख नाश करने वाली आपकी पादुकाओं का निरन्तर देह से सेवन करते हैं, मन से ध्यान करते हैं, वाणी से गुणगान करते हैं व मोक्ष को प्राप्त करते हैं और यदि जिनको संसार के सुख की इच्छा होती है, उनकी वह इच्छा भी पूर्ण होती है, जो यों (सेवा ध्यानादि) नहीं करते हैं, उनको कुछ भी नहीं मिलता है ।।४।।

सुबोधिनी—यद्यपि कायवाङ्मनोभिस्त्वां प्रपन्नाः नैतादृशं वाञ्छन्ति, तथापि यदि वाञ्छन्ति तदा प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तः । तेषां सहजं फलं निरूपयति **ये त्वात्पादुके** भक्तिमार्गानुसारेण **परिचरन्ती**ति कायिको व्यापारो निरूपितः । **ध्यायन्ती**ति मानसः । चित्तमस्थिरं योगव्यतिरेकेण कथं ध्यानसिद्धिरित्याशङ्कां वारयितुं विशेषणमाह **अभद्रनशने** इति । पापवशादेव चाञ्चल्यम् । ध्यानार्थमुद्यतस्य प्रथमस्मरणेन पापनाशे उत्तरोत्तरस्मरणसिद्धिः, ततः **शुचयो गृणन्ति** तेन कायिकान्यव्यापारनिवृत्तिः सर्वपापक्षयः शुद्धिश्च तेषां प्रसङ्गादुक्ता । अतस्ते **भवस्य** संसारस्या**पवर्गं** समाप्तिं **विन्दन्ति** । ननु कर्मज्ञानाभावे कथं भगवद्भजनमात्रेण प्रमाणाभ्यनुज्ञाभावात् भवापवर्ग इत्याशङ्क्य संबोधनमाह **कमलनाभेति** । भुवनकोशात्मकं कमलं नाभौ यस्य, एतत् प्रवर्तित एव सर्वोऽपि संसार इति एतत्परिचर्यायां न प्रमाणाभ्यनुज्ञापेक्षेति भावः । **ते** यदि बहिर्मुखाः सन्तः बालपुत्रवदा**शिष आशासते** लौकिकीर्वैदिकीर्वा तदा त एव **विन्दन्ति** । अन्ये तु कर्मादिभिः क्लृप्तमेव प्राप्नुवन्ति नाक्लृप्तमिति भावः । 'एकान्तधियाम्' इत्यत्रान्तर्निष्ठा एव गृहीता इति न विरोधः । प्रथमप्रवृत्तस्यैव धनादिहरणमन्यथा सर्वसेव्यता न स्यात् ।।४।।

व्याख्यार्थ— यद्यपि जो, काया, वाणी और मन से आपकी शरण आते हैं वे वैसा कुछ भी नहीं मांगते हैं । यदि मांगते हैं तो पाते हैं यह सिद्धान्त है । उन शरणागतों को जो सहज फल मिलता है उसका निरूपण करते हैं । जो आपके पादुकाओं की भक्ति मार्ग के अनुसार सेवा करते हैं यों कहकर देह का व्यापार बताया, ध्यान करते हैं यह मन का व्यापार कहा, चित्त चञ्चल है । बिना योग के ध्यान की सिद्धि कैसे होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'अभद्रनशने' आपकी पादुकाएँ पापों का नाश करने वाली हैं अतः चित्त में जो चञ्चलता है वह पापों के कारण है यदि पाप नाश हो जायँगे तो चञ्चलता स्वतः नष्ट हो जाएगी, जिससे चित्त स्थिर हो जाने से ध्यान कर सकेगा । ध्यान करने के लिए जो उद्यत होता है उसके प्रथम स्मरण से पाप नाश हो जाने से उत्तरोत्तर स्मरण की सिद्धि होती है, यों वे पवित्र होकर देह, मन और बाणी से सर्व परिचर्या करते हैं जिससे कायिकादि से होने वाले अन्य कार्य छूट जाते हैं । उनके सर्व पापों का नाश और उनकी शुद्धि भी हो जाती है यह प्रसङ्ग से कह दिया है, अतः वे संसार की समाप्ति को प्राप्त करते हैं । अर्थात् उनका जन्म मरण का रोग नष्ट हो जाता है । कर्म और ज्ञान के अभाव में के केवल भगवद्भजन से प्रमाण न होने पर संसार से आवागमन निवृत्त कैसे होगा ? जिसके उत्तर में कहा कि आप कमलनाभ हैं, आपकी नाभि में भुवन कोश रूप कमल है, इसके प्रवृत्त होने से ही समग्र संसार प्रवृत्त होता है, इनकी सेवामें प्रमाण और आज्ञा की अपेक्षा नहीं है, यदि वहिर्मुख भी हो जावे किन्तु छोटे (अज्ञानी, मूर्ख) पुत्र की भाँति लौकिकी अथवा वैदिकी आशींवाद चाहते हैं तो वे भी प्राप्त कर सकते हैं, दूसरे तो कर्म आदि से स्वल्प ही पाते हैं न कि पूर्ण फल पा सकते हैं । 'एकान्तधियो' श्लोक से अन्तर्निष्ठा ही ग्रहण की गई है, इसलिए उससे भी विरोध नहीं पहले है ।

जो भक्तिमार्ग में प्रविष्ट होता है उसका ही भगवान् धन आदि हरण करते हैं, यदि सर्व का हरण करें तो सर्वदा सब सेवा नहीं कर सकें ॥४॥

आभास—ततो लोके ये स्वोत्कर्षं वाञ्छन्ति भक्ताः सन्तः भक्तिमार्गोत्कर्षार्थं वा तेषामानुगुण्यं भगवता कर्तव्यमित्याह **तद्देवदेवेति** ।

आभासार्थ— लोक में, जो भक्त होके भी अपना उत्कर्ष चाहते हैं अथवा भक्ति मार्ग के उत्कर्ष के लिये अपना उत्कर्ष चाहते हैं उनकी इस इच्छा को पूर्ण करना, भगवान् का कर्त्तव्य है यह 'तद्देवदेव' श्लोक में युधिष्ठिर कहता है ।

श्लोक—**तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-**
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥५॥

श्लोकार्थ—इसलिए हे देवों के देव ! आपके चरणारविन्द की सेवा का प्रभाव यह जगत् देखे, जो (पाण्डव) आपका भजन करते हैं और जो (कौरव) आपको नहीं भजते हैं, उन दोनों की निष्ठा का फल दिखलाईये ॥५॥

सुबोधिनी—तथापि कस्यचिद्वधं सर्वात्मा न करिष्यतीत्याशङ्क्य संबोधनं हे **देवदेवेति**। अनेन दैत्यवधोभिप्रेत इति सूचितम्। **तत्**तस्मात्कारणात्। अस्योत्कर्षस्य केवलबहिर्मुखविषयत्वादयुक्तकथनत्वमाशङ्क्य लोकप्रतीत्यर्थतामाह **भवतश्चरणारविन्दसेवानुभावमिह लोकः पश्यत्विति**। ननु राज्यवद्राजसूयसिद्धावपि कथमेतद्भक्तस्यैव नान्यस्येति ज्ञायते तत्राह **ये त्वां भजन्तीति**। ये पाण्डवादयस्**त्वां भजन्ति** ये वा शिशुपालदुर्योधनजरासंधादयः **त्वां न भजन्ति** तेषामु**भयेषां निष्ठां** फलपर्यवसानं त्वमेव **दर्शय**। मरणमानभङ्गवञ्चितत्वादयः विमुखेषु, कीर्तिधनधर्मादयः सेवकेष्विति। तान् सर्वान् सङ्क्षेपतो निर्दिशति **कुरुसृञ्जयानामिति**। सृञ्जयवंशः द्रुपदस्य, अतस्तत्पक्षपातेन पुष्टा इति कुरुख्यातिं परित्यज्य पाण्डवाः सृञ्जयाख्यातिमेव मन्यन्ते। तेन कौरवाः धार्तराष्ट्राः विमुखाः, सृञ्जयाः पाण्डवा भक्ता इति। अनेन स्वस्य मात्सर्याभिनिवेशः सूचितः ॥५॥

व्याख्यार्थ— भगवान् सर्व की आत्मा होने से वध नहीं करेंगे, ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिये श्लोक में भगवान् का संबोधन 'हे देवदेव' ! दिया है, अर्थात् आप देवों के अधिदेव हैं न कि दैत्यों के अधिदेव हो अतः आप दैत्यवध कर सकते है, युधिष्ठिर को यही अभिप्रेत था इसलिए ऐसा सम्बोधन दिया है। इसी कारण से, यह उत्कर्ष केवल बहिर्मुखों का विषय होने से, यह कथन उचित नहीं ऐसी शङ्का को मिटाने के लिये कहता है यों करना लोक प्रतीति के लिये है, अर्थात् लोग, आपके चरणारविन्दकी सेवा का प्रभाव देखें ।

राज्य की तरह राजसूय की सिद्धि भी होगी यह भक्त की ही हो, अन्य को नहीं यह कैसे जाना जाए ? इसके उत्तर में कहता है, जो पाण्डवादि आपका भजन करते हैं, और जो शिशुपाल दुर्योधनादि आपको नहीं भजते हैं, उन दोनों की निष्ठा अर्थात् अन्तिम क्या होगा ? यह आपही दिखाईये ? जो विमुख हैं अर्थात् प्रभु को नहीं भजते हैं उनको मरण, मानभङ्ग और ठगा जाना आदि फल प्राप्त होगा, और जो प्रभु के सेवक हैं उनको कीर्त्ति, धन और धर्मादि की 'प्राप्ति होगी' इन सबका संक्षेप में निर्देश करता है, सृञ्जय वंश द्रुपद का है अतः उसके पक्षपात से पुष्ट हुवे पाण्डव कुरुवंश से अपनी प्रसिद्धी को त्याग कर सृञ्जय वंश से अपनी प्रसिद्धी स्वीकार करते हैं इससे वे धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव प्रभु से विमुख हैं और सृञ्जय अर्थात् पाण्डव भक्त हैं, यो कहकर अपने में मत्सरता का अभिनिवेश है यह सूचित किया है ॥५॥

आभास—नन्वेतदल्पदेवानां परिच्छिन्नमतीनामेव कार्यं न ममेत्याशङ्क्य, सत्यं परं भक्तानुरोधेन कर्तव्यमिति प्रार्थयन्नाह **न ब्रह्मणः** इति ।

आभासार्थ— यदि भगवान् कहदें कि यह परिच्छिन्नमति वाले देवों का कार्य है, मेरा नहीं है, तो इसके उत्तर में कहता है कि आपका कहना सत्य है, किन्तु यह कार्य भक्तों के अनुरोध से करना चाहिये, यों 'न ब्रह्मण': श्लोक में प्रार्थना करता है—

श्लोक—**न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्**
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥६॥

श्लोकार्थ—आप परब्रह्म हैं, जिससे आप समान दृष्टिवाले, स्वसुख को अनुभव करने वाले हैं, अतः आपको यह अपना, यह पराया; ऐसी मति नहीं है, किन्तु जैसे कल्पवृक्ष, अपने सेवकों के इच्छित कार्य पूर्ण करता है, वैसे आप भी चरणाश्रितों के मनोरथ पूर्ण करते हैं, इससे आप में विषमता, दोष नहीं आता है, उनको जो फल मिलता है, वह सेवा के अनुरूप ही मिलता है, इसमें कभी अन्तर नहीं पड़ता है ॥६॥

सुबोधिनी—भगवान् स्वार्थं चेत्कुर्यात्तदैवं न कुर्यात्, अन्यार्थत्वे त्वन्येच्छानुसारेणैव कर्तव्यम्। अन्यथा भगवतः पुरुषार्थसाधकत्वं न स्यात्। प्रथमपक्षमङ्गीकृत्याह **तव ब्रह्मणः** सर्वसमस्य यद्यपि **स्वपरभेदमतिर्**नास्ति तथापि **तव स्यादेव** भक्तानुरोधादिति, न भवेदिति विध्यर्थता वा। स्वपरभेदमतिः त्रिविधानां भवति ये देहात्मभावेन परिच्छिन्नाः ततो भोगसिद्ध्यर्थं विषयेषु विषमदृष्टयः ततो विषयसुखभोक्तारः। भगवांस्तु नैवंविध इति विशेषणत्रयं, **सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेरिति**। अन्यार्थत्वे तु तत्त्वे एतादृशस्यापि विषमकार्यकर्तृत्वं सदृष्टान्तमाह **संसेवता-**

मिति । **सुरतरुः** स्वभावत एव तथा । तथा भगवानपि, भगवद्धर्माभिव्यक्तिरेव सर्वत्रेति स धर्मोऽस्मदर्थे प्रकटीकर्तव्य इति भावः । धर्मिणि तु दोषो न भविष्यति धर्मानुरोधे, अतः **सेवानुरूपमुदयोस्तु** । **अतोत्र** धर्मिसंबन्धाभावान्न **विपर्ययः** ।।६।।

व्याख्यार्थ— भगवान् यदि अपने लिये करे तो यों (वध आदि) न करें, यदि दूसरों के लिए करना पड़े तो दूसरों की इच्छा के अनुसार ही करना चाहिये, अर्थात् करना पड़ता है, यदि न किया जाय तो कहा जाएगा कि भगवान् में पुरुषार्थ सिद्ध करने का बल नहीं है। पहला पक्ष अङ्गीकार कर कहता है कि सर्व में समान दृष्टि वाले आप ब्रह्म को यह अपना है और यह पराया है ऐसी बुद्धि नहीं है तो भी भक्तों के अनुरोध से यों होना पड़ता है यों हो जाने में विधि नहीं है। अपना और पराया ऐसी भेद बुद्धि तीन प्रकार के पुरुषों की होती है १— जो देह को आत्मा समझ परिच्छन्न बुद्धि वाले होते हैं २— जो विषय सुखों को भोग करने वाले हैं, ५— जो भोग को सिद्ध करने के लिये विषयों में विषय बुद्धि वाले हैं, भगवान् तो वैसे नहीं हैं, इसलिये ही भगवान् के तीन विशेषण कहे हैं, १— सर्व की आत्मा २— सर्वमें समान दृष्टि वाले ३— अपने आनन्द का ही अनुभव करने वाले, ऐसे गुणोंवाले भी दूसरों के हित के लिये विषम कार्य करते हैं दृष्टान्त देकर समझाता है कल्पवृक्ष अपने सेवकों के मनोरथ कैसे भी हों तो पूर्ण कर देता है जिससे कल्पवृक्ष में विषमतादि दोष नहीं आता है क्योंकि कल्पवृक्ष का स्वभाव ही दूसरों का अभीष्ट पूर्ण करना है, वैसे ही आप भगवान् भी हैं, सर्वत्र भगवान् के धर्म का ही प्राकट्य होता है, वह धर्म हम लोगों के लिए भी प्रकट करना चाहिये धर्मानुरोध में धर्मी में कोई दोष न आएगा, अतः सेवा के अनुरूप ही उदय होना चाहिये, अतः यहाँ धर्मी के सम्बन्ध के अभाव होने से किसी प्रकार उलट फेर न होगा ।।६।।

आभास—भगवांस्तु तेन स्वान्तरो दोषो निरूपित इति संतुष्टः सन् चिकीर्षितस्य गुणरूपत्वं वदन्नभिनन्दति **सम्यग्व्यवसितं राजन्निति** ।

आभासार्थ— उसने अपना आन्तर दोष निरूपण किया, जिससे भगवान् प्रसन्न हुवे, अब युधिष्ठिर की जिस यज्ञ करने की इच्छा है, उसका गुणरूपपन् कहते हुए उसका अभिनन्दन 'सम्यग्' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवा–**सम्यग्व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्षण ।**
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ।।७।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे राजन् ! तुम्हारा यह उद्यम उत्तम है, हे शत्रुकर्षण ! यज्ञ करने से कल्याण रूप तुम्हारी कीर्ति का लोग अनुभव करेंगे ।।७।।

सुबोधिनी—प्रकारान्तरेण नेष्टं सिद्ध्यतीति। राजन्निति संबोधनात् राज्ञो बहिर्मुखता युक्तेति सूचितम् । तत्रापि स्वराज्यपरिपालनमात्रतायां तथा न भवेदिति विशेषणान्तरं **शत्रुकर्षणेति** ।

एवं कृते धर्मभगवत्प्रीत्यादेरभावात् यत्फलं तन्निर्दिशति **कल्याणी येन ते कीर्तिरिति** । वधजयादिनापि कीर्तिर्भवति परं सा न कल्याणी पुष्टा च भविष्यतीत्याह **लोकाननुभविष्यतीति** । 'यशःश्रियामेव परिश्रमः' इति पक्षो निरूपितः । ।।७।।

व्याख्यार्थ— दूसरी तरह अर्थात् यज्ञ किए बिना इष्टकी सिद्धि नहीं होगी, हे राजन् ! इस संबोधन से यह सूचन किया है कि राजा की बहिर्मुखता उचित है, उसमें भी केवल अपने राज्य का पालन करने से यों न हो सके, तो इसलिये दूसरा विशेषण देते हैं कि हे शत्रुकर्षण ! राजा शत्रुओं को भी नाश करते हैं, यों कहने का सारांश यह है कि राजा लोग राज्य के पालन के साथ शत्रुओं को भी नाश करते रहते हैं जिससे वे धर्म और भगवत्प्रीति आदि में रुचि नहीं कर सकती हैं । अतः वे बहिर्मुख रहते हैं, यद्यपि जय और शत्रुओं के नाश से भी कीर्ति हो सकती है किन्तु यह कल्याणकारी नहीं है, अतः अब तुमने जो धर्म (यज्ञ) कार्य उद्यम किया है, इससे तेरी कल्याणी और पुष्ट अर्थात् स्थिर कीर्ति का लोग अनुभव करेंगे, 'यशः श्रियमिव परिश्रमः' इस पक्ष का निरूपण किया है ।

आभास—अन्येनापि धर्मेण यशो भवति तथापि राजसूय एव कर्तव्य इति प्रारिप्सितं स्तौति **ऋषीणामिति** ।

आभासार्थ— अन्य धर्म से भी यश होता है तो भी राजसूय यज्ञ ही करना चाहिये, इसलिये जिसके करने की इच्छा कर उद्यम किया है उसकी 'ऋषीणां' श्लोक से भगवान् स्तुति करते हैं।

श्लोक—**ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभोः ।**
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ।।८।।

श्लोकार्थ—ऋषि, देव पितर, सुहृद, प्रभु तथा मनुष्य मात्र को यह यज्ञों का राजा सोमयाग इच्छित है अर्थात् चाहते हैं कि यह यज्ञ हो ।।८।।

सुबोधिनी—राज्ञस्तथा स्वाध्यायनिष्ठताभावात् राजसूयेनैव **ऋषयः** प्रीता भवन्ति । राजसूयकर्तु रेव **पितर** इन्द्रसभायां तिष्ठन्ति, अन्ये तु यमसभायाम् । तथा **देवानां** साद्यस्क्रप्रयोगाद् विलम्बाभावाद् विशेषतृप्तिः । **सुहृदामपि** स्वकीयोत्कर्षहेतुत्वात्, तत्रापि **नो**स्माकमेव न दुर्योधनादीनाम् । **प्रभोः** कालस्यापि भूभारहरणहेतुत्वात् । उद्धतहननात्**सर्वेषामेव भूतानां क्रतुराड्** राजसूय **ईप्सितः** । तत्राप्ययं त्वया क्रियमाणः उत्तमप्रकारत्वान्न तु वरुणादिकृतः ।।८।।

व्याख्यार्थ— ऋषिगण वेदादि स्वाध्याय करने वाले पर प्रसन्न होते हैं, राजा लोगों में उसका अभाव है अतः ऋषियों को प्रसन्न करने के लिये राजसूय यज्ञ करना चाहिये, राजसूय यज्ञ करने वाले नृपति के पितर इन्द्र सभा में बैठ सकते हैं । जो राजा राजसूय यज्ञ नहीं करते हैं, उनके पितर यम सभा में बैठते हैं, वैसे साद्यस्क्र प्रयोग से यज्ञ करने में विलम्ब न होने से देवताओं की विशेष तृप्ति होती है, उन सुहृदों में अपने उत्कर्ष का कारण होने से सुहृदों को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है,

भी अपने को आनन्द है, न कि दुर्योधन आदि को । 'प्रभोः' काल का प्राकट्य भी भूमि के भार के हरण के लिए हुआ है, उद्धतों के नाश होने से सर्व भूतों को यह क्रतुराज राजसूय का होना इच्छित है, उसमें भी यह राजसूय तुम जिस उत्तम प्रकार से कर रहे हो, वैसा वरुणादि ने नहीं किया ॥८॥

आभास—अतः प्रथममेव आरम्भमकृत्वा स्वाधिकारं संपादयेत्याह **विजित्येति** ।

आभासार्थ—अतः यज्ञ के आरम्भ करने से पहले यज्ञ के लिए अधिकार प्राप्त करो, बाद में यज्ञ प्रारम्भ करना । यह 'विजित्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे ।**
संभृत्य सर्वसंभारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥९॥

श्लोकार्थ—सब राजाओं को जीत, पृथ्वी को वश में कर, सब तैयारी[1] कर महायज्ञ को प्रारम्भ करो ॥९॥

सुबोधिनी—सर्वराजजयाभावे न राजसूयाधिकारः सार्वभौमस्यैवाधिकारात् । यं च लोका न मन्यन्ते तस्यापि नाधिकार इति अत आह **कृत्वा च जगतीं** सर्वामिव **वशे** । ततो यज्ञ**संभाराः** आदावेव साधनीयाः अन्यथा यज्ञः संभृतो न भवतीति तत्कालसंभरणेन समारम्भे न सर्वः समारब्धो भवेदिति । यथा जनने हस्तपादादयः यद्यपि तदा नोपयुज्यन्ते तथाप्यविकलेनैव भाव्यं तथा संभाराः । तदनन्तरम**आहरस्व** । नित्यमेव मूलस्थानात्स्वस्मिन्नाहरणं कर्तव्यमिति भावः । 'तमाहरत्तेनायजन्त' इति पृथङ्निर्देशात् । केचिदारम्भमाहरणमाहुः तन्न श्रौतं किंतु महातेजो वह्निस्वस्थानादाहरणमेव । महाप्रयत्नहेतुमाह महा**क्रतुम्** इति ॥९॥

व्याख्यार्थ—राजसूय यज्ञ करने का अधिकार उसको है जिसने भूमि के सब भूपतियों को जीता है, उनको जीते बिना राजसूय यज्ञ करने का अधिकार नहीं है, अतः प्रथम सब राजाओं को जीतकर तुम सार्वभौम बनकर अधिकारी बनो और सर्व लोगों को अपने वश में करो, यों किए बिना यज्ञ के अधिकारी नहीं होवोगे; ये दो कार्य पूर्ण कर पश्चात् यज्ञ की समस्त सामग्री इकट्ठी करो, जिसके बिना भी यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकेगा, यदि यज्ञ आरम्भ करने के बाद उस समय उपकरण मँगावोगे तो हो नहीं सकेगा, जैसे जन्म के समय ही हस्तपादादि इन्द्रियाँ काम में नहीं आती हैं तो भी वे पूर्ण रीति से गर्भ में ही तैयार हो जाती हैं, वैसे ही यज्ञ की सामग्री भी यज्ञ के कार्य में आवे, उससे पहले ही तैयार कर लेनी चाहिए, उसके बाद यज्ञ को आरम्भ करना चाहिए । जैसे नित्य ही प्रतिमा से भगवत्स्वरूप को अपने चित्त में पधराया जाता है, वैसे ही नित्य मूल स्थान हृदय से भगवद्रूप को अपने में पधराना चाहिए, जिसमें 'तमाहरत्तेनायजन्त' प्रमाण है, अतः इसका पृथक्

निर्देश किया है, कितने ही आरम्भ को आहरण कहते हैं, वह श्रौत नहीं है अर्थात् वेद सम्मत सिद्धान्त नहीं है, किन्तु महातेज वह्नि का अपने स्थान से लाना ही सिद्धान्त है । महान् प्रयत्न का कारण कहते हैं कि यह यज्ञ 'महाक्रतु' है ।९॥

आभास—तत्र दिग्विजये साधनं बोधयति **एते ते भ्रातर** इति ।

आभासार्थ—अधिकार प्राप्त करने के लिए जो दिग्विजय करनी है, उसके साधन 'एते ते भ्रातरः' श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—**एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसंभवाः ।**
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! ये तुम्हारे भ्राता लोकपालों के अँश से उत्पन्न हुए हैं, अतः ये सबको जीतेंगे । जिन्होंने अपने अन्तःकरण को वश नहीं किया है, वे मुझे जीत नहीं सकते अर्थात् वश नहीं कर सकते, तुमने तो आत्म संयम से मुझे वश कर लिया है ॥१०॥

सुबोधिनी—तव **एते** भीमादि**भ्रातरः लोकपालानां** वाय्वादीनामंशैः **संभवो** येषाम्, अनेन देवानां मनुष्यजयः सुगम इति दिग्विजयो निःसंदिग्धो निरूपितः । अनेनैव जगतीवशीकरणं च सिद्ध्यति । **राजन्नि**ति संबोधनं भ्रातृृणामपि सेवकत्वात्तज्जये स्वजय एवेति सूचयितुम् । यज्ञावेशस्तु मन्त्रादिना न भवति, भगवद्रूपत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च भगवतः । परमन्येनैवोपायेन यदि भगवान् वशे भवति सोपि तवास्तीत्याह **जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहमि**ति । हृषीकेशो हि भगवान् हृषीकाणामत्यन्तजये जितो भवति तद्रूपः अनेनासिधाराव्रतं कृतमित्यन्यत्र प्रसिद्धम् ।

'सर्वालङ्करणोपेता भार्यैकशयने यदा ।
शेते संवत्सरं पूर्णं स्वयं पुष्टस्तथाविधः ॥
मनसापि न तां वाञ्छेत् स्पृशन्नपि शिलामिव ।
असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महत्' ॥इति॥

इयमेव आत्मवत्ता मर्यादामार्गे । अनेनैव प्रकारेण भगवज्जयः । **अकृतात्मभि**रजितान्तःकरणैः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—तुम्हारे ये भीम आदि भाई वायु आदि लोकपालों के अँश से उत्पन्न हुए हैं, इससे देवों के लिए मनुष्यों को जीतना सरल हैं, यों कह कर यह सूचित किया है कि दिग्विजय में शङ्का ही नहीं है । इस विजय से ही लोगों का वशीकरण भी स्वतः सिद्ध हो जाएगा । 'हे राजन्!' संबोधन से यह बताया है कि छोटे भाई भी सेवक-समान हैं, अतः उनकी जय से अपनी ही जय है, यज्ञ का आवेश मन्त्र आदि से नहीं होता है; क्योंकि यज्ञ भगवद्रूप है और भगवान् स्वतन्त्र हैं, किन्तु अन्य उपाय से यदि भगवान् को वश में किया जाय तो हो सकता है । वह उपाय तुम्हारे पास है, जिससे तुमने मुझे जीत (वशकर) लिया है, वह उपाय है—इन्द्रियों को अपने वश में रखना, यदि यह कार्य जिसने किया, उसने मुझे जीत लिया; क्योंकि हृषीकेश ही भगवान् हैं अर्थात् इन्द्रियों को

---

[1] यज्ञ के लिए सब प्रकार की सामग्री इकट्ठी करके

जीतने वाला इन्द्रियों का स्वामी मैं हूँ, अतः जिसने इन्द्रियों को जीता, वह हृषीकेश होने से मुझे जीतने वाला हुआ। वह उपाय 'असिधाराव्रत' है, वह आपने किया है, यह अन्यत्र प्रसिद्ध है।

'सर्वालङ्करणोपेता भार्यैकशयने यदा। शेते संवत्सरं पूर्णं स्वयं पुष्टस्तथाविधः ॥
मनसापि न तां वाञ्छेत् स्पृशन्नपि शिलामिव। असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महत्' ॥इति॥

जो पुरुष यह असिधाराव्रत करता है, वह विष्णु को प्रसन्न कर वश में कर लेता है। इस व्रत की विधि वताते हैं कि एक ही शय्या पर सर्व प्रकार के शृङ्गारों से सुसज्जित युवती (स्त्री) और वैसा ही सुन्दर बलवान् पुरुष एक वर्ष साथ सोये हों, तो भी उस स्त्री को पत्थर की शिला समझ मन से भी उसकी चाहना न करे, इस प्रकार यह व्रत विष्णु भगवान् को वहुत प्रिय (प्रसन्न) करने वाला है। यह ही मर्यादा मार्ग में आत्मवत्ता है अर्थात् भगवान् को अपना करना है। इस प्रकार से ही भगवान् जीते जाते हैं, जिन्होंने अन्तःकरण को वश नहीं किया है, वे भगवान् को जीत नहीं सकते अर्थात् वश नहीं कर सकते हैं ॥१०॥

आभास—कदाचिज्जयारम्भे भ्रातुः कस्यचिदभिभवे किं कर्तव्यमित्याशङ्कायामाह **न कश्चिदिति**।

आभासार्थ—कदाचित् जय के लिए आरम्भ करते ही किसी भ्राता का अभिभव हो जाय तो क्या करना चाहिए ? इस शङ्का का उत्तर 'न कश्चित्' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया।**
विभूतिभिर्वाभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥११॥

श्लोकार्थ—मेरे परायण पुरुष का इस लोक में तेज से, यश से, श्री से अथवा अन्य सम्पत्तियों से देव भी पराभव नहीं कर सकते हैं तो राजा क्या कर सकते हैं? कुछ नहीं ॥११॥

सुबोधिनी—**अहमेव परो** नियन्ता स्वामी यस्य, तं कोप्यभिभवितुं न शक्तः। अभिभवत्रेधा भवति विषयातिक्रमेण शरीरातिक्रमेण यशोतिक्रमेण च! ततो विशेषणत्रयं **तेजसा यशसा श्रियेति**। तेजोभिभवे तं विभृयात् मानयेद्वा, यशोभिभवे अकीर्त्या मृत एव, श्रिया अभिभवे मानभङ्गः, साधारणानां त्रयम्। राज्ञां विशेषमाह **विभूतिभिर्वेति**। यथा आरण्यके घोषयात्रायामभिभवार्थमुद्यमः। त्रैलोक्यजयाकाङ्क्षायां त्रिलोकीमपि जीयात् तत्र देवस्यापि जयः प्राप्नोति। तादृशे **देवोपि** तं नाभिभवितुं शक्त इति वाक्यसंभवः। **पार्थिवो** राजा पृथिवीविकारः कथं शक्त इति मत्परत्वान्मज्जयव्यतिरेकेण न तज्जय इति ॥११॥

व्याख्यार्थ—मैं ही जिनका स्वामी चलाने वाला हूँ, उनका परिभव करने में कोई भी समर्थ नहीं है। 'परिभव' तीन प्रकार से होता है—विषयों, शरीर और यश के अतिक्रमण करने से, इस कारण से तीन विशेषण 'तेजसा, यशसा और श्रिया' दिए हैं, तेज के अभिभव हो जाने पर अपयश होता है जिससे वह मरा ही समझना चाहिये श्री के अभिभव हो जाने पर मान नष्ट हो जाता है, साधारणों के लिए ये तीन प्रकार हैं, राजाओं के लिए विशेष कहते है 'विभूतिभिर्वा' जैसे आरण्यक में घोष यात्रा प्रसङ्ग में अभिभव के लिए उद्यम है, त्रैलोक्य के जीतने की इच्छा से त्रिलोकी को भी जीत जावे, उस जीत में देव भी जीते जाते है वैसे अर्थात् जो मेरे हैं मेरे परायण हैं देव भी (जब) उनको जीतने में समर्थ नहीं है, (तो फिर) पार्थिव, जो पृथ्वी के विकार हैं वे कैसे समर्थ होंगे। जो मेरे परायण हैं वे ही मुझे वश कर सकते हैं अर्थात्, जीत जाते है, बिना मुझे जीतने के उनकी जीत नहीं है अर्थात् जो मेरे परायण हैं वे ही सर्वत्र जय पाते हैं उनका अभिभव कोई नहीं कर सकता है ॥११॥

आभास—भगवदाज्ञां प्राप्य तथा कृतवानित्याह **निशम्येति**।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की आज्ञा पाकर वैसे ही किया यह 'निशम्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**निशम्य भगवद्गीतं प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजः।**
भ्रातॄन्दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥१२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि भगवान् के वचन श्रवण कर युधिष्ठिर का मुख प्रेम से प्रफुल्लित हो गया, भगवान् ने तेज से बढ़े हुए अपने भ्राताओं को दिग्विजय करने के लिए भेजा ॥१२॥

सुबोधिनी—**गीतं** भगवता सर्वेषां श्रुतिप्रियकरं प्रोक्तम्। **प्रीत्या उत्फल्लं मुखाम्बुजं** यस्य। प्रीतिः संतोषः चिकीर्षितं सेत्स्यतीति। भगवत्स्पर्शाद्विष्णुतेजोपबृंहिता भ्रातरः। पालकं हि तत्तेजो दैत्यनाशकम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—'गीत' शब्द कहने का भावार्थ यह है कि जो भगवान् ने गाया अर्थात् कहा वह सबके कानों को प्रिय लगा, प्रिय होने से युधिष्ठिर का मुख कमल प्रफुल्लित हो गया, प्रीति शब्द का भावार्थ है कि उन वाक्यों के सुनने से संतोष हो गया, कारण कि यह निश्चय हुआ कि मैं जो चाहता हूं वह अवश्य पूर्ण होगा। भगवान् के स्पर्श से भ्राता विष्णु तेज से युक्त हो गए हैं। भगवान् का तेज 'पालक' है अतः दैत्यों का नाश करने वाला है ॥२॥

आभास—प्रत्येकं भगवता तेजःसमर्पितमिति ज्ञापयितुं विभागेन दिग्विजयार्थं प्रेषणमाह **सहदेवमिति**।

आभासार्थ—प्रत्येक को भगवान् ने तेज दिया, यह जताने के लिए दिग्विजय, करने को पृथक् पृथक् दिशा बताई वह 'सहदेव' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सह सृञ्जयैः ।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥१३॥

श्लोकार्थ—क्षत्रिय विशेषों के साथ सहदेव को दक्षिण दिशा में जय करने के लिए आज्ञा की, नकुल को पश्चिम में, अर्जुन को उत्तर में और भीम को पूर्व में भेजा, जिसके साथ में मत्स्य केकय और मद्र के पति (राजा) दिए ॥१३॥

सुबोधिनी—**दक्षिणस्यां दिशि** जयार्थं **सृञ्जयैः** क्षत्रियविशेषैः **सह, सहदेवमादिशत्** स्वदेशात् प्रौढप्रकारेण दिग्विजयः। तथा **नकुलं प्रतीच्याम्,** अनन्तमुत्तरापथमिति तत्र समर्थोर्जुनः। **प्राच्यां** जरासंधादयस्तिष्ठन्तीति, सेनाधिक्यं वलिष्ठस्य भीमस्य च प्रेषणम्। कनिष्ठक्रमेण विनियोगो धर्म्यः उत्तमानामेवावशेषात्। ॥१३॥

व्याख्यार्थ—दक्षिण दिशा में जीतने के लिए सहदेव को सृञ्जय अर्थात् क्षत्रिय विशेषों के साथ भेजा, स्वदेश से जाकर पूर्ण प्रकार से दिग् विजय कर आना ऐसी आज्ञा दी, इसी तरह नकुल को पश्चिम में, उत्तर दिशा में अर्जुन को भेजा क्योंकि वहां जीतने के लिये अर्जुन समर्थ थे, शेष पूर्व दिशा में जरासन्ध आदि बलवान रहते हैं अतः सेना अधिक देकर वहां बलिष्ठ भीमसेन को भेजा, यह भेजने का क्रम छोटे से रखा वह धर्मानुकूल था क्योंकि शेष जो पूर्व दिशा रही थी उसमें उत्तम जरासन्ध आदि रहते थे, इसलिए यह दिशा भीम के लिए रख छोड़ी थी, वहां जय कर सकने योग्य भीम था अतः उसको वहां भेजा ॥१३॥

आभास—तेषां कार्यसिद्धिमाह **ते निर्जित्येति ।**

आभासार्थ—'ते निर्जित्य' श्लोक में उनके कार्य की सिद्धि कहते हैं ।

श्लोक—**ते निर्जित्य नृपान् वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।**
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥१४॥

श्लोकार्थ—वे वीर राजाओं को जीतकर अपने बल से दिशाओं में से बहुत द्रव्य ले आए, वह द्रव्य यज्ञ के लिए अजातशत्रु अपने भ्राता युधिष्ठिर को दिया ॥१४॥

सुबोधिनी—**ओजसा** स्वपौरुषेण, न तु धर्मार्थं स्नेहेन वा तैर्दत्तम्। नन्वेवं सर्वद्रोहकर्तुः कथं यागाधिकार इत्याशङ्कायामाह **अजातशत्रव** इति। आज्ञयैव तथा कृतवान् न तु तस्य हृदये कश्चिच्छत्रुरस्ति। भ्रातॄणां वा वैषम्याभावाय, कृषीवलादिव राजभ्यो द्रव्यसमानयनं स्वद्रव्येणैव याग इति। **यक्ष्यते अजातशत्रव** इति तादर्थ्यमुक्तम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—'ओजसा' पद का भावार्थ बताते हैं कि, अपने पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ से द्रव्य ले आए हैं, न कि उन राजाओं ने स्नेह से वा दान कर दिया है। शङ्का करते हैं, कि इस प्रकार सबका द्रोह करने वाला यज्ञ का अधिकारी कैसे हो सकेगा ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'अजातशत्रवे' जो इस द्रव्य से यज्ञ करने वाला है उसके हृदय में किसी के लिए भी शत्रुभाव नहीं है, भगवदाज्ञा से ही यों किया है। मानलो, कि युधिष्ठिर में शत्रुभाव नहीं है, किन्तु भ्राताओं में तो वैषम्य है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि उनमें भी विषमता नहीं है जैसे खेती हर पृथ्वी से अन्न उत्पन्न कर लाता है वैसे ही राजा, राजाओं को जीतकर द्रव्य ला सकता है जिसमें कोई दोष वा विषमता नहीं है, वह द्रव्य अपना ही है अतः अपने द्रव्य से यज्ञ होगा, भ्राताओं ने भी, लाया हुआ धन यज्ञ करने वाले अजातशत्रु को दे दिया। इससे यह सूचित किया कि वह द्रव्य अपने भोगादि के काम के लिए नहीं लाये थे। किन्तु भगवान् की सेवा के लिये लाए थे ॥१४॥

श्लोक—**श्रुत्वाऽजितं जरासंधं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।**
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥१५॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने दिग्विजय में जरासन्ध के सिवाय सब राजाओं की पराजय सुनी, जिससे उसको चिन्ता होने लगी, राजा को चिन्तित देख भगवान् ने जो उपाय उद्धव को बताया था, वह आज सुना दिया ॥१५॥

सुबोधिनी—तत्र ब्रह्मण्यं विष्णुतेजो नाभिभवतीति **जरासंधो न जितः**। तस्याप्यजये यागो न भवेदिति **नृपतेर्ध्यानं** चिन्तारूपम्। पूर्वमेव भगवान् विनियुक्त इति तस्याप्यशक्यभावनया चिन्ता। तथापि तस्यापि दुःखनिवारको हरिः स्वस्मिन् तस्य लौकिको भावो जात इति उपायमेवाह तत्रापि **उद्धवो यमुपायमाह**। अन्यथा भगवान् कृत्रिमं वेषं न संपादयेत् ॥१५॥

व्याख्यार्थ— जो ब्रह्मण्य है उसको विष्णु तेज भी नहीं दबा सकता है इसलिए जरासन्ध नहीं जीता गया, जब तक वह जीता नहीं जाएगा तब तक यज्ञ न हो सकेगा, इस प्रकार का राजा का ध्यान ही चिन्ता रूप था, भगवान् को पहिले ही विनियुक्त किया तो भी उससे भी कुछ न हो सका इससे राजा को चिन्ता होने लगी उस चिन्ता का हरण करने वाला भी हरि ही है, भगवान् ने देखा कि इसका मुझमें लौकिक भाव उत्पन्न हुवा है इसलिए भगवान् राजा को वह उपाय बता देते हैं जो उद्धवजी ने पहले ही बता दिया था, यदि ऐसा विचार राजा को न होवे तो भगवान् कृत्रिम बेष धारण न करें अर्थात् कृत्रिम वेष धारण के कारण ही राजा की बुद्धि डावांडोल होने लगी ॥१५॥

श्लोक—**भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः ।**
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥१६॥

श्लोकार्थ—भीमसेन, अर्जुम और कृष्ण; ये तीनों ब्राह्मण वेष धारण कर गिरिव्रज गए; क्योंकि जरासन्ध वहाँ था ॥१६॥

सुबोधिनी—अर्जुनस्य तदंशत्वात् नरनारायणयोर्धर्मावतारात् पूर्णत्वायार्जुनस्य गमनम्। अद्येदानीं भगवतोपि तथा वचनमाश्चर्यम्। भगवान् सर्वरूप इति **ब्रह्मलिङ्गधरत्वं** न दोषः, तथार्जुनोऽपि, पूर्वजन्मनि तथाभावात्। अत एव वासनया सन्यासिवेषः पूर्वमपि कृतः। अत एवोद्धवो भीमस्यैव वेषमाह। अनुवादे त्रयाणां वेषः क्रमेण निरूप्यते। वेषान्तरे समानशीलत्वं नोपपद्यत इति। अतो नूतनत्वाद्**भीमसेन**पुरःसुराः **गिरिव्रजं जग्मुः**। इदानीं राजगृहमिति प्रसिद्धम्। **यतो** यस्मात्कारणात् तत्र **बृहद्रथसुतो** जरासंधः। **यत** इति सप्तम्यर्थे वा ॥१६॥

व्याख्यार्थ—नर और नारायण धर्म के अवतार हैं अर्जुन भी उनके अंश है अतः पूर्णत्व के कारण अर्जुन का गमन कहा है, आज अब भगवान् का भी वैसा वचन कहना आश्चर्य कारक है, भगवान् तो सर्वरूप हैं इस ब्राह्मण वेष धारण करने में उनको कोई दोष नहीं है वैसे ही अर्जुन को भी दोष नहीं है क्योंकि पूर्व जन्म में वैसा भाव था इस कारण ही वासना से पहले भी सन्यासी वेश धारण किया था, इसलिए ही उद्धवजो भीम का ही वेष कहते हैं, अनुवाद में तीनों के वेष क्रम से निरूपण किए जाते हैं, पृथक अन्य वेष हो तो समान शीलपन उत्पन्न न हो सके अतः नूतनपन से भीमसेन को आगे कर गिरिव्रज गए, अब वह राजगृह से प्रसिद्ध है क्योंकि वहां बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध रहता है अथवा 'यतः' यह सप्तमी के अर्थ में लिया जा सकता है तब इस 'यतः' का अर्थ 'क्यों' न कर जिसमें बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध रहता है ॥१६॥

आभास—गतानां कृत्यमाह **तं गत्वेति**।

आभासार्थः—'तं गत्वा' श्लोक में गए हुओं का कार्य कहते हैं—

श्लोक—**तं गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम्।**
ब्रह्मण्यं समयाचेरन्राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ॥१७॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण भक्त, गृहस्थ धर्म पालने वाले जरासन्ध के पास उस समय गए, जिस समय वह अतिथियों की कामनानुसार उनको देते हैं; ब्राह्मण वेषधारी राजाओं ने जाकर याचना की ॥१७॥

सुबोधिनी—**अतिथिवेला** वैश्वदेवः अप्रत्याख्येयातिथिः। महाराजत्वात् कथमन्तःप्रवेश इत्याशङ्कायामाह **गृहमेधिनमिति**। सर्वथा गृहस्थन्यायेन स्थितम्। तत्र हेतुः **ब्रह्मण्यमिति**। अन्यथा ब्राह्मणाः पराङ्मुखाः गच्छेयुः। एतेऽपि **ब्रह्मलिङ्गिनः** प्रविष्टाः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वैश्वदेव करने के समय अतिथियों का सन्मान करने में आता है अतः वह अतिथि वेला कही जाती है, जरासन्ध महाराजा है तो उसके पास विना आज्ञा के कैसे प्रवेश किया ? जिसके उत्तर में कहा है कि जैसे अन्य गृहस्थ धर्म में रहते हैं, वैसे यह भी सर्वथा गृहस्थी की तरह रहता है विशेष में ब्राह्मणों का सन्मान करने वाला अर्थात् ब्राह्मण भक्त है अतः प्रवेश में रुकावट नहीं थी, जो गृहस्थ न्याय से नहीं रहता और ब्राह्मण भक्त न होता, तो ब्राह्मण इसके गृह से लौट जाते, यह भी ब्राह्मण वेष धारी थे इसलिए राजगृह में प्रविष्ट हुए ॥१७॥

आभास—नटवद्याचनमपि कृतवन्तः सर्वथा अनृतत्वाभावाय **राजन्निति**।

आभासार्थ— सर्व प्रकार असत्यता के अभावार्थ नर की तरह याचना भी करने लगे, यह 'राजन्' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**राजन् विद्ध्यतिथीन्प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान्।**
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हम अतिथि याचना करने के लिए दूर से आए हैं यों आप जानो, इसलिए हम जो कुछ आप से मांगें वह हमको दीजिए जिससे आपका कल्याण होगा ॥१८॥

सुबोधिनी—**अतिथि**शब्दो ग्रामब्राह्मणव्युदासार्थः। **दूरमागतानिति** बहुदानाय दयार्थं च। अस्मद्दाने कीर्तिरपि भविष्यतीति सूचितम्। अतः साधारण्येन वचनमाहुः **तन्नः प्रयच्छेति**। ब्राह्मणत्वज्ञापनाय मध्ये आशीः। मिथ्यावेश इति ब्राह्मणवाक्यस्याप्यफलत्वम्। वस्तुतस्तु मोक्षपर्यवसानाद्भद्रमेव। अथवा **ते भद्रं** प्राणादिरूपं **कामयामहे तत प्रयच्छे**त्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ— अतिथि शब्द कहने का भावार्थ यह है कि हम गांव के भिक्षुक ब्राह्मण नहीं हैं, जिसके कहने का आशय यह है हमको आपसे बहुत बड़ा दान लेना है और दया भी करो क्योंकि दूर से आए हैं दूर से आने में हमने कितना कष्ट पाया होगा अतः दयाकर हम जो मांगें वह दीजिए निराश न कीजिए, हमको जो मांगा हुआ दान दोगे तो आपका यश भी होगा, यह सूचित किया, हम ब्राह्मण हैं यह बताने के लिए मध्य में आशीर्वाद भी दी है, वास्तव में तो यह ब्राह्मण वेष मिथ्या था इसलिए यशरूप आशीर्वचन निष्फल होगा वास्तव में तो 'भद्र' कल्याण ही प्राप्त करोगे अर्थात् मोक्ष पाओगे, अथवा 'तेभद्र'' तेरा भद्र जो प्राण आदि है उसकी कामना करते हैं, वह दीजिये ॥१८॥

आभास—ननु दानं धर्मत्वात्सुखार्थं भवति तद्यस्मिन् दत्ते महद्दुःखं भवेद्वृत्तिर्वा विपद्येत न तद्देयमिति कथं सामान्येन प्रार्थनायां दानप्रतिज्ञासंभव इत्याशङ्क्याह **किं दुर्मर्षं तितिक्षूणामिति**।

आभासार्थ— दान देना धर्म है वह सुखार्थ ही होता है जिसके देने से यदि दुःख प्राप्त वा वृत्ति नष्ट हो वह दान नहीं देना चाहिए इसलिए सामान्य रीति से प्रार्थना करने पर दान की प्रति का सम्भव कैसे ? इस प्रकार की शङ्का का उत्तर 'किं दुर्मर्ष श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः।**
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—सहनशील सब कुछ दुःख सह लेते हैं, नीच पुरुष क्या नहीं करते हैं ?

अर्थात् कैसा भी नीच कर्म हो तो वह उसके करने में हिचकते नहीं। उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते हैं ? अर्थात् सब कुछ देने में समर्थ हैं, जिनकी समान दृष्टि है उनके लिए पराया कौन है, अर्थात् कोई पराया नहीं सब अपने हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—ये **तितिक्षवः** सर्वातिक्रमसहनशीलाः, अन्यथा ब्रह्मण्यता न स्यात्। तथा चेत् **किं दुर्मर्षम्**, महद्दुःखमपि सोढव्यमित्यर्थः। नाप्येवं मन्तव्यमेते महद्दुःखं न दास्यन्तीत्यभिप्रायेणाहुः **किमकार्यमसाधुभिरिति**। **असाधुभि**र्वेषान्तरस्थैः साधवः सहजवेषा भवन्ति। अश्वसा सहितश्च धूत्र् कम्पन इति धूर्वायुश्च त एते त्रयः। अथवा। किमित्येवमस्मभ्यं दुःखं दीयत इति आशङ्कायामाहुः **किमकार्यमिति**। दुष्टैर्भवद्भिर्जीवद्भिः किमकर्तव्यम्। यज्ञविघातमपि करिष्यन्तीति मारणमुचितमिति भावः। ननु दानं शास्त्रसिद्धं तद्येषामेव विधिर्भवति तान्येव दातुं शक्यन्ते न तु निषिद्धानि। 'आत्मा च धर्मदासश्च धर्मपत्नी तथैव च। सर्वस्वं च प्रपन्नश्च न देयानि विदुर्बुधाः' इति विशेषनिषेधात्तत्राहुः **किं न देयं वदान्यानामिति**। **वदान्या** दध्यङ्शिविप्रभृतयः। अयं साधारणानामेव विषयः न तु वदान्यविषयः ते ह्यात्मानमेव प्रयच्छन्ति कः संदेहोऽन्येषु, अनेन तस्य स्तुतिरपि कृता। तथापि शत्रुभ्यो न देयम्, अन्यथा नीतिशास्त्रं विरुध्येत। हीनाः शत्रवो मरणं प्रार्थयेयुरिति तत्राऽऽहुः **कः परः समदर्शिनामिति**। **समदर्शिनां** सर्वत्र ब्रह्मदृष्टीनां कः परः शत्रुः सर्वस्यैवात्मत्वात् ॥१६॥

—**व्याख्यार्थ**—जो सर्व प्रकारों के अतिक्रमों को सहन कर सकते हैं वे ही ब्रह्मण्य होते हैं। जिनमें पूर्ण सहन शीलता नहीं है वे ब्राह्मणों का सन्मान पूजादि नहीं कर सकते हैं, जिससे वे ब्रह्मण्य नहीं कहे जाते, जब वे सहन शील हैं तो वे महान् दुःखों को भी सहन करने में समर्थ होते हैं, यों भी नहीं समझना चाहिए कि, वे विशेष दुःख नहीं देंगे, क्या कारण है जो हमें दुःख देंगे, इस अभिशाप को प्रकट करने के लिए कहते हैं 'असाधुभिः किम कार्यं' जो वास्तविक साधु नहीं हैं, किन्तु साधुओं का (ब्राह्मणों का) वेष धारण किया है वे ढोंगी हैं, अतः कोई सा भी नीच कार्य करने में वे नहीं हिचकते हैं, अथवा तुम्हारे जैसे दुष्ट यदि जीवित होंगे तो अच्छे यज्ञादि कार्यों को भी नाश करेंगे इसलिए ऐसे को हम मारें यह ही हमारे लिए उचित है। शास्त्र सिद्ध दान, उनको देना चाहिए जिनके लिये देने की शास्त्रों में आज्ञा है, और जिस दान के देने का निषेध है वह नहीं देना चाहिए, जैसा कि कहा जाता है, कि 'आत्मा च धर्मदासश्च धर्मपत्नि तथेव च सर्वस्वं प्रपन्नश्च न देयानि विदुर्बुधाः।' "शरीर, धर्म से जो दास बना है, धर्मपत्नी, सर्वस्व और जो शरण में आया हो ये वस्तु दान में नहीं देनी चाहिये" इस प्रकार का निषेध विशेष निषेध है, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'किं न देयं' वदान्यानां'। उदार हृदय शिवि, दधीचि आदि जैसों ने जैसे शरीर आदि सर्वदान में दे दिया है, वैसे उदार चित्त वाले सब कुछ दान में देते हैं, ऊपर दिया हुआ प्रमाण साधारणों के लिए है, यों कहकर उसकी स्तुति भी की है, फिर कहते हैं कि यों है किन्तु शत्रुओं को दान नहीं देना चाहिए यदि शत्रु को दिया जाएगा तो नीति शास्त्र का विरोध होगा, जो हीन और शत्रु है वह तो मारने का दान मांगेगा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'कः परः समदर्शिनाम्' जिनकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि है उनका पराया कोई नहीं है सब समान हैं क्योंकि सर्व आत्मा होने से अपने ही हैं ॥१६॥

आभास—तथापि देहाध्यासो दृढ इति देहव्यतिरिक्तं सर्वमेव दास्यामीत्याशङ्कायामाहुः **योऽनित्येन शरीरेणेति**।

आभासार्थ—यों है, तो भी देहाध्यास दृढ है, इसलिए देह के सिवाय सब ही दूंगा, यदि यों कहे तो उसका उत्तर 'योऽनित्येन' श्लोक से देते हैं।

श्लोक—**योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम्।**
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ॥२०॥

श्लोकार्थ—जो पुरुष समर्थ होते हुए भी इस अनित्य शरीर से, जिसकी कीर्ति सत्पुरुष गाते हैं ऐसे नित्य स्थिर रहने वाले यशः शरीर को प्राप्त नहीं करता है उसकी इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में भी हीन योनि पाने से शोक करने योग्य होता है ॥२०॥

सुबोधिनी—अदाने अयशः नित्यम्, शरीरमनित्यं दाने तु यशो नित्यं, शरीरमपि नित्यमेव। यशसा नित्यं दिव्यं शरीरमिति, अयशसा नारकिशरीरम्। एवं तारतम्यं ज्ञात्वा **यः अनित्येन शरीरेण सतां गेयं** वैकुण्ठादिशरीरजनकं **यशः ध्रुवं** निश्चलं च यशो **नाचिनोति** सर्वतोपगच्छन्न **संचिनोति** यथा वस्त्राभासेन हीरकाबन्धनं वस्त्रनाशो भविष्यतीति शङ्कया **स्वयं** समर्थो भूत्वा **शोच्यश्च स वाच्यः** अस्मिन् लोके निन्द्यो भवति परलोके हीनशरीरप्राप्त्या। एवकारेणोत्तमशरीरशङ्कां वारयति। यतः **सोधुना** यशःसंचयमकुर्वन् कथमन्यथा करिष्यति। न हि कदाचिदपि सोऽन्यथा भवति ॥२०॥

व्याख्यार्थ— दान न देने से, सदैव अपयश होता है यह शरीर तो अनित्य है दान करने से यश प्राप्त होता है वह नित्य रहता है और दान करने से जो यश मिलता है उससे नित्य दिव्य शरीर प्राप्त होता है अपयश से नारकीय शरीर की प्राप्ति होती है, इस प्रकार दोनों में तारतम्य जान कर जो इस अनित्य शरीर से सत्पुरुष जिसका गान करते हैं वैसा वैकुण्ठादि के शरीर को उत्पन्न करने वाला यश ध्रुव और निश्चता है। जैसे कोई पुरुष वस्त्र के कोने में हीरे को इस डर से नहीं बान्धता है कि वस्त्र फट जाएगा, वैसे ही जो पुरुष समर्थ होते हुए भी शरीर चला जाएगा, इस डर से ध्रुव यश का संचय नहीं करता है तो वह इस लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक में हीन योनि पाकर पश्चात्ताप करता है 'लोक में 'एवं' पद से यह सिद्ध किया है कि ऐसे पुरुष को उत्तम शरीर नहीं मिलेगा, जिससे उसके मन की शङ्का को मिटा दिया है, क्योंकि वह अब समय होते हुए भी यश का सञ्चय नहीं कर सकता है तो फिर कैसे करेगा ? वह कभी भी अन्य प्रकार का नहीं होता है ॥२०॥

आभास—ननु तथापि यत्कैश्चिदपि न दत्तं तत्कथं देयमिति शङ्कायामाहुः **हरिश्चन्द्र इति**।

आभासार्थ— तो भी जो किसी ने भी नहीं दिया है वह कैसे देना चाहिये ? इस शङ्का का उत्तर 'हरिश्चन्द्रो' श्लोक में देते है।

श्लोक—**हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।**
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥२१॥

श्लोकार्थ—हरिश्चन्द्र रन्तिदेव, उञ्छवृति, शिवि, बलि, व्याध और कपोत ऐसे बहुत अध्रुव (अनित्य) इस शरीर से ध्रुव को प्राप्त हुए हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—स हि सर्वस्वमपि दत्त्वा चण्डालत्वमङ्गीकृतवान् । **रन्तिदेवः** पिपासया म्रियमाणः पुक्कसायापि जलं दत्तवान्, तथोञ्छवृत्तिः क्षुधा म्रियमाणः सर्वमेवान्नं दत्तवान् । **शिबिश्च** स्वमांसं दत्तवान्, श्येनकपोतसंवादे । **बलिः** सर्वस्वं विष्णवे । **व्याधो** ब्राह्मणरक्षायां व्याघ्रेण भक्षितः । **कपोतः** चोररूपातिथिसंतर्पणार्थं तदग्नौ स्वयं पतितः सभार्यः । एवं **बहव** एवाध्रुवेण शरीरेण **ध्रुवं** फलं **गताः** ॥२१॥

व्याख्यार्थ— हरिश्चन्द्र ने सर्वस्व देकर भी, चाण्डालपन अङ्गीकार किया, रन्तिदेव स्वयं प्यास से मर रहा था तो भी डोम को अपने पीने का पानी दे दिया, इसी प्रकार उञ्छवृत्ति ने क्षुधा से मरते हुए भी सर्व अन्न दे दिया, शिवि ने अपना मांस कपात को बचाने के लिए दे दिया बलि ने अपना सर्वस्व विष्णु को दान में दिया, व्याध नें ब्राह्मण की रक्षा करते हुए अपना शरीर व्याघ्र को अपर्ण किया, स्त्री समेत कबुतर ने चोर रूप अतिथि को भोजन करान के लिए अपना शरीर अग्नि में डालकर नष्ट किया इस भांति बहुतों ने इस अध्रुव शरीर से ध्रुव फल को पाया है ॥२१॥

आभास—एवं दाने प्रोत्साहं प्राप्तः क एत एवं धर्मवक्तार इति तान् विचार्य निश्चित्य स्वमनस्याह **स्वरैराकृतिभिरिति ।**

आभासार्थ— इस प्रकार दान करने लिए प्रोत्साहन पाया तब विचार करने लगा कि इस प्रकार धर्म को कहने वाले ये कौन हैं ? उनको अच्छी तरह जांच कर निश्चित जान लेने के बाद जो मन में कहने लगा वह 'स्वरैराकृतिभिः 'श्लोक से' शुकदेवजी बताते है—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि ।**
राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी बोले कि स्वर, आकृति और धनुष की प्रपञ्चा के घातु चिन्ह वाले भुजाओं से उनको क्षत्रिय जाना और मनमें आया कि पहिले कदाचित् इनको कहीं देखा है ॥२२॥

सुबोधिनी--प्रथमेन विमर्शः ततश्चतुर्भिर्वाक्यानि ततो निश्चित्य प्रतिज्ञा । **स्वरा** मेघगम्भीराः क्षत्रियाणामेव भवन्ति । **आकृतयः** आजानुबाहूरूपाः अन्तर्बहिर्धर्मास्तु क्षत्रियत्वनियामका उक्ताः । तत्कर्मपरत्वनियामकानाह **प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपीति** । त्रिभिर्धर्मैर्व्यभिचारिभिः **राजन्यबन्धव** एत इति ज्ञातवान्, प्रायेण तैः सह युद्धमपि कृतमिति **दृष्टपूर्वत्वात्** क एते इत्य**चिन्तयत्** । कथं क्षत्रिया एवंवेषेण समागता इति ॥२२॥

व्याख्यार्थ— पहले से विचार किया, अनन्तर चारों से वाक्य, उनसे निश्चय फिर प्रतिज्ञा की, बादल जैसे गंभीर स्वर क्षत्रियों के ही होते हैं, आकृतियाँ, घुटनों तक लम्बी भुजाएँ ये भीतर और बाहर के धर्म क्षत्रियपन के ही नियामक कहे हैं। क्षत्रियों के कर्मपन के नियामक धर्म भी इनमें हैं जैसा कि इनकी कलाई धनुष के प्रत्यञ्चा के घात वाली है, इन अव्यभिचारों तीनों धर्मों से ये क्षत्रिय बान्धव हैं यों जरासन्ध ने समझ लिया, बहुत कर पूर्व में इनसे युद्ध भी किया है इसलिए ये आगे देखे हुए लगते हैं किन्तु वास्तव में ज्यों मुझे भासते हैं त्यों हैं वा अन्य हैं, यों विचार करने लगा, यदि क्षत्रिय हैं तो इस वेश से यहां क्यों आये हैं ? ॥२३॥

श्लोक—**राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।**
ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—ये कोई राजबन्धु देखने में आते हैं, किन्तु ब्राह्मण का वेश धारण किए हुए हैं, ब्राह्मण वेश के कारण माँगी हुई भिक्षा इनको दूँ, यदि ये न देने योग्य शरीर माँगे, तो वह भी दूँगा ॥२३॥

सुबोधिनी—स्वधर्मनिरतत्वाभावाद् **राजन्यबन्धुत्वं** मन्यते, बन्धुशब्दो वा अप्रौढक्षत्रिये । आत्मा अदेयः । क्षत्रियाश्चेत्स्वजात्यभिमानं परित्यज्य ब्राह्मणवेषेण मद्याचका जाताः तदा अहं क्षत्रियाणां मानरक्षार्थं दध्यङ्शिबिवद् **आत्मानं** शरीरमपि **ददामि** तद्वस्तुतो **दुस्त्यजम्** ॥२३॥

व्याख्यार्थ—क्षत्रिय न कहकर इनको क्षत्रिय बान्धव कहा है जिसका कारण यह है कि ये अपने क्षत्रिय धर्म में रत नहीं हैं अथवा बन्धु अप्रौढ क्षत्रिय के लिये दिया जाता है यद्यपि 'आत्मा' देने योग्य नहीं है, तो भी यदि क्षत्रिय अपनी जाति का अभिमान छोड़ ब्राह्मण वेश से मेरे यहां भिखारी हो के आए हैं तो मैं क्षत्रियों का मान (इज्जत) बचाने के लिए दधीचि और शिवि के समान अपना शरीर भी देता हूँ वह वास्तव में देना कठिन है ॥२३॥

आभास—कपटेन समागतस्य बलिरेव दातेति तस्य प्रशंसां स्वहृदये समागतां निरूपयति **बलेर्नु श्रूयते कीर्तिरिति ।**

आभासार्थ— कपट रूप से आए हुए वामन को बलि ने सर्वस्व दिया जिससे उसकी सर्वत्र प्रशंसा हो रही है इस प्रशंसा को मनमें लाकर उसका 'बलेर्नु' श्लोक में निरूपण करते हैं—

श्लोक—**बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा ।**
ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥२४॥

श्लोकार्थ—विष्णु से (ब्राह्मण मिष से) ऐश्वर्य से भ्रष्ट किए गए बलि राजा की भी निष्कलङ्क कीर्ति चारों दिशाओं में व्याप्त हो गई है, यों सुनने में आता है ॥२४॥

सुबोधिनी—दैत्यांशत्वाद्दैत्यकृतिरेव हृदये समायाति **दिक्षु विततेति**। तादृशी **कीर्तिस्तस्या**भिलषितेति ज्ञापितम्। **अकल्मषा** शुद्धभावयुक्ता। आत्मदानमभिप्रेत्याऽऽह **ऐश्वर्याद् भ्रंशितस्यापि**। संकल्पस्तु भ्रंशात्पूर्वमेव जातः त्रैलोक्यपरिग्रहश्च। भ्रंशो बन्धनात्मकः। तत्राप्येवं **विष्णुर्ब्राह्मणरूपेणैव** समागतः तेन मत्तुल्यता। अतस्तद्धर्माणामनुवादः ।।२४।।

व्याख्यार्थ— दैत्यांश होने से दैत्य का कार्य ही हृदय में आता है, 'दिक्षु वितता' उस बलि दैत्यकी निष्कलङ्क शुद्ध भाव वाली कीर्ति सर्वत्र फैली हुई है, यों कहने का इसका आशय यह है कि मेरी भी वैसी कीर्ति हो, आत्मा का दान करने की अभिलाषा कर, कहता है, कि बलि ने ऐश्वर्य भ्रष्ट होकर भी सर्वस्व दान दे दिया, देने का सङ्कल्प तो भ्रंश(बन्धनरूप होने)से प्रथम ही हुआ था और त्रैलोक्य देने का स्वीकार वहां भी इस प्रकार विष्णु ब्राह्मण रूप से ही पधारे थे। इससे मेरी और उसकी तुल्यता (समानता) है, अतः उसके धर्मो का यह अनुवाद है ।।२४।।

आभास—एतदर्थमेव ज्ञात्वा दानमनुवदति **श्रियमिति**।

आभासार्थ— इसलिये ही जानकर दान का 'श्रियं' श्लोक से अनुवाद करता है।

श्लोक—**श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे।**
जानन्नपि महीं प्रादाद्वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ।।२५।।

श्लोकार्थ—इन्द्र के लिए बलि की लक्ष्मी ले लेने की इच्छा वाले ब्राह्मण रूप विष्णु को गुरु शुक्राचार्य के रोकने पर भी दैत्यराज बलि ने पृथ्वी दे दी ।।२५।।

सुबोधिनी—**जिहीर्षत इन्द्रस्येति** वक्तव्ये संधिरार्षः। **इन्द्रस्यार्थे** राज्य**श्रियं जिहीर्षते विष्णवे जानन्नपि प्रादादिति** संबन्धः। शुक्राचार्येण **वार्यमाणोऽपीति**। यदि मां कश्चिद्वारयिष्यति तदापि दास्यामीत्येतदर्थमुक्तम् **दैत्यराडिति**। राजधर्मः प्रजाभिरपि कर्तव्य इति निश्चयः ।।२५।।

व्याख्यार्थ— श्लोक में 'जिहीर्षतेन्द्रस्य' वाक्य में जो सन्धि है वह आर्ष प्रयोग है 'जिहीर्षते' यह पद विष्णवे का विशेषण है चतुर्थी विभक्ति में है अतः व्याकरणानुसार यों सन्धि हो नहीं सकती है, इन्द्र के लिए राज्य श्री को हरण की इच्छा वाले विष्णु को, जानता था तो भी दान दिया, गुरु शुक्राचार्य ने रोका, तो भी दिया, यों कहने का जरासन्ध का यह आशय था कि यदि मुझे भी कोई रोकेगा तो भी मैं दूँगा क्योंकि बलि दैत्यों का राजा था, राजा का धर्म प्रजा को भी पालना चाहिए यह निश्चय है ।।२५।।

आभास—ननु तथापि वाक्यात्तस्य तथा न निश्चयः प्रतिज्ञा च पूर्वमेव तेन कृता तव तु बलिनाशदर्शनात् प्रतिज्ञाभावाच्च कथं न निवृत्तिरित्याशङ्कायामाह **जीवतेति**।

आभासार्थ— बलि ने केवल वाक्य से वैसा निश्चय नहीं किया था, किन्तु वह पहले ही प्रतिज्ञा कर चुका था, तुमको तो ऐसे कपट वेशधारियों को दान देने से बलि का नाश हुआ है यह जानकर और तुमने बलिवत् प्रतिज्ञा भी नहीं की है, अतः क्यों नहीं, दान से निवृत्त हो जाओ अर्थात् दान न दो ऐसी शङ्का का निवारण 'जीवता' श्लोक से करता है।

श्लोक—**जीवताऽब्राह्मणार्थाय कोन्वर्थः क्षत्रबन्धुना।**
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ।।२६।।

श्लोकार्थ—क्षत्रिय होकर इस जीवन से ब्राह्मण के कार्य को सिद्ध कर महती कीर्ति उपार्जन न करे तो फिर इस नाशवान शरीर धारण का क्या प्रयोजन है? ।।२६।।

सुबोधिनी— **अब्राह्मणार्थाय** ब्राह्मणप्रयोजनाभावाय प्रयोजनान्तराय वा **जीवता क्षत्रबन्धुना** किम्। न किंचित् प्रयोजनमित्यर्थः। एवं जीवनवैफल्यमुक्त्वा देहवैफल्यमाह **देहेनिति**। स्वत एव **पतमानेन** यस्योपचयस्तस्यापचय इति **विपुलं यशो नेहता** न संपादयता ब्राह्मणार्थप्राणत्वं तस्य स्वाभाविकं **यशः**संचयनं त्वेतैरेवोपादिष्टं बलिधर्मास्तु स्मारिताः ।।२६।।

व्याख्यार्थ— यदि यह क्षत्रिय शरीर, ब्राह्मण के काम न आवे अथवा किसी दूसरे के काम में भी न आवे तो उस क्षत्रिय के जीते रहने से क्या लाभ ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है इसी तरह जीवन की विफलता दिखाकर अब देह की व्यर्थता कहता है. जो देह गिरने वाली है, जो बढती है वह घटती भी है इसलिए वैसी नाश होनेवालो अनित्य देह से यदि विपुल यश सम्पादन न किया, अर्थात् ब्राह्मण के लिए प्राण देने से स्वाभाविक यानि अवश्य ही यश का संचय होगा यह उपदेश उन्होंने ही दिया है और बलि के धर्म भी स्मरण करवाये हैं ।।२६।।

आभास—एवं त्रिभिः कृत्वा दास्यामीति निश्चित्य प्रतिज्ञां कृतवानित्याह **इत्युदारमतिरिति**।

आभासार्थ— वैसे तीन श्लोंको से 'दूँगा' यह निश्चय कर 'इत्युदार' श्लोक से प्रतिज्ञा की है।

श्लोक—**इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान्।**
हे विप्रा व्रियतां कामं ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ।।२७।।

श्लोकार्थ—उदार बुद्धिवाला जरासन्ध कृष्ण, अर्जुन और भीम को इस प्रकार कहने लगा–हे भूदेवों ! आप प्रसन्नता से जो चाहिए, वह माँगें, मैं अपना सिर भी आपको देने के लिए तैयार हूँ ।।२७।।

सुबोधिनी—एवं वलिधर्माभिनिवेशेन **उदार**मतिर्भूत्वा प्रत्येकं तान् **व्रियता**मित्याह । दानसिद्धयर्थं तेषां ब्राह्मण्यं स्थापयति **हे विप्रा** इति । **कामं** स्वाभिलषितम् । कदाचिदेते मया सह युद्धे अशक्ताः मच्छिरः प्रार्थयिष्यन्ति चेत्तदपि देयमित्याह ददाम्यात्मशिरोऽपीति । **वो** युष्मभ्यं ब्राह्मणेभ्यः ।।२७।।

व्याख्यार्थ— इस प्रकार अन्तः करण में वलि के धर्म के प्रवेश से जरासन्ध भी वैसा ही उदार मति वाला हो गया, जिससे प्रत्येक को कहने लगा कि जो कुछ चाहिए वह मांग लो, दान की सिद्धि हो इसलिए उनका ब्राह्मण पन स्थापित करता हुआ कहता है कि हे विप्राः (ब्राह्मणों)! आप अपनी इच्छानुसार मांगलो, कदाचित् ये मेरे साथ युद्ध करने में अशक्त हैं, इसलिए यदि मेरा शिर मांगोगे तो वह भी आप ब्राह्मणों को दे दूंगा ।।२७।।

आभास—एवं सत्यप्रतिज्ञस्य प्रतिज्ञां श्रुत्वा कर्तव्यमूढयोर्भीमार्जुनयोः सतोः भगवांस्तन्मनोरथं दूरीकर्तुं कापट्यं दूरीकृत्य सत्यमाह **युद्धं नो देहि** इति ।

आभासार्थ— सत्य प्रतिज्ञ की इस प्रकार सत्य प्रतिज्ञा सुनकर क्या करना चाहिए इस विचार में मूढ हुवे भीमार्जुन को देखकर भगवान् कापट्य को दूर कर 'युद्धं नो' श्लोक में सत्य कहने लगे ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे ।**
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः ।।२८।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा—हे राजेन्द्र ! यदि हम जो चाहते हैं, वह देना स्वीकार करते हो तो, हमको द्वन्द्व युद्ध दो, हम युद्ध के लिए यहाँ आए हैं, हम क्षत्रिय हैं, अतः अन्न नहीं चाहते हैं ।।२८।।

सुबोधिनी—युद्धप्रार्थना क्षत्रियस्य नापकर्षहेतुः । **राजेन्द्रे**ति क्षत्रियमात्रस्य राजेन्द्रेण सह युद्धार्थमागमनमनुचितमिति सूचितम् । तेन युद्धप्रार्थना सर्वथायुक्तेति भावः । किंच । युद्धविशेषं प्रार्थयितुमागता इत्याह **द्वन्द्वश** इति । एको भवान् त्वं अस्मासु चैकः त्रयाणां मध्ये कोऽपि । एतदपि न छलवाक्येनाङ्गीकारं कारयित्वा वदामः किंतु **यदि मन्यसे** कथंचिद्वन्द्वयुद्धे श्रद्धा भवतीत्यर्थः । न तु निर्बन्धेनायमर्थः स्वीकर्तव्यः अस्माकं तु युद्धस्वीकारे युद्धानन्तरं जयपराजयनिर्णयः । अस्वीकारे तु प्रथमत एवेति उभयथापि समीचीनम् । इदमत्यन्तं स्वोत्कर्षख्यापकं वचनम् । किंच । जगति त्वत्समीपद्वन्द्वयुद्धं कोऽपि कर्तुं न शक्त इति **युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता**मागता इत्यभिप्रायेणाह **युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता** इति । देवदैत्यरक्षसामन्यतरत्वे भयान्नाङ्गीकरिष्यतीत्याशङ्क्याह **राजन्या** इति । तर्हि ब्राह्मणवेषः किमर्थं कृत इत्याशङ्क्याह **नान्नकाङ्क्षिण** इति । ब्राह्मणो भोजनप्रिय इति, अन्नकाङ्क्षिणो ब्राह्मणा न भवामः । अन्नार्थं वा न ब्राह्मणवेषः । किंतु महान् क्षत्रियः अल्पेन सह युद्धं न करोति ब्राह्मणेन तु सह तदिच्छापूर्त्यर्थं अल्पेनापि करोतीति ब्राह्मणवेष इत्यर्थः ।।२८।।

व्याख्यार्थ—युद्ध के लिए मांग करने से क्षत्रिय का अपमान नहीं होता । राजेन्द्र ! इस प्रकार के सम्बोधन से यह सूचित किया है कि साधारण क्षत्रिय को राजेन्द्र के साथ बल से युद्ध करने के लिए आना उचित नहीं है इस कारण से युद्ध के लिए प्रार्थना करना सर्व प्रकार से योग्य है, यह भाव है, उसमें भी विशेष प्रकार के युद्ध की प्रार्थना करने के लिए ही आए हैं वह प्रकार बताते हैं कि 'द्वन्द्वशः' एक एक से आमने सामने लड़ें अतः आप एक हैं हम तीनों में से किसी एक को आप चुनलो, यह भी किसी छल द्वारा अङ्गीकार नहीं करवाता हूं, किन्तु यदि कैसे भी द्वन्द्व युद्ध में श्रद्धा हो तो स्वीकार कीजिए यह मन्तव्य किसी भी आग्रह से स्वीकार नहीं करना, हमको तो युद्ध के स्वीकार करने पर जय वा पराजय का निर्णय युद्ध के बाद होगा, यदि स्वीकार न करोगे तो पहले ही यों है अतः हमारे लिए दोनों ही समीचीन हैं, अपने अत्यन्त उत्कर्ष के प्रसिद्ध करने वाले वचन हैं और विशेष जगत् में द्वन्द्व युद्ध करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है इसलिए युद्ध को चाहने वाले हम आपके पास आए हैं देव, दैत्य और राक्षसों में से आप कोई हैं। इस भय से यदि युद्ध देना अङ्गीकार न करो तो इस भय का निवारण करते हैं कि हम क्षत्रिय हैं यदि क्षत्रिय हो, तो ब्राह्मण वेश क्यों धारण किया है जिसके उत्तर में, हमने वेश धारण इसलिए नहीं किया है कि हमको भोजन दो, ब्राह्मण भोजनप्रिय होते हैं, हम भोजन चाहने वाले ब्राह्मण नहीं हैं। अन्न के लिए ब्राह्मण वेश धारण नहीं किया है, हमने इस विचार से ब्राह्मण वेश धारण किया है कि महान् क्षत्रिय, छोटे से युद्ध नहीं करता है, ब्राह्मण से तो उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिए छोटे से भी करता है इसलिए ब्राह्मण वेश धारण किया है ।।२८।।

आभास—यथा रूपमन्यथा तथा वागपि भविष्यतीत्याशङ्क्य क्षत्रियत्वसिद्धयर्थं स्वनामान्याह **असौ वृकोदर** इति ।

आभासार्थ— जैसे आपका रूप सत्य नहीं है, वैसे वाणी भी सत्य न होगी, इस शङ्का को मिटाने के लिए, अपने क्षत्रियपन की सिद्धि करते हुए 'असौ वृकोदरः' श्लोक में अपने नाम प्रगट कर बताते हैं ।

श्लोक—**असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम् ।**
अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ।।२९।।

श्लोकार्थ—यह भीमसेन है और दूसरा पृथा का पुत्र इसका भ्राता अर्जुन है, इन दोनों के मामे का पुत्र तेरा शत्रु मैं कृष्ण हूँ, यों समझ ले ।।२९।।

सुबोधिनी—**वृको** दशविधः प्राण **उदरे** यस्येति बलं च सूचितम् । **पार्थ** इति स्वसंबन्धार्थं कपटागमनार्थं वा न त्वप्रयोजकत्वाय । तस्यैव भ्राता: **पार्थः अर्जुनोयं** द्वितीयः । **हि** युक्तश्चायमर्थः । आकृतिसाम्यात् । यदर्थमेतयोर्मातृनाम्ना निरूपणं तदाह **अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहीति** । तर्हि प्रसिद्धाः कथं वेषेण समागता इत्याशङ्क्याह **ते रिपुमिति** । रिपोः स्थाने कार्यपर्यन्तं वेषेणैव स्थातव्यमिति नीतिः ।।२९।।

व्याख्यार्थ— वृक पद का अर्थ है दश प्रकार के प्राण, वे जिसके उदर में है वैसा यह वृकोदर है यों कहने से उसकी महती शक्ति का सूचन किया है जिसको 'पार्थ' भी कहते हैं, यह नाम अपने सम्बन्ध प्रकट दिखाने के लिए कहा है अथवा कपट से आने के लिए कहा है अप्रयोजकपन के लिए नहीं, उसका ही भ्राता अर्जुन दूसरा भी पार्थ है, 'हि' पद से बताया है कि यह अर्थ उचित है, कारण कि दोनों की आकृति समान है इनका मातृ नाम से परिचय जिस कारण से दिया वह प्रकट करते हैं कि, इन दोनों के मामे का पुत्र कृष्ण मुझे समझ लो, जब आप ऐसे प्रसिद्ध हैं तो वेशान्तर धारण कर क्यों आए ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'तेरिपुम' तुम्हारे शत्रु हैं शत्रु के स्थान पर कार्य पूर्ण हो तब तक वेशान्तर से ही रहना चाहिए यह नीति है ॥२९॥

आभास—एवं भगवता पार्थे निरूपिते अतिथिश्रद्धायां गतायां बालभावेनैते समागता इत्यवहेलेव तेषूत्पन्ना तट आगमनमाश्चर्यमिव मत्वा प्रथमतो हास्यमुत्पन्नमित्याह **एवमावेदित** इति।

आभासार्थ— भगवान् ने जब ये पार्थ नाम से प्रसिद्धि की तब जरासन्ध के हृदय से अतिथि श्रद्धा निकल गई। ये तो लड़के से आए हैं इसलिए उन्होंमें तिरस्कार जैसा भाव उद्भूत हुआ, इस कारण से इनका आना आश्चर्य जैसा माना, जिसमें पहिलें उसको हँसी आई जिसका वर्णन 'एवमावेदितो' श्लोक में करते है।

श्लोक—**एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।**
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥३०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब इसको अपने स्वरूप का ज्ञान कराया, तब राजा मागध जोर से हँसने लगा और क्रोधित हो कहने लगा कि हे मूर्खो ! यदि आप द्वन्द्व युद्ध ही माँगते हो तो तुमको वही देता हूँ ॥३०॥

सुबोधिनी—आवेदनं स्वरूपख्यापनम्। यतो राजा राज्यमत्तः उच्चैर्जहासेति कथमेते अकस्माच्छत्रुगृहे पतिताः दैवगत्येति। ननु भगवन्तं दृष्ट्वा भक्तिः कथं नोत्पन्ना वस्तुसामर्थ्यात्, कथमवहेलेत्याशङ्कायामाह मागध इति। देशदोषान्न सद्बुद्धिः। तह्युपेक्षा भवितुमर्हतीत्याशङ्क्याह आह चेति। पूर्वं भगवदतिक्रमं श्रुत्वा अमर्षितः ततः क्रोधेन मारयिष्यामीति विचार्य स्वप्रतिज्ञां च स्मृत्वा उभयथापि मारणं संभवतीति किमिति प्रतिज्ञा हातव्येति स्वस्य कार्यमुभयथापि समीचीनमेवेति तेषामेवोभयथाऽसमीचीनमिति ज्ञापयितुं मन्दा इति संबोधनमाह। अस्तु वा तेषां मन्दत्वं स्वप्रतिज्ञां तु पूरयाम्येवेत्याशयेनाह युद्धं तर्हि ददामि व इति। व इति बहुवचनाद् त्रयोऽपि भवन्त एकतो भवन्तु अहमेकत इति सूचितम् ॥३०॥

व्याख्यार्थ— आवेदन का तात्पर्य है अपना स्वरूप प्रकट कर देना, स्वरूप प्रकट जानकर 'राजा' राज्य के कारण मदमत्त होने से जोर से हँसने लगा इसलिए कि ये अचानक शत्रु के गृह

में कैसे आ गए ? दैव गति से आए हैं, भगवान् का दर्शन कर वस्तु में ऐसी सामर्थ्य होते हुए भी भक्ति क्यों न उत्पन्न हुई ? कैसे तिरस्कार जगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि वह राजा तो था किन्तु साथ में मगध देश में उत्पन्न होने से मागध भी था अतः देश दोष से सुबुद्धि न आई उसके न आने से उपेक्षा होना ही योग्य, है इस शङ्का के होने पर कहते हैं कि भगवान् का अतिक्रम सुनकर क्रोधपूर्ण हो गया पश्चात् विचार कर कहने लगा कि इनको मारूंगा और अपनी प्रतिज्ञा का भी स्मरण किया, जिससे यों निश्चय किया कि ये युद्ध की भिक्षा मांग रहे हैं और मेरी प्रतिज्ञा है कि ब्राह्मण जो मांगे वह देना ही अतः दोनों प्रकार मारना ही सम्भव होता है इससे क्या प्रतिज्ञा छोड़नी ? नहीं जरासन्ध ने समझा कि हमारा कार्य दोनों प्रकार उचित है और उनका ही दोनों प्रकार अनुचित हैं, यह जानने के लिए उनको 'मन्दा' यह सम्बोधन दिया है, वे भले ही मूर्ख हो अपनी प्रतिज्ञा तो पूर्ण करूंगा ही, इस आशय से कहता है कि 'युद्धं तर्हि दादामि' आप तीनों को द्वन्द्व युद्ध देता हूँ अर्थात् एक तरफ भले तुम तीनों हो जाओ दूसरी तरफ मैं एक ही रहूंगा यों सूचित किया ॥३०॥

आभास—तथापि द्वन्द्वतायां निर्बन्धो यदि तदाह न त्वयेति।

आभासार्थः— तो भी यदि द्वन्द्व में आग्रह है तो इस पर जो कहना है वह 'न त्वया' श्लोक में कहता हैं।

श्लोक—**न त्वयाऽभीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा ।**
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥३१॥

श्लोकार्थ—जरासन्ध ने भगवान् को कहा कि लड़ाई में अस्थिर चित्तवाले डरपोक तुझ से मैं नहीं लड़ूँगा, तूँ ऐसा डरपोक है, जो तुमने अपनी पुरी मथुरा का त्याग कर समुद्र की शरण ली है ॥३१॥

सुबोधिनी—त्वया न योत्स्ये अभीरुणेति परमार्थः। व्याजेन भीरुणेत्याह। भीरुत्वे कथमेवमागमनमित्याशङ्क्याह युधि विक्लवचेतसेति। युद्धे चेत् स्थिरता बुद्धेर्भवेत् तदा क्षत्रियो युद्धसंभवभूमिं परित्यज्य युद्धरहितभूमौ न गच्छेत् इत्याशयेनाह मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वेति। आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्य इति ज्ञापयितुं स्वपुरीमिति। मध्ये समुद्रस्थितिः समुद्रशरणागतिः दुर्गाश्रयवत् ॥३१॥

व्याख्यार्थ— तुम डरपोक[1] हो इसलिए तुम से नहीं लड़ूँगा, यदि मैं डरपोक होता तो यहां कैसे आता ? जिसका उत्तर देता है कि लड़ाई में तुम स्थिर चित्त वाले नहीं हो, यदि युद्ध में चित्त स्थिर हो तो क्षत्रिय कभी जहां लड़ाई होने की भूमि है उस भूमि का त्याग कर वैसी भूमि पर क्षत्रिय कभी नहीं जाते हैं जहां लड़ाई न हो सके, आपने यों किया है जैसे अपनी मथुरा पुरी का

---

[1] वास्तव में 'अभीरुणा' पद होने से अर्थ ''बहादुर''

त्याग कर जैसे कोई किले का आश्रय ले वैसे समुद्र के मध्य में स्थिति की है, जो स्थान युद्ध के योग्य नहीं है, नीति शास्त्र तो यों कहता है कि 'आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्यः, आपदाओं में भी अपना देश नहीं छोड़ना चाहिए ॥३१॥

आभास—अर्जुनं च निराकरोति **अयमिति**।

आभासार्थ— अर्जुन से भी लड़ाई करने का 'अयं तु' श्लोक में निराकरण करता है।

श्लोक—**अयं तु वयसाऽतुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः।**
अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥३२॥

श्लोकार्थ—यह अर्जुन छोटा है और महाबली नहीं है तथा मेरे समान नहीं है, इसलिए अर्जुन योद्धा, मुझ से लड़ाई करने वाला नहीं हो सकता है, किन्तु भीम, समान बल होने से मुझ से लड़ सकता है ॥३२॥

सुबोधिनी—**अयं तु योद्धा** भवति परंतु **वयसा अतुल्यः** वयोऽत्र बलहेतुभूतम्, अन्यथ भीमोऽपि वयसा न तुल्यः भीमार्जुनयोर्वर्षत्रय-व्यवधानात् तदेव ज्ञापयितुमाह **नातिसत्त्व** इति। यादृशे लग्ने उत्पन्ने तादृशं बलं भवति तद्भीम-बलभद्रमद्रराजादीनामेव अतः एव **न मे समः**। दैव्यं तु बलं ममापि ब्रह्मण्यत्वादधिकमेवेति न तन्मन्यते। कनिष्ठ इति। भीमस्यापि निराकरणे व्याजोत्तरत्वं भविष्यतीति तमङ्गीकरोति **भीम-स्तुल्यबलो ममेति**। वस्तुतस्तु नरनारायणौ परित्यज्य कालकन्यापुत्रत्वात् मुख्यप्राणं तुल्यं मन्यते सोपि दैत्यप्राणरूप इति 'जीव जीव' इति वाक्यात् ॥३२॥

व्याख्यार्थ— यह अर्जुन तो योद्धा बन सकता है, किन्तु आयु में छोटा है बल का कारण वय भी होता है, यदि यों है तो भीम भी आयु में आपके बराबर नहीं है, भीम और अर्जुन का केवल तीन वर्ष का ही अन्तर है, जिसके उत्तर में कहता है कि अर्जुन विशेष बलवान भी नहीं है और न मेरे समान है, क्योंकि जैसे लग्न में जन्म होता है तदनुसार बल होता है वह बल भीम, बलभद्र मद्र आदि राजाओं में हैं इस कारण ही यह अर्जुन मेरे समान नहीं है अतः मुझसे द्वन्द्व युद्ध कर नहीं सकता, दिव्य बल तो ब्रह्मण्यत्व के कारण मुझ में विशेष है भीम के भी निराकरण में दूसरा कोई कारण होगा जिसके उत्तर में कहता है कि नहीं भीम तो मुझ से बल में समान है उससे द्वन्द्व युद्ध करूँगा। वास्तव में तो नर नारायण को त्यागकर काल कन्या के पुत्र होने से मुख्य प्राण को समान मानता है, वह भी दैत्य प्राण रूप है, यों 'जीव जीव' इस वाक्य से मानता है ॥३२॥

आभास—एतेषां तु सर्वत्रैवाभ्यनुज्ञा, बलं तु भगवतः क्वापि संचारणीयमिति तदङ्गीकारे जरासंधकृत्यमाह **इत्युक्त्वेति**।

आभासार्थ—इनको तो सर्वत्र ही अनुमति है। भगवान् का बल तो कहीं भी चलाने योग्य है अर्थात् चलाया जा सकता है उनके अङ्गीकार करने पर जरासन्ध के कृत्य का वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम्।**
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः ॥३३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कहकर जरासन्ध ने भीमसेन को एक बड़ी गदा दी और दूसरी गदा स्वयं लेकर नगर से बाहर निकले ॥३३॥

सुबोधिनी—द्वन्द्वयुद्धं शरीरबलनिमित्तकमिति गदायामेव शरीरबलं योजयितुं शक्यमिति निरायुधेन युद्धं न युक्तमिति तस्मै महतीं गदां प्रादात्। द्वितीयां तत्तुल्या स्वयमादाय स्वरूपतः साधनतश्च फलरूपो भूत्वा स्थानबलं स्वगृहे स्वस्याधिकमिति स्वपुरं परित्यज्य युद्धार्थं पुराद्बहिर्निर्गतः ॥३३॥

आभासार्थ—द्वन्द्व युद्ध शरीर बल प्रदर्शित करने वाला है वह बल गदा में ही जोड़ने का है अर्थात् गदा से ही दिखलाया जा सकता है। बिना आयुध के युद्ध करना उचित नहीं है, इसलिए भीम को बड़ी गदा दी, उसके समान दूसरी गदा स्वयं जरासन्ध ने ली, स्वरूप से और साधन से फलरूप होकर अपने गृह में अपना स्थान बल विशेष होता है, इस कारण से अपने पुर का त्याग कर युद्ध के लिए बाहर निकला ॥३३॥

आभास—ततो युद्धप्रकारं लौकिकमाह **ततः समे खले** इति।

आभासार्थ—'ततःसमे खले' श्लोक में लौकिक युद्ध का नमूना कहते हैं—

श्लोक—**ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ।**
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥३४॥

श्लोकार्थ—फिर वे, रण में मदोन्मत्त वीर, युद्ध में आकर आपस में भिड़े और वज्र के समान गदाओं से प्रहार करने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी—कोमला भूमिः खलशब्देनोच्यते। असहायसमागमने हेतुः वीरौ इति। संयुक्तावितरेतरौ इति समारम्भे तुल्यता निरूपिता। वज्रकल्पाभ्यामिति गदामाहात्म्यम्। रणदुर्मदौ इति तयोः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—कोमल और समान भूमि पर,द्वन्द्व युद्ध प्रारम्भ की,सेना आदि की सहायता बिना आने का कारण यह था कि 'वीरों' (बहादुर) थे 'परस्पर आपस में भिड़ गए, इससे समारम्भ में

बराबरी (समानता) निरूपण की है, वज्रकल्पाभ्यां' पद से गदा का महात्म्य वर्णन किया है 'रण दुर्मदौ' पद से दोनों का महात्मय दिखाया है ॥३४॥

श्लोक—**मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।**
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ॥३५॥

श्लोकार्थ—जैसे रङ्गभूमि में नट खेलते हैं, उनकी तरह बाँए और दाहिने विचित्र मण्डलों में फिरते इन दोनों का युद्ध शोभा देने लगा ॥३५॥

सुबोधिनी—**मण्डलानि** गदायुद्धे प्रोक्तानि **सव्यं** यथा भवति **दक्षिणं** यथा भवति। एवेत्युभयोरवधारणम्। चकारादुभयोरुभयं कदाचित्। एवं **चरतोर्युद्धं शुशुभे** द्रष्टॄणां तद्युद्धं सुखदं जातमित्याह **नटयोरिवेति**। युद्धाभास एवायमनुकरणमिति शङ्कायामाह **रङ्गिणोरिति**। रङ्गोनयोर्वर्तत इति युद्धे रसयुक्तौ, न त्वाभासावित्यर्थः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—गदा युद्ध में मण्डल कहे हैं, कभी एक बांएे जाता है तो दूसरा दाहिने जाता है 'एव' पद से दोनों का यों करना दिखाया है, 'च' पद से कभी दोनों का दोई कदाचित् हो जाते थे। यों फिरते रहने से युद्ध शोभा देने लगा, देखने वालों को वह युद्ध सुखदायी हुआ, इसलिए दृष्टान्त देते हैं नटों की तरह युद्ध का खेल खेलने लगा, यह सच्चा युद्ध नहीं किन्तु युद्ध का आभास है अतः यह अनुकरण है इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'रङ्गिणोः' इन दोनों में रङ्ग है इसलिए युद्ध में रसवाले हैं न कि आभास है यह तात्पर्य है ॥३५॥

आभास—लोकानां रसजननान्यथानुपपत्त्या आभास एव भविष्यतीत्याशङ्क्य युद्धे शब्दं वर्णयति **ततश्चटचटाशब्द** इति।

आभासार्थ—लोगों को अन्य प्रकार रस की उपपत्ति न होने से यह आभास ही होगा, यह शङ्का कर युद्ध करते हुए जो शब्द होने लगे उनका वर्णन 'ततश्चटचटा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसंनिभः ।**
गदयोः क्षिप्तयोरेष दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥३६॥

श्लोकार्थ—जैसे हाथियों के लड़ते हुए उनके दन्तों के शब्द होते हैं, वैसे ही आपस में चलाई जाती हुई गदाओं का वज्रपात के समान चटचटा शब्द होता था ॥३६॥

सुबोधिनी—**वज्रनिष्पेषो** वज्रपातस्तत्संनिभः तत्सदृशः। अन्योन्यं **क्षिप्तयोर्गदयोरेषः**, शब्दादपि महद्भयं संभवति सर्वेषां तेषां प्रहारेऽपि न तदिति माहात्म्यम्। **गदयोः** परित्यागशङ्काभावाय अपरित्यागाय वा दृष्टान्तः **दन्तयोरिव दन्तिनोरिति**। ॥३६॥

व्याख्यार्थ—एक दूसरे पर फेंकी हुई गदाओं के वज्र के गिरने के समान चटचटा शब्द हो रहे थे, इन शब्दों से ऐसा बड़ा भय होता था वैसा उन सबको गदा की चोट से न होता था यह माहत्म्य है। गदाओं के परित्याग को शङ्का के अभाव के लिए अथवा अपरित्याग के लिए दृष्टान्त देते हैं जैसे हाथियों के युद्ध में उनके दान्तों का शब्द होता है तो भी वे लड़ना छोड़ते नहीं ॥३६॥

आभास—गदयोरेवान्योन्यं प्रहारो न तु देहयोरितिशङ्कां वारयितुं प्रहारं वर्णयति **ते वै गदे** इति।

आभासार्थ—यह प्रहार परस्पर गदाओं का ही होता था न कि देहों का, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'ते वै गदे' श्लोक में प्रहार का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने**
अन्योन्यतोंसकटिपादकरोरुजत्रून् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुद्धयतोर्द्विरदयोरिव तीव्रमन्वोः ॥३७॥

श्लोकार्थ—उद्दीप्त क्रोध वाले हस्ती लड़ते हुए आक पर पड़ते हैं तो उनकी टहनियाँ जैसे टूट जाती हैं, वैसे ही भुजाओं के वेग से चलाई हुई गदाएँ जब एक-दूसरे के कन्धे, कमर, हाथ, पाँव, जाँघ (साथल) और हँसियों पर पड़ती थी, तब गदाएँ चूर्ण हो जाती थी ॥३७॥

सुबोधिनी—गदापेक्षया देहोऽत्यन्तं कठिन इति देहस्पर्शे गदानाश उच्यते। **भुजजवेनान्येनान्यस्योपरि निपात्यमाने अंसकटिपादकरोरुजत्रून्** षडङ्गान्युपेत्य **चूर्णीबभूवतुः**। देहगदयोस्तारतम्यार्थं दृष्टान्तमाह **यथार्कशाखे** हस्तिभ्यां निक्षिप्ते यथार्कवृक्षशाखे। तदभावे युद्धाभावो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **संयुद्धयतोरिति**। साधनमवयवा एवेति दृष्टान्तः **द्विरदयोरिवेति**। नन्ववयवस्य कथं साधनत्वं प्रहारे स्वस्यापि व्यथासंभवादित्याशङ्क्याऽऽह **तीव्रमन्वोरिति**। **तीव्रो** मनुर्मन्युर्ययोः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—गदा की तुलना में देह अत्यन्त कठिन थी इसलिए देह के स्पर्श होते ही गदा का नाश कहा जाता है भुजाओं के वेग से एक दूसरे पर गिराई हुई गदाएँ कन्धे, कमर, पांव, हाथ, हांसल और हासिया इन छ अङ्गों पर पड़ती थी तब चूर्ण हो जाती थी, देह और गदा के तारतम्य दिखाने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि हस्तियों के पड़ने पर आक की टहनियों टूट जाती हैं किन्तु यहां गदाएँ चूर्ण हो गई। जिससे सिद्ध होता है कि गदाओं से देह कोमल थी और यहां आक की टहनियां कोमल है जो टूट गई हैं— तब युद्ध नहीं हुआ होगा, इस शङ्का के मिटाने के लिए कहते हैं कि 'संयुद्धयतों' लड़ते हुए हस्तियों के पड़ने से, साधन अवयव ही हैं इसलिए दृष्टान्त है 'द्विरदयोरिव' हस्तियों की तरह अवयव साधन कैसे हैं? प्रहार होने पर अपने को भी व्यथा होने का संभव होने

से यों शङ्का कर उत्तर देते हैं कि तीव्र (जबरदस्त) क्रोध से पूर्ण थे इसलिए उनको चोट का भान नहीं रहता था ॥३७॥

आभास—एवं गदायुद्धमुपसंहृत्य मुष्टियुद्धमाह **इत्थमिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार गदा युद्ध पूर्ण कर 'इत्थं' श्लोक से 'मुष्टियुद्ध' का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ**
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शैरपिष्टाम् ।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासीन्
निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥३८॥

श्लोकार्थ—इस तरह गदाओं के टूट जाने से उन दोनों वीरों ने क्रोध में आकर, लोहे के समान कठोर स्पर्श वाली मुक्कियों से आपस में मुक्कं-मुक्का की, जिससे एक-दूसरे के अङ्ग को चूर्ण करने लगे। हाथी के समान प्रहार करते हुए इन दोनों वीरों के चपेट मारने का शब्द वज्रपात के समान कठोर होता था ॥३८॥

सुबोधिनी—**तयोर्गदयोः प्रहतयोः** सत्योः तथापि **नृवीरौ क्रुद्धौ** सन्तौ **अयः**सदृशै**र्मुष्टिभिः अपिष्टां** अन्योन्यशरीरं पेषयामासतुः। तत्रापि पूर्ववच्छब्दमाह शब्दस्तवोरिति। तयोर्देहयोः संबन्धी शब्दः इभयोरिव गर्जनरूपो जातः। वीररसेन तयोरेव वा वाक् शब्दः उभयोरपीत्येके। अन्योऽपि तत्र शब्दो जात इत्याह निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थ इति। निर्घातो निरभ्रविद्युत्पातः तादृशपातयुक्तो वज्रः ततोऽपि यः परुषः तलताडनं चपेटः तेनोत्थानं यस्य। अनेन महाप्रहारो निरूपितः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—उनकी गदाओं के चूर्ण हो जाने पर भी दोनों नरवीर क्रोध पूर्ण हो, लोहे के समान कठोर मुक्काओं से चूर्ण न हुए परस्पर के शरीर को चूर्ण करने लगे, वहां पहले की भांति शब्द हुए यों कहते हैं दोनों देहों के शब्द हस्तियों के समान गर्जना रूप होने लगा, कोई कहते हैं कि वीर रस के कारण उन दोनों के वाणी का शब्द वैसा होने लगा, वहां दूसरे प्रकार का भी शब्द हुआ, बिना बादल होते हुए गिरि हुई बिजली के पात के समान जो वज्र होता है उससे भी जो कठोर थप्पड़ है उससे निकला हुआ शब्द जोर से होने लगा, यों कहने से महान् प्रहार का निरूपण किया ॥३८॥

आभास—उपसंहरति **तयोरेवमिति** ।

आभासार्थ—'तयोरेवं' इस श्लोक से विषय का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।**
निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! अभ्यास, बल और प्रभाव से समान बल वाले भीम और जरासन्ध का बल, इतना लड़ते हुए भी कम नहीं हुआ, अतः दोनों में विशेष समान युद्ध होने लगा ॥३९॥

सुबोधिनी—समतायां हेतूनाह समशिक्षाबलौजसोरिति। युद्धे पराक्रमो बलं शिक्षा च हेतवः। तत्तुल्यत्वात् युद्धे विशेषाभावः। आवृत्यान्यबलक्षये युद्धे विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क्याह अक्षीणजवयोरिति। नृपेति संबोधनं विश्वासाय। आवृत्त्या जरासंधस्य क्षीणता भविष्यतीत्यभिप्रेत्य आवृत्तिः कृता। तज्जरया निर्मितोऽयमिति सर्वस्माद्बलं समाहृत्य जरास्मै प्रयच्छतीति न कदाचिदप्यस्य बलक्षयः, आसन्यत्वाद्भीमस्य नास्त्येव ॥३९॥

व्याख्यार्थ—भीम और जरासन्ध की समानता में हेतु कहते हैं शिक्षा, बल और ओज दोनों का एक जैसा है, युद्ध में पराक्रम बल और शिक्षा कारण हैं, वे बराबर होने से विशेषता का अभाव है, आवृत्ति से दूसरे के बल का क्षय होने से युद्ध में कोई प्रबल हो जाएगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहता कि 'अक्षीण जवयो' आवृत्ति होते हुए भी किसी का बल क्षीण नहीं हुआ, नृप ! यों यह संबोधन विश्वास उत्पन्न करने के लिए कहा है, आवृत्ति से जरासन्ध का बल कम होगा, यों विचार कर आवृति की, किन्तु बल क्षीण नहीं हुआ, क्योंकि यह जरा का निर्माण किया हुआ है अतः जरा सब ठोर से बल लागर इसको देती है, इसलिए कभी भी इसका बल नाश होने का नहीं है, आसन्य प्राणरूप होने से भीम का भी बल क्षय नहीं होता है ॥३९॥

आभास—एवं तुल्यत्वे प्रयोजनं न सिद्धयतीति भगवान् भीममधिकबलं कृतवानित्याह **शत्रोरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार तुल्य बल होने से कार्य की सिद्धी न होगी इसलिए भगवान् ने भीम को अधिक बल वाला किया यह 'शत्रोर्जन्ममृती' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**शत्रोर्जन्ममृती विद्वाञ्जीवितं च जराकृतम् ।**
पार्थमाप्याययत्स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भगवान् शत्रु (जरासन्ध) के जन्म-मरण को जानते हैं, इसके दो भागों को जरा नाम वाली राक्षसी ने जोड़ा है, यह राक्षसी जरासन्ध को बल देती रहती है, यह विचार कर भगवान् ने अपना तेज भीम में स्थापन कर उसके वध का उपाय सोचने लगे ॥४०॥

सुबोधिनी—शत्रोर्जरासंधस्य सिद्धफलाच्छकलभूताज्जन्म शकलभूतस्यैव, शकलयोश्चाक्षयत्वं जराकृतसंधानेनैव च **जीवितं** शकलयोः स्वरूपतो नाशाभावात् विश्लेषादेव मरणं अतिवलादेव च विश्लेषः संभवतीति **पार्थं स्वेन तेजसा आप्या**ययत्। स्वकालशक्तिं तत्र स्थापितवानित्यर्थः। ततस्तकालकन्यापेक्षया कालशक्तेराधिक्यात्, ततस्तस्य वधोपायं अचिन्तयत्। यतः सतां दुःखहर्ता ॥४०॥

व्याख्यार्थ—हमारे शत्रु जरासन्ध का दो टुकड़े हुवे सिद्ध फल से जन्म हुआ है, इन दो टुकड़ों का अक्षयपन और जीवन जरा राक्षसी के किए हुए जोडान से ही हुवा है दोनों टुकड़ो का स्वरूप से नाश होने का नहीं है, अतः उन टुकड़ों के पृथक् होने से ही इसकी मृत्यु होगी वह पृथक्पन अतिशय बल से ही होगा, इललिये भीम को अपने तेज से युक्त किया अर्थात् अपनी काल शक्ति उसमें स्थापित की, काल कन्या की अपेक्षा काल शक्ति अधिक बलवती है उससे उसके वध का उपाय सोचने लगे क्योंकि सत्पुरुषों के दुःख के हरण करने वाले हैं ॥४०॥

श्लोक—**संचिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ।**
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४१॥

श्लोकार्थ—अमोघ ज्ञान वाले हरि ने शत्रु के वध का उपाय विचार कर एक टहनी को चीरते हुए, उस संकेत से भीम को जरासन्ध के मारने का उपाय बता दिया ॥४१॥

सुबोधिनी—ततो विश्लेषमेवोपायं विनिश्चित्य **भीमस्य दर्शयामास**। चिन्तनमन्यथा न भवतीति ज्ञापनार्थमाह **अमोघदर्शन** इति। भीमस्य वा ज्ञानार्थं विशेषेण दर्शनम्। स्वयं भीमसंमुखो भूत्वा विटपं कस्यचिच्छाखां मध्ये विपाटयन् संज्ञया अभिज्ञानेन पाटयामास एवमयं पाटनीय इति ॥४१॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् भगवान् ने जरासन्ध को मारने का उपाय दो टुकंडे करना ही है वह संकेत से भीम को दिखाया, भगवान् का निश्चित किया हुआ विचार अन्यथा नहीं होता है, क्योंकि भगवान् अमोघ दर्शन हैं, वह प्रकार भीम को समझाने के लिए विशेष प्रकार से दिखाया, स्वयं भगवान् भीम के सामने होकर वृक्ष की शाखा में से किसी टहनी को लेकर उसको मध्य से चीर डाला, इस संकेत से भीम को सूचित किया कि जरासन्ध इस प्रकार मध्य में से चीरने से मरेगा अतः उसके भी बीच से दो टुकड़े कर डालो तो मरेगा ॥४१॥

श्लोक—**तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।**
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥४२॥

श्लोकार्थ—प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ महा बलवान भीमसेन ने उस उपाय को समझकर वैरी के पांवों को पकड़ कर पृथ्वी पर गिरा दिया ॥४२॥

सुबोधिनी—एवं भगवत्कृपया ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः प्रहरतां मध्ये श्रेष्ठः मल्लयुद्धमिषेण तं भूमौ पातयामास। पूर्ववदेव यथा तस्य शङ्का नोदेति। नन्वेवं मारणमनुचितमित्याशङ्क्याह शत्रुमिति। शत्रुः शातयिता यथाकथंचिद्वध्यः पादयोर्गृहीत्वा पातने विकलता च जाता।४२।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् की कृपा से ज्ञान क्रिया शक्ति से युक्त, प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ मल्ल युद्ध के मिष से उसको पृथ्वी पर गिराया जैसे पहले यह शङ्का पैदा नहीं होती है इस प्रकार मारना उचित नहीं है, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'शत्रु' है, इसलिए यों मारने में कोई दोष नहीं है। शत्रु को जिस किसी तरह भी हो मारना चाहिए, दोनों पांवों को पकड़ कर गिराने में विकलता तो हुई है ॥४२॥

आभास—ततो मारणप्रकारमाह **एकं पादमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् 'एकंपादं' श्लोक में मारने का प्रकार बताते हैं—

श्लोक—**एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।**
गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः ॥४३॥

श्लोकार्थ—एक पाँव को पांव से दबा कर दूसरा पांव हाथों से पकड़ कर जैसे गजराज वृक्ष की शाखा को चीर डालता है ऐसे जरासन्ध को, गुदा से लेकर ऊपर तक बराबर चीर कर दो टुकड़े कर डाले ॥४३॥

सुबोधिनी—पादौ त्वश्लिष्टौ एव अतो गुदतः पाटयामास। पूर्वं तस्मिन् ब्राह्मणबुद्धिर्जातेति कालशक्त्या गृहीत इति न प्रयत्नं कमपि कृतवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह शाखामिवेति। अनायासे दृष्टान्तो महागज इति ॥४३॥

व्याख्यार्थ—पांव तो जुड़े हुवे नहीं है अतः गुदा से चीर डाला, पहले तो उसमें ब्राह्मण बुद्धि उत्पन्न हुई, इसलिए कालशक्ति ने इसको अपनी तरफ खींच लिया जिससे इसने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया यों जताने के लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे गजराज बिना प्रयत्न के लीला करते ही वृक्ष की शाखा को तोड़ देता है वैसे ही काल शक्ति ने भी इसके दो टुकड़े कर डाले ॥४३॥

आभास—ततस्तस्य वधः सर्वजनीनो जात इत्याह **एकपादेति** ।

आभासार्थ—उसका वध सर्वजनीन हुआ यह 'एक पादों' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके ।**
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशः प्रजाः ।।४४।।

श्लोकार्थ—प्रजा ने उसके दो खंड समान देखे, जैसे प्रत्येक में एक पांव, एक उरु एक वृषण, एक कटि एक पृष्ठ, एक स्तन, एक कन्धा, शिर एक हाथ, एक आँख एक भौंह और एक कान देखा ।।४४।।

सुबोधिनी—एकपादः पादादिर्यस्य पादः ऊरुः वृषणः कटिः पृष्ठस्तनमंसः कं चेत्यष्टाङ्गानि द्वन्द्वरूपाणि भिन्नानि जातानि । द्वादशाङ्गेष्वप्यपराणि चत्वार्याह **बाहुरक्षिभ्रूः** कर्णश्च एको ययोः । एतादृशे शकले सर्वा एव प्रजा ददृशुः ।।४४॥

व्याख्यार्थ—गुदा से चीरने के कारण पांव उपर आ गया था इसलिए कहा है, कि यह पाद है आदि जिसके ऐसे आठ अङ्ग, पाद, उरु, वृषण कटि, पीठ, स्तन, कन्धा और कं (शिर)। जो दो दो थे वे पृथक् हो गए, सर्व द्वादश अङ्गों में आठ ऊपर कहे शेष चार कहते हैं कि बाहु, आंख भौंह, और कान, दोनों टुकड़ों में यों एक एक १२ अङ्गों को प्रजा ने देखा ।।४४।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **हाहाकार** इति ।

आभासार्थ—मरणानन्तर जो कुछ हुआ वह 'हाहाकारो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वर ।**
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ ।।४५।।

श्लोकार्थ—जरासन्ध के मरने पर बड़ा हाहाकार हुआ और अर्जुन तथा श्री कृष्णचन्द्र ने आलिङ्गन कर भीमसेन का सत्कार किया ।।४५।।

सुबोधिनी—महान् सर्वैः कृतत्वात् बद्धानामपि यथा श्रवणं भवति । भगवान् तथा संपादितवान् मगधेश्वरमरणानन्तरमेव तथा भवतीति बोधयितुं तदानन्तर्यमनूदितम् । ततो भीमात्तेजो ग्रहीतुं व्याजेनालिङ्गनं प्रशंसां च कृतवानित्याह पूजयामासतुर्भीममिति । अर्जुनोऽपि भगवदंश इति द्वयोर्निरूपणम् । स्तोत्रेण स्मये जाते तेजोऽपगच्छतीति स्तुतिः । जयोऽर्जुनः अच्युतश्च । उभयोर्गुणास्तस्मिन्न गच्छतीति तथापदम् ।४५।

व्याख्यार्थ—मगधेश्वर के मरने के बाद सर्व ने ऐसा महान् हाहाकार किया जो जहां बन्धे हुए राजा थे उन्हों को भी सुनने में आया, भगवान् ने हो वैसा सम्पादन करवाया कि मगधेश्वर के मरजाने के बाद यों महान् हाहाकार होवे तो बंधन में पड़े हुए राजा सुनकर प्रसन्न होवे और समझें कि हम अब बन्धन से छूटेंगे, पश्चात् भगवान् ने भीम में जो तेज स्थापित किया था वह ग्रहण करने के लिए आलिङ्गन और प्रशंसा रूप मिष कर भीम का आलिङ्गन और प्रशंसा की, अर्जुन ने भी अलिङ्गनादि किया, क्योंकि भगवदंश है इसलिए श्लोक में 'जयाच्पुतों' जय अर्जुन और अच्युत कृष्ण दोनों के नाम दिए हैं, स्तुति से प्रसन्नता होती है जिससे तेज चला जाता है दोनों ने इसलिए आलिङ्गन किया कि हम दोनों के गुण इस (भीम) में नहीं जावे इसलिए तथा पद दिया है ।।४५।।

श्लोक—**सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः ।**
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं विभुः ।
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये ।।४६।।

श्लोकार्थ—अप्रमेय स्वरूप, भूत भावन भगवान् ने उसके पुत्र सहदेव को मगध के राज्यासन पर अभिषेक कर इसको मगध का राजा बनाया और जरासन्ध ने जिन राजाओं को कैद किया था उन्हें कैद से छुड़ा दिया ।।४६।।

सुबोधिनी—ततः अराजकराज्ये स्थितिरयुक्तेति अन्यस्तस्मिन् देशे स्थापयितुमयुक्त इति अनुकूलस्तत्पुत्र इति सहदेवं तत्तनयं तत्रत्यानां भूतानामनुकम्पार्थमभ्यषिञ्चत् । यतो भगवान् सर्वसमः । ननु शत्रुं हत्वा तद्राज्यं स्वयं ग्राह्यं कथं तत्तनयाय दत्तवानित्याशङ्कायामाह अमेयात्मेति । भगवान् हितमहितं वा करोतीति न कस्यापि मेयः आत्मा यस्य । मगधानां स्वभावतोपि स पतिर्भवति तस्य विपरीतत्वेपि न काचित् क्षतिरिति ज्ञापयितुमाह विभुरिति । यदर्थमेतावत् कृतं तदाह मोचयामासेति । ननु येन निमित्तेन ते धृताः तदपगमाभावे कथं मोचनमित्याशङ्कयाह मागधेन संरुद्धा इति । मागधस्यैव मृतत्वात् हेत्वपगमः सुतरामेव जात इत्यर्थः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—बिना राजा के राज्य में स्थिती उचित नहीं है और उस देश में दूसरे देश का राजा राज्य पर बिठाना अयोग्य है अतः उसका पुत्र ही अनुकूल है, इसलिए उसके पुत्र सहदेव को वहाँ के रहवासी प्रजा की सहानुभूति के लिए राज्याभिषेक किया अर्थात् राजसिंहासन पर बिठाकर उसको वहां का राजा बनाया क्योंकि भगवान् को सर्व समान है, शत्रु को मार कर उसका राज्य अपने को ग्रहण करना चाहिए था उसके पुत्र को कैसे दिया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि भगवान् '**अमेयात्मा**' है अर्थात् भगवान् यह कार्य कर हित कर रहे हैं वा अहित कर रहे हैं इसको कोई नहीं समझ सकता है मगधों का स्वभाव से भी भगवान् ही पति है ही यदि जरासन्ध उनके विरुद्ध हुआ तो भगवान् की किसी प्रकार क्षति नहीं हुई यह जताने के लिए कहते हैं कि 'विभु' सर्व समर्थ हैं, भगवान् ने जिस कार्य के लिए यह लीला की है, वह कार्य कहते हैं कि 'मोचयामास' छुड़ाये, जिस निमित्त वे कैद में रखे गए उस निमित्त (कार्य) के पूर्ण हुए बिना क्यों छुड़ाया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'मागधेन संरुद्धा' मागध ने इनको कैद में रखा था मागध ही मर गया तो उनके कैद में रखने का हेतु आप ही समाप्त हो गया ।।४६।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
त्रयोविंशाध्यायविवरणम् उत्तरार्धे द्वाविंशाध्यायः ।।२२॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध २२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन
अवान्तर प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला के निम्न पद का अवलोकन करें

राग मारू

कंस खल दलन, रन राम रावन हतन,
दीन दुख हरन, गज मुक्त कारी।
नृपति चहुँ देस के बंदि जरासंघ के,
रैनि दिन रहत जिय दुखित भारी॥
सुनी जदुनाथ यह बात जब पथिक तैं,
धर्म सुत कैं हृदय यह उपाई।
राजसू जज्ञ कौ कियौ आरम्भ मैं,
जानि कै नाथ तुमकौ सहाई॥
भीम अरजुन सहित विप्र कौ रूप धरि,
हरि जरासंघ सौं जुद्ध माँग्यौ।
दियौ उनपे कह्यौ तुम कौऊ राजसी,
कपट करि विप्र को स्वांग स्वांग्यौ॥
हरि कह्यौ भीम अरजुन दोऊ सुभट ये,
कृष्न, मैं देखि लोचन उघारी।
बचन जो कह्यौ प्रतिपालता कौ करों,
कै सभा माँहि पत जाहु हरि॥
पार्थ तुम नहीं समरत्थ मम जुद्ध कौ,
भीम सौं लरौं यह कहि सुनाई।
बीस औ सप्त दिन यों गदाजुद्ध कियौ,
दोउ वलवंत कोउ लियौ न जाई॥
स्याम तृन चीरि दिखराइ दियौ भीम कौं,
भीम तब हरषि ताकौ पछारचौ।
जरा जरासंघ की संधि जोरचौ हुतौ,
भीम ता संधि कौ चीरि ड़ारचौ॥
नृपनि कौं छोरि सहदेव कौं राज दियौ,
देव नर सकल जय जय उचारचौ।
सूर प्रभु भीम अरजुन सहित तहां तैं,
धर्मसुत देस कौं पुनि सिधारचौ॥

* * *

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७३वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७०वाँ अध्याय
उत्तरार्ध २४वाँ अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—३"

जरासन्ध के बन्दीगृह से छूटे हुए राजाओं की विदाई और भगवान् का इन्द्रप्रस्थ लौट आना।

कारिका - **चतुर्विंशे विमुक्तानां ज्ञानेनाज्ञानमोचनम्।**
विषयात्मसमृद्धिं च प्राह कृष्ण इतीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस २४वें अध्याय में जरासन्ध को नाश कराके राजा जो कैद से छुड़ाये हैं उनको कृष्ण ने ज्ञान देकर उनका अज्ञान नष्ट किया यह कथा कही जाएगी ॥१॥

कारिका—**स्वधर्मैश्चेन्न पुष्टाः स्युर्निरोधस्तर्ह्यनर्थकः।**
अतः स्वासक्तिसिद्ध्यर्थं ज्ञानराज्ये ददौ हरिः ॥२॥

कारिकार्थ—उनको ऐसा उपदेश दिया है कि अयत्न सिद्ध विषयों से समृद्धि बढानी, यदि ये राजा अपने धर्म से पुष्ट न होवें तो इनका निरोध निरर्थक हो जावे,

अतः भगवान् ने इनका निरोध सार्थक करने के लिए इनको राज्य दिया, राज्य मद से भगवान् को भूल न जावें तदर्थ हरि ने ज्ञान भी दिया ।।२।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते निरुद्धा राजानो मोचिता इत्युक्तं तेषां मुक्तानां भक्त्याधिक्येन पूर्ववत् स्थितिर्निरूप्यते, तत्र प्रथमं निरोधस्थानान्निर्गमनमाह **अयुते द्वे** इति।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में यह कहा कि जरासन्ध के बन्धन में पड़े हुवे राजाओं को बन्धन से छुड़ाया, छुड़ाये हुवे उन राजाओं की भक्ति की अधिकता से पूर्व की भांति स्थिति निरूपण की जाती है, उसमें प्रथम निरोध स्थान से निकलना 'अयुते द्वे' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ।**
ते निर्गता गिरिद्रोण्या मलिना मलवाससः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, बीस हजार आठ सौ राजा जिनको लीला मात्र से युद्ध में जीत कर, जरासन्ध ने कैद किया था, वे मलीन वस्त्र और रूप वाले पर्वत की घाटी से बाहर निकल आए ।।१।।

कारिका—**एकविंशतिसाहस्रे वधस्तेषां हि संमतः ।**
ततः शतद्वयन्यूनास्तेन पूर्वं न मारिताः ।।

कारिकार्थ - जरासन्ध की इच्छा थी कि इक्कीस हजार राजा जब बन्दी बनेंगे तब उनका वध कर प्रमथनाथ को बलि दूँगा, किन्तु दो सौ कम थे इसलिए इनका वध नहीं किया ।

सुबोधिनी—एतज्ज्ञापयितुं संख्यामाह **अयुते द्वे शतान्यष्ट**विति । उलूखलबन्धनवदत्रापि शतद्वन्यूनता । एतावतामेकत्र कथं स्थितिरित्यत्र हेतुमाह **लीलया युद्धि निर्जिता** इति । **गिरिद्रोण्याः** सकाशा**न्निर्गताः मलिना** असंस्कृतदेहाः । **मलवाससो**ऽप्रक्षालितवाससः । अनेन बहिःस्थितिरधमा निरूपिता ।।१।।

व्याख्यार्थ—यह जताने के लिए संख्या बताते हैं कि, बीस हजार आठ सौ। भगवान् को यशोदा ने जब उलूखल में बान्धना चाहा तो वह रज्जु दो अङ्गुल न्यून रही जिससे भगवान् बन्धन में न आ सके उसी तरह यहां भी दो सौ राजा कम हुवे इतमें बीस हजार राजाओं की एकत्र स्थिति कैसे हुई ? यों होने का कारण कहते हैं कि 'युद्धि निर्जिता' युद्ध में जरासन्ध जीत कर लाया था। पर्वत की घाटी से जब बाहर आए तब मलीन देह वाले थे और कपड़े भी मैले पहने थे इससे उनकी बाहर आने के समय बाहर की हालत खराब थी ।।१।।

आभास—अन्तःस्थितिं निरूपयति ।

आभासार्थ—भीतर की स्थिति का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।**
ददृशुस्ते घनश्यामं पतिकौशेयवाससम् ।।२।।

श्लोकार्थ—भूख से दुबले, शुष्क मुख और कैद में रहने से बहुत कृश हो गए थे उन्होंने बाहर आके मेघ से श्याम, पीले कौशेय वस्त्र धारण किए हुए भगवान् का दर्शन किया ।।२।।

सुबोधिनी—**क्षुत्क्षामाः** रोगाद्यभावेऽपि भक्ष्याभावात् कृशाः । अन्तःसन्तोषाभावात् **शुष्कवदनाः** । इन्द्रियाणां पीडामाह **संरोधपरिकर्शिता** इति । परितः कर्शिताः क्लिष्टाः सर्वेन्द्रियेषु जातक्लेशाः । एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन परमापदमापन्नाः तत्क्षणादेव सर्वनिवृत्त्यर्थं भगवन्तं दृष्टवन्त इत्याह **ददृशुस्ते घनश्याम**मिति । यादृशमात्मानं भगवान् प्रदर्शितवान् द्वादशलक्षणोपेतं तादृशमनुवर्णयति **घनश्यामा**दिभिः पदैः । मानसो हि द्वादश वृत्तयः क्लिष्टा इति सर्वक्लेशनिवृत्त्यर्थं द्वादशधर्मप्राकट्यम् । तत्र शुष्काणामाप्यायनार्थं **घनवत् श्याम**मिति । नीलमेघो ह्याप्यायकः । अनेन देहक्लेशो निवारितः । वाक्क्लेशव्यावृत्यर्थमाह **पीतकौशेयवासस**मिति । पीतं वासो हि वेदात्मकं तत्रापि स्वकर्मबद्धजीवकोशनाशेन प्रादूर्भूतम् । निवृत्तिबोधिका श्रुतिरिति यावत् । अनेन ज्ञानसहिता वागाविर्भवतीति सूचितम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—रोगी नहीं थे तो भी कृश थे कारण कि उनको पूरा भोजन नहीं मिला था जिससे भूख से दुबले हो गए थे, अन्तः करण में सन्तोष न होने से सब के मुख मुरझा के सूख गए थे, कैद में बन्द रहने से सब इन्द्रियों में क्लेश होने से कृश हो गये थे, इस प्रकार बाहर और भीतर महान् आपदा में फँसे हुए उन राजाओं ने उसी क्षण ही आपदाओं से निवृति के लिए भगवान् के दर्शन किए, द्वादश लक्षण युक्त भगवान् ने जैसे स्वरूप से उनको दर्शन दिये वैसे स्वरूप का वर्णन करते हैं। भगवान् ने द्वादश धर्म इस लिए प्रगट किये थे जो मन की १२ वृत्तियाँ है वे सब दुःखी थी उनके दुःखों को छुड़ाना था उसमें शुष्कों को स्निग्ध करने के लिए मेघ की तरह श्याम धर्म धारण किया, श्याम मेघ ही स्निग्ध करता है। इससे देह का क्लेश निवृत्त किया, वाणी के क्लेश को मिटाने के लिए पीले कौशेय वस्त्र धारण किये हैं, पीले वस्त्र वेद रूप हैं उसमें भी अपने कर्म से बद्ध जीव कोश के नाश से उत्पन्न हुआ है यह श्रुति (वेद) निवृत्ति का बोध कराने वाली है, इससे ज्ञान सहित वाणी प्रकट होती है, यह सूचन किया ।।२।।

श्लोक—**पद्महस्तं गदाशङ्खरथाङ्गैरुपलक्षितम् ।**
किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदाचितम् ।।३।।

श्लोकार्थ—एक श्री हस्त में कमल धारण किया है, गदा, शङ्ख और चक्र से शेष

तीन श्री हस्त सुशोभित हैं, किरीट, हार कड़ा, कंदोड़ा तथा बाजूबन्द आदि आभूषणों से विभूषित ।।३।।

सुबोधिनी—ततो वसनक्लेशाभावाय अपामोषधीनां च रसरूपं **पद्मं हस्ते** प्रदर्शनार्थं यस्य । ततो ममेत्यहंकारस्त्रिध इति तन्निवृत्त्यर्थं **गदाशङ्खरथाङ्गैः उपलक्षितं** स्त्रीपुंनपुंसकहेतिप्रयोगेण त्रिविधानामपि छेदनम् । एतावन्त एव हि ममताविषयाः । उपलक्षणत्वं तु सकृदेव निराकरणात् पुनः प्रयोजनाभावं ज्ञापयति **किरीटा**दिभिः पञ्चविधैरलङ्कारैः पूजितश्चक्षुःक्लेशाभावाय । पञ्चविधं हि रूपमिति नीलश्वेतपीतरक्तचित्रभेदाद् अन्येषामत्रैवान्तर्भाव ।।३।।

व्याख्यार्थ—श्री हस्तमें कमल इसलिए धारण किया है कि जल एवं औषधियों का यह कमल रस रूप है अतः इसके धारण से वस्त्रों के पहिनने का क्लेश नाश हो गया है, पश्चात् तीन प्रकार के अहङ्कार की निवृत्ति के लिए तीन आयुध शेष तीन हस्तों में धारण किए हैं, जिनसे स्त्री पुम् और नपुंसक रूप इन शस्त्रों से तीनों प्रकार के अहंकार का छेदन किया है, इतने ही ममता के विषय हैं, उपलक्षणत्व को तो एक बार ही निराकरण करने से फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता है, यह जताने के लिए किरीट आदि पांच प्रकार के आभूषणों से पूजित अर्थात् सुशोभित नेत्रों के क्लेश का अभाव करने के लिए रूप नील, श्वते, पीत, रक्त और चित्रित भेद से पांच प्रकार का ही होता है अन्यों का इनमें ही अन्तर्भाव है ।।३।।

आभास—श्रीवत्साङ्कमिति ।

आभासार्थ—श्रीवत्साङ्क श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।**
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ।।४।।

श्लोकार्थ—श्रीवत्स के चिन्ह वाले, चार भुजा धारी कमल के गर्भ के समान नेत्र वाले सुन्दर और प्रसन्न मुख वाले झलकते कुण्डल वाले ।।४।।

सुबोधिनी—पादक्लेशाभावः ब्राह्मणपादक्लेस्तत्रैव निवारितः । **चतुर्बाहु**मिति हस्तयोः क्रियाया द्विगुणीकरणात् । **पद्मगर्भवदरुणे** ईक्षणेयस्येति मनसःक्लेशाभावः । नासिकयोर्वा । **चारु प्रसन्नं वदनं** यस्येति सर्वकामनापूर्त्या कामक्लेशनिवृत्तिः । **स्फुरन्मकरकुण्डल**मिति श्रोत्रस्य ॥४।।

व्याख्यार्थ—श्रीवत्स के चिन्ह से भृगु के चरण के क्लेश की निवृत्ति दिखाई । चतुर बाहु का भावार्थ है कि हस्तों के क्रिया को दुगुना किया है, कमल के गर्भ के समान नेत्र कहने से बताया है कि मानसिक क्लेश नहीं है अथवा नासिकाओं के क्लेश का अभाव दिखाया है । सुन्दर प्रसन्न मुख होने से यह दिखाया है कि सर्व काम पूर्ण होने से काम क्लेश की निवृत्ति हो गई है, मकराकृति कुण्डलों की चमक से श्रोतों के क्लेश का अभाव प्रकट किया है ।।४।।

श्लोक—**भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।**
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।।५।।

श्लोकार्थ—कौस्तुभ मणि जिनके कण्ठ में देदीप्यमान हो रही है, वनमाला जिन्होंने धारण की है ऐसे भगवान् को, मानो नेत्रों से पीते हैं और जीभ से चाटते हैं ।।५।।

सुबोधिनी—**भ्रात**त्प्रकाशमानो यो **मणिः** स **ग्रीवायां** यस्येति । ज्ञानक्रिययोर्मध्यस्थेन जीवोत्क्रमक्लेशो निवारितः । **निवीतं वनमालये**ति व्यापिका कीर्त्या त्वक्स्पर्शक्लेशो निवारितः। एतादृशं भगवन्तं दृष्ट्वा सर्वेन्द्रियाण्यहमहमिकतया रूपरसगन्धस्पर्शार्थं प्रवृत्तानि इति वदन् तेषां भगवति सर्वभावप्रवृत्तिमाह **पिबन्त इव चक्षुर्भ्या**मिति । चक्षुषा हि रूपलावण्यामृतं पीयते, दर्शनं बहिःस्थितावेव, पानमन्तःप्रवेशनमिति विशेषः । उभाभ्यां पानं द्विहस्तभोजतवदत्यासक्ति बालभावं वा बोधयति । रसग्रहणार्थमाह **लिहन्त इव जिह्वये**ति गौर्वत्समिव । तथाभूतं भगवन्तं दृष्ट्वा तेषां तथाभावो जात इत्यर्थः ।।५॥

व्याख्यार्थ—दीप्तिमान् मणि जिनके कण्ठ में है, जिससे बताया है, कि ज्ञान और क्रिया का मध्य भाग कण्ठ है, क्योंकि ज्ञान मस्तक में रहता है और क्रिया शरीर में, इन दोनों को मिलाने वाली ग्रीवा है जो मध्य में है, उस ग्रीवा में मणि अर्थात् चैत्य तत्व धारण किया है जिससे जीव के उत्क्रम में क्लेश न होगा । सारे शरीर पर वनमाला व्याप्त थी, वनमाला कीर्तिरूप है, जिससे त्वचा के स्पर्श के क्लेश का निवारण किया, ऐसे भगवान् का दर्शन कर समस्त इन्द्रियाँ रूप-रस गन्ध के स्पर्श के लिए यों चाहने लगी कि मैं पहले जाकर पान करूं-जिसका वर्णन करते हैं कि 'पिवन्त इव चक्षुर्भ्यां' नेत्रों से ही लावण्यामृत पीया जाता है। दर्शन तो बाहर स्थित होकर किया जाता है। पान तो भीतर प्रवेश से होता है, इतना विशेष है। दोनों नेत्रों से पीना लिखा है जिसका भावार्थ यह है कि जैसे दो हस्तों से भोजन बालक करते हैं तो आपने भी दो नेत्रों से पान कर बाल भाव प्रकट किया है अथवा यों पीने से अत्यासक्ति दिखाई है। 'लिहन्त इव जिव्हया' लिख कर यह प्रगट किया है कि रस का ग्रहण कर रहे हैं जैसे गौ का बछड़ा चाटता है वैसे ही भगवान् को देख उनमें वैसा भाव प्रकट हो गया, यह तात्पर्य है ।।५॥

आभास—गन्धानुभवार्थमाह **जिघ्रन्त इव नासाभ्या**मिति ।

आभासार्थ—गन्ध के अनुभावार्थ 'जिघ्रन्त इव' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।**
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्नृपाः ।।६।।

श्लोकार्थ—नासिकाओं से मानो सूंघते हुए, भुजाओं से मानो आलिङ्गन करते हुए राजाओं के सर्वपाप व कष्ट नष्ट हो गए । जिससे हे राजा ! वे मस्तकों से चरणों में पकड़कर प्रणाम करने लगे ।।६।।

सुबोधिनी—पूर्ववद्व्याख्येयम् । स्पर्शार्थमाह **रम्भन्त इव बाहुभिरिति** । रम्भणमालिङ्गनं परिरम्भ इति यावत् । अत्र बहुवचनं नानाविधस्पर्शग्रहणार्थमवयवगतमभिप्रेतं चतुर्भुजत्वलक्षणं सारूप्यदानं वा बोधयति । एवं लौकिकभावेन भगवन्तमात्मसात्कृत्वा ततस्तृप्ताः सन्तः क्लेशनाशे ज्ञानोदये विदितभगवदैश्वर्याः 'नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितम्' इति शास्त्रानुसारेण कर्तव्यान्तराभावात् स्नेहपूर्वकं नमस्कारं कृतवन्त इत्याह **प्रणेमुरिति** । **प्र**शब्देन स्नेहं बोधयति । नमो नम इति वीप्सया स एवाभिप्रेत इति । नन्वेतादृशी बुद्धिः कथमेतेषां संजाता, तादृशा एवेति न मन्तव्यं निरुद्धत्वादित्याशङ्क्याह **हतपाप्मान** इति । दर्शनेन भोगस्मरणाभ्यां च त्रिविधमपि पापं नष्टं ततः शुद्धाः सन्तः स्वस्य ज्ञानरूपमात्मानं परब्रह्मण्यक्षरे भगवच्चरणारविन्दे योजयन्त इवान्तर्याम्यवतारभेदेनोभयत्राप्यन्तर्बहिःसायुज्यार्थं **पादयोः मूर्धभिरित्युक्तम्** । **नृपा** इति विचक्षणाः । अनेनैव राज्यभोगार्थाभावः सूचितः ॥६॥

व्याख्यार्थ—जैसे नेत्रों से लावण्यामृत पान किया वैसे नासिकाओं से गन्ध का ग्रहण किया, भुजाओं से आलिङ्गन कर भगवान् के श्री अङ्ग के अवयव गत जो आनन्द है उसको अनेक प्रकार के स्पर्श करते हुए ग्रहण किया अथवा आलिङ्गन से सारूप्य दान का ग्रहण किया, यों लौकिक भाव से भगवान् के आत्मसात् से तृप्त हो गए अतः क्लेश नष्ट हो गया जिससे ज्ञान का उदय हुआ। उस ज्ञान से भगवान् के ऐश्वर्य को जान गए । जिससे 'नमो नम' यह इतना उपदेश सीख गए यों शास्त्र के अनुसार दूसरा कर्त्तव्य न होने से स्नेह पूर्वक नमस्कार करने लगे, 'प्रणेमु' पद में 'प्र' शब्द स्नेह बोधक है 'नमो नम' यों वीप्सा से वह ही अभिप्रेत है, इनकी ऐसी बुद्धि कैसे हो गई ? वे ऐसे ही थे यों तो माना नहीं जा सकता है क्योंकि वे कैद में थे, इस शङ्का का निवारण करते हैं कि 'हतपाप्मान' भगवान् के दर्शन और भोग से तथा स्मरण से तीन प्रकार के सब पाप नष्ट हो गये, उससे शुद्ध हुवे अपने ज्ञान रूप आत्मा को परब्रह्म के अक्षर स्वरूप चरणारविन्द में मानो जोड़ते हुए, अन्तर्यामी और अवतार के भेद से दोनों में भी भीतर बाहर सायुज्य के लिए चरणों में मस्तकों से प्रणाम करने लगे । 'नृपाः' ! संबोधन से बताया कि विचक्षण थे, इससे राज्य भोग अर्थ का अभाव दिखाया है ॥६॥

आभास—ननु क्लेशाभावार्थं कथं न नमस्कृत इत्याशङ्क्याह **कृष्णसंदर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः** इति

आभासार्थ—क्लेश के अभाव के लिए क्यों नमस्कार नहीं की ? इस शङ्का निवारण के लिए 'कृष्ण संदर्शनाह्लाद' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**कृष्णसंदर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।**
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री कृष्णचन्द्र भगवान् के दर्शन से उत्पन्न आनन्द से जिनके कैद होने के क्लेश नष्ट हो गये हैं; ऐसे राजा लोग हाथ जोड़कर वचनों से स्तुति करने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—सदानन्दस्यान्तःप्रवेशरूपेण दर्शनेन जातानन्देन सूर्योदये तम इव **ध्वस्तः संरोधनक्लमः** ग्लानिर्येषां एवं सर्वभावेन सिद्धसमस्तपुरुषार्थाः एतादृशस्थितिदार्ढ्यार्थं भगवत्प्रेरणयैव भगवत्संतोषार्थं भगवत्स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह **प्रशशंसुरिति** । भगवत्प्रेरिता वाक् यथासुखं तं स्तौति तेषां न कापि चिन्तेति बोधयति **हृषीकेशमिति** । **प्राञ्जलय** इति चित्तशरीरसावधानता । नीतिज्ञानार्थमाह **नृपा** संबोधनपक्षेऽपि तथोचितत्वं बोधयति ॥७॥

व्याख्यार्थ—राजाओं को जो भगवान् का दर्शन हुआ वह केवल साधारण बाहर दर्शन नहीं हुआ था, किन्तु सदानन्द स्वरूप के भीतर प्रवेश होने से जो दर्शन हुआ उससे आनन्द प्रगट हुआ जिस आनन्द के प्रकट हीने से जैसे सूर्योदय से अन्धकार नाश होता है वैसे राजाओं के कैद के क्लेश नष्ट हो गए, इस प्रकार सर्व भाव से समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो गए, इस प्रकार की स्थिति को दृढ़ करने के लिए, भगवत्प्रेरणा से ही भगवान् के सन्तोषार्थ भगवान् की स्तुति करने लगे । इस लिए कहा है कि 'प्रशशंसु': भगवान् से प्रेरित की हुई वाणी जैसे सुख की प्राप्ति हो वैसे भगवान् की स्तुति करती है, इसलिए उन राजाओं को कुछ भी चिन्ता नहीं, इसलिए समझाते हैं कि भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं अतः उनकी प्रेरित इन्द्रियाँ उनके सुखानुकूल ही कार्य करेगी, 'प्राञ्जलय': पद से यह बताया है कि हाथ जोड़ने से सावधान शरीर वाले हो गए, नृप कहने से बताया है कि इनको नीति का ज्ञान है यदि 'नृपा' संबोधन माना जाय तो भी जो किया है वह उचित ही है ॥७॥

कारिका—**सगुणास्ते महात्मानो गुणातीतं हरिं मुदा ।**
नवभिः श्लोकयामासुर्निर्गुणत्याय सर्वशः ॥
प्रार्थना मत्सराभावो गतराज्यानुमोदनम् ।
युक्तिस्तत्र स्वदोषोक्तिः स्वभाग्यस्याभिनन्दनम् ॥
वैराग्यमुपदेशस्य प्रार्थना स्वाधिकारिता ।
क्रमान्निरूपिता ह्यर्था यतस्तान् सुष्ठुबोधयत् ॥

कारिकार्थ—वे राजा लोग सगुण हैं, अतः निर्गुण होने के लिए गुणातीत हरि की नव श्लोकों से स्तुति करते हैं ॥१॥

पहले श्लोक में-प्रार्थना, दूसरे श्लोक में मत्सर का अभाव, तीसरे में गए हुए राज्य का अनुमोदन, चौथे में युक्ति, पाँचवे में अपने दोष की प्रसिद्धि, छटे में अपने भाग्य का अभिनन्दन, साँतवे में उपदेश की प्रार्थना, आठवे में अपना अधिकारपन दिखाना, नवम से भगवान् के उपदेश का प्रारम्भ, उपदेश द्वारा उनको सुन्दर ज्ञान दिया ।

आभास— आदौ प्रार्थयितुं नमस्यन्ति **नमस्त** इति ।

आभासार्थ—पहले प्रार्थना करने के लिए 'नमस्ते श्लोक में प्रणाम करते हैं—

श्लोक—राजान ऊचुः—**नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।**
प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥८॥

श्लोकार्थ—राजाओं ने कहा, हे देवों के देवों के ईश! शरणागतों के दुःखों का हरण करने वाले हे अविकारी ! घोर संसार से व्याकुल होकर आपकी शरण ली है, अतः हे कृष्ण ! शरणागतों की रक्षा करो ॥८॥

सुबोधिनी—तुभ्यं **नमः**। प्रार्थितदानसामर्थ्यार्थमाह **देवदेवेश** इति। देवानामपि देवाः कालादयस्तेषामपि नियन्तेति । विद्यमानेऽपि सामर्थ्ये परदुःखप्रहाणेच्छा मृग्यत इति तामाह **प्रपन्नार्तिहरेति** अनुभवसिद्धश्चायमर्थः। भक्तार्थं व्यावृतावपि भगवतो न काचित् क्षतिरित्याह **अव्ययेति** । **प्रपन्नानामेवार्ति** हरतीति। तस्य स्वाभावमुक्त्वा स्वस्य प्रपत्तिमाहुः **प्रपन्नान् पाहि नः कृष्णेति** । रक्षणस्थानं निर्दिशन्त इवाहुः **निर्विण्णान् घोरसंसृतेरिति**। घोरत्वमनुभूतमेव। जन्ममरणपरंपरा संसृतिः ॥८॥

व्याख्यार्थ—आपको नमस्कार है आप देवों के देव जो कालादि हैं उनके भी स्वामी हैं अतः हमारी प्रार्थनानुकूल दान देने में समर्थ हैं, सामर्थ्य होने पर भी दूसरों के दुःखों के नाश की इच्छा है या नहीं ? इस पर कहते हैं कि शरणागतों की आर्ति को आप हरने वाले हैं, यह अर्थ अनुभव से सिद्ध है, भक्त के लिए कुछ भी करने में व्यावृत होने पर भी आप (भगवान्) की किसी प्रकार हानि नहीं हैं क्योंकि 'अव्यय' अर्थात् अविकारो हो, शरणागतों के दुखों को हरण करना यह प्रभु का स्वभाव ही है यह कहकर अनन्तर कहते हैं कि हम शरण पड़े हैं अत हम शरणागतों की रक्षा कीजिये, घोर जो जन्म मरण का दुःख है उससे हम व्याकुल हो गए हैं इस प्रकार इस प्रथम श्लोक में प्रार्थना की है ॥८॥

आभास—एवं पालनं प्रार्थयित्वा पूर्वं भगवता कृतं मोचनं लौकिकं चेत्फलत्वेन मन्यते तदा दुःखहानिवत्सुखमपि भगवान् लौकिकमेव दास्यतीति तन्निषेधार्थं दुःखदातरि मात्सर्याभावमाहुः **नैनं नाथान्वसूयाम** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार पालन की प्रार्थना की, भगवान् ने जो आपको छुड़ाया यह लौकिक फल मानते हो तो दुःख नाश की तरह भगवान् सुख भी लौकिक ही देंगे, भगवान् यों कभी न करेंगे, क्योंकि उस दुःख दाता में असूया नहीं है यह 'नैनं नाथान्वसूयामों' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन ।**
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥९॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ! हे मधुसूदन ! हम मगध से असूया नहीं करते हैं, हे सर्व समर्थ ! राजाओं का राज्य से भ्रष्ट होने को हम आपका अनुग्रह ही समझते हैं ॥९॥

सुबोधिनी—**एनं** हतं पातितं जरासंधम्। ननु त्वदर्थमेवायं मारितः कथमेवमुच्यत इत्याशङ्कायामाह हे **नाथेति**। नाथत्वादेव कृतं न त्वस्मत्प्रेरणयेत्यर्थः । असूया दोषारोपेण दर्शनं निर्दुष्टानस्मान् दोषयुक्तानकरोदिति दुष्टोऽयमिति। किंच । **मागधोऽयं** देशदोषादस्याप्येवं बुद्धिः। तव च नायं पराक्रमः यतस्त्वं **मधुसूदनः**। असूयाभावे हेतुं स्पष्टयन्ति **अनुग्रहो यद्भवत** इति। **राज्ञां राज्यच्युतिः** सन्निपातिनामिव सन्निपातनिवृत्ति**र्भवतोऽनुग्रहः**। न ह्यनुग्रहसंपादकः असूयार्हो भवति। नन्विष्टसाधनं राज्यं तस्मिन् गते कथमिष्टं भविष्यतीत्याशङ्कायामाहुः **विभो** इति ॥९॥

व्याख्यार्थ—राज्य से गिराये तथा मारे हुए इस जरासन्ध से हम असूया नहीं करते हैं, आपके लिए ही तो इसको हमने मारा है फिर आप यों कैसे कहते हो? इसका उत्तर देते हैं कि, हे नाथः आप नाथ हैं, नाथ होने से ही किया है, न कि हमारी प्रेरणा से किया है, यह भाव है, यह जरासन्ध दुष्ट है इसलिए हम लोग, जो दोष रहित हैं, उनको असूया से दोषी बनाया है, और विशेष यह है, कि इसको ऐसी बुद्धि देश दोष से भी हुई है, इसको मारा, इससे कोई आपका पराक्रम प्रकट नहीं होता है, क्योंकि आप तो मधुसूदन हैं, असूया के न होने में हेतु देकर स्पष्ट करते है 'अनुग्रहो यद्भवत' राजाओं को राज्य से भ्रष्ट करना तो उन पर अनुग्रह है, जैसे सन्निपात के रोगियों को सन्निपात से छुड़ाना उन पर अनुग्रह है । अनुग्रह करने वाला मात्सर्य के योग्य कभो नहीं होता है अर्थात् वह मात्सर्य वाला नहीं कहा जाता है, वह तो कृपालु है जो उसने रोग से छुड़ाकर नीरोगा बनाया है, इष्ट को सिद्ध करने वाला राज्य जावे तो फिर इष्ट की प्राप्ति कैसे होगी ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप 'विभू' हैं अर्थात् सर्व समर्थ हैं अतः राज्य बिना सच्चा इष्ट सिद्ध करा सकते हैं ॥९॥

आभास—राज्यस्यानर्थहेतुत्वमाहुः **राज्यैश्वर्येति**।

आभासार्थ—'राज्यैश्वर्यं' श्लोक से कहते हैं। कि राज्य अनर्थ का हेतु है—

श्लोक—**राज्यैश्वर्यमदोनद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।**
त्वन्मायामोहितो नित्या मन्यते संपदोऽचलाः ॥१०॥

श्लोकार्थ—राज्य के ऐश्वर्य से उत्पन्न मद से उन्मत्त बना हुआ राजा अपने कल्याण को समझ नहीं सकता है और आपकी माया से मोहित होकर सम्पदाओं को स्थिर एवं नित्य समझता है ॥१०॥

सुबोधिनी—**राज्ये यदैश्वर्यं** इश्वरोऽहं यथासुखं करिष्यामीति यो **मदः** तेन **उन्नद्धो** मत्तः यत् स्वस्य **श्रेयो** धर्मादिकं तन्न जानाति कदापि न प्राप्नोति वा। न च तस्य कामदशा सेति धर्मादिकं नास्त्येवेति मन्तव्यं यतो नृपः प्रजारक्षाधर्मवान्, तदपि व करोतीति तात्पर्यम्। नन्वर्थोऽपि श्रेयो भवति तत् संपादनं करोतीति कथमेवमुच्यत इत्यत आहुः **त्वन्मायामोहित** इति। सत्यं संपदः श्रेयो भवति परं समूलाश्चेत् तासां मूलं धर्मादिः तदभावे अमूलाः सत्यः क्षणान्निवर्तन्ते एतादृशीः **संपदः** भगवन्**मायामोहितः नित्या** एव **मन्यते अचलाश्च**। अल्पनाशश्चलनं सर्वनाशोऽनित्यता तस्मान्मोहजनकत्वात् निर्मूलाः संपदः न समीचीनाः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—राज्य प्राप्त होने पर जो ऐश्वर्य मिलता है जिससे समझने लगता है कि मैं ईश्वर हूं, सब कुछ सुख पूर्वक करूंगा इस प्रकार का जो मद उससे मत्त हो जाता है जिससे अपना जो श्रेय प्रजारक्षा धर्मादिक उसको नहीं जान सकता है, अथवा कभी भी श्रेय को प्राप्त नहीं होता है, उसकी वह कामदशा नहीं है, किन्तु धर्मादिक उसमें नहीं है यों समझना चाहिए क्योंकि राजा का धर्म है प्रजा की रक्षा करना, वह भी अभिमान में आकर नहीं करता है, कहने का यही तात्पर्य है। जिसके अर्थ भी श्रेय होता है उसका सम्पादन करता है तो फिर इस प्रकार आप कैसे कहते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपकी माया से मोहित हो सत्य सम्पदाएं जो श्रेय हैं यदि वे समूल हो जिसका मूल धर्मादि है उस धर्मादि के अभाव में वे श्रेय सम्पदाएं निर्मूल होने से क्षण में नष्ट हो जाती है, ऐसी क्षणिक सम्पदाओं को भगवान् की माया से मोहित नित्य तथा स्थिर मानता हैं, अल्प नाश को चलन कहते हैं, सर्वनाश को अनित्यता कहते हैं इस कारण से मोह पैदा करने वाली संपदाएं निर्मूल होने से अच्छी नहीं है ।।१०।।

आभास—किंच । संपदां सर्वथा दुष्टत्वं नास्ति किंतु निर्मूलानामेवेति निरूप्य सर्वथा दुष्टत्वं दृष्टान्तेनाहुः **मृगतृष्णामिति** ।

आभासार्थ—सम्पदाएं सवर्था दुष्ट नहीं हैं किन्तु जो निर्मूल सम्पदाऐं हैं वे दुष्ट हैं यों निरूपण कर अब संपदाओं की दुष्टता सर्वथा है यह दृष्टान्त देकर 'मृगतृष्णा' श्लोक में समझाते हैं—

श्लोक—**मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।**
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ।।११।।

श्लोकार्थ—यद्यपि ये सम्पदाएं अनित्य हैं तो भी ये सदा स्थिर रहेगी यों वे मानते हैं जैसे बालक मृगतृष्णा के जल को जलाशय समझते हैं वैसे जो आपका भजन करते हैं वे विकार वाली माया को सत्य वस्तु समझते हैं ।।११।।

सुबोधिनी—दृष्टिमात्रेण संपदात्वं वस्तुतस्त्वर्थशून्यत्वादात्वमेव यथा मरुमरीचिकायां जलबुद्धिः । प्रत्युत ग्रीष्मे धावनं कारयन्ती अनर्थहेतुरेव । तथापि **बाला** विवेकशून्याः युक्त्या बाधितजलदेशेपि तां जलाशयमेव । **मन्यते एवमयुक्ता**स्त्वच्चरणारविन्दयोग रहिताः **वैकारिकीं** नानाविकाररूपां बाधितार्थामपि **मायां वस्तु चक्षते** । न ह्यात्मनि विकल्पो नानाविधत्वं वा भवति तथापि विकारजातं वस्तुत्वेन मन्यमानः मायामोहित एव भवति । ।।११।।

व्याख्यार्थ—केवल देखने में तो सम्पदा आवे वास्तव में कोई पदार्थ उसमें नहीं जिससे आपदा ही प्राप्त होती है, जैसे मरूमरीचिका (बालु रेत) में जल की बुद्धि, जो ग्रीष्म ऋतु में उस तरफ दौड़ती है किन्तु अन्त में जल न मिलने से अनर्थ हेतु ही होती है, जैसे बालक अर्थात् मूर्ख, युक्ति से वह प्रदेश जल हीन है तो भी उसको बड़ा नद ही मानते हैं इस प्रकार जिनका आपके चरणारविन्द से योग नहीं हुआ अर्थात् जो आपका भजन नहीं करते हैं वे इस विकार वाली और जो कुछ पदार्थ है ही नहीं उसको पदार्थ समझते हैं, आत्मा में विकल्प वा नाना प्रकार नहीं होता है तोभी विकार जात की माया से मोहित हो वस्तुपन से मानते हैं ।।११।।

आभास—ननु भ्रान्तानामेव संपदोनर्थहेतव न युष्माकमित्याशङ्कायामाहुः **वयं पुरेति** ।

आभासार्थ—जो भ्रान्त हैं उनके लिए ही सम्पदाऐं अनर्थ हेतु हैं न कि तुम्हारे लिए, इस शङ्का का उत्तर 'वयं पुरा' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**वयं पुरा श्रीमदनष्टबुद्धयो जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।**
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वावगणय्य दुर्मदाः ।।१२।।

श्लोकार्थ—हमारी भी पहले लक्ष्मी के मद से बुद्धि नष्ट हो गई थी, जिससे हम इस पृथ्वी को जीतने की इच्छा से आपस में ईर्ष्या करते थे, हे प्रभु ! हम दुर्मद हो, सामने स्थित मृत्यु को ध्यान में न लाकर अति निर्दयी बन अपनी प्रजाओं का हनन करते थे ।।१२।।

सुबोधिनी—**श्रीमदेन नष्टा बुद्धिर्येषां वयं** तु सुतरामेव पुरैव नष्टाः । यतः**अस्याः** पृथिव्याः **जिगीषया इतरेतरस्पृधो** जाताः । स्पर्धा ह्यात्मनो मुख्यो नाशहेतुः । न केवलं समानशीलेषु स्पर्धैव दोषः किंतु तदीयाः **प्रजाः अतिनिर्घृणाः** सन्तः जाताः । **स्वा** अपि प्रजा वृथादण्डादिभिः । **प्रभो** इति संबोधनं तेषामप्रभुत्वं सूचयति । ननु राज्यदानसमय एव भगवताः राज्यस्थिताः सर्वं एव तेभ्यो दत्ता इति स्वकीया यथा सुखं कुर्वन्तु को दोष इति चेत् तत्राहुः **त्वां मृत्युं पुरः** स्थितम**वगणय्ये**ति । स हि मृत्युर्भगवान् किमयं करिष्यतीत्यग्रे निलीय तिष्ठति अन्यथाकृते मारयिष्यतीति ज्ञात्वपि तमवगणय्य स्थिताः । एवं मतिविभ्रमे हेतुः **दुर्मदा** इति ।।१२।।

व्याख्यार्थ—लक्ष्मी के मद से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, हम तो पहले ही इसलिए ही नष्ट हो चुके थे, क्योंकि इस पृथ्वी को जीतने की इच्छा से परस्पर ईर्ष्या वाले हो गए थे। ईर्ष्या ही अपने नाश का मुख्य कारण है, समान शील वालों में ही केवल स्पर्धा हो यह दोष नहीं था, किन्तु अपनी जो प्रजाऐं थी उनको भी अति निर्दयी हो व्यर्थ दण्ड आदिकों से दुःख देते थे, प्रभो ! इस सम्बोधन से अपना अ प्रभुत्व सूचित करते हैं, भगवान् ने राज्य देने के समय ही राज्य में स्थित सर्व द्रव्यादि इनको दे दिया क्योंकि अपने हैं अतः जैसे सुख मिले वैसे भले करें इसमें कौनसा दोष है ? यदि यों कहो तो कहते हैं कि आप जो मृत्यु रूप सामने खड़े हो उसका भी तिरस्कार कर रहे हैं यह भगवान् मृत्यु है किन्तु क्या करेगा ? छुप कर रहता है अन्यथा करने पर मारेंगे यह जान कर भी उसका तिरस्कार करते रहते हैं क्योंकि मति का विभ्रम हो गया है जिसमें कारण है कि 'दुर्मदा' दुष्ट जो मद उससे हम युक्त हैं अर्थात् हम मद में आ गए हैं ।।१२।।

आभास—तर्हि भगवान् किमुपेक्षां कृतवान् मारितवान् वेत्याशङ्कायामाहुः **त एवेति** ।

आभासार्थ—तो भगवान ने क्या उपेक्षा की अथवा मारा ? इस शङ्का का उत्तर 'त एव' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ।।१३।।

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! वे ही हम आज आपकी कृपा से, गंभीर वेग वाले, आपके शरीर रूप, अपार बल वाले काल ने लक्ष्मी छीनली जिससे गर्वहीन हो आपके चरणों का स्मरण करते हैं ।।१३।।

सुबोधिनी—**कृष्णे**ति स्नेहात् संवादेन जातधाष्टर्यानां संबोधनम् । **अद्ये**ति नैतत्परोक्षम् । किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **गभीररंहसा** गभीररयेण **कालेन श्रियः** सकाशाद्**विचालिता** । कालस्य सामर्थ्ये तत्र द्वेषाभावे च हेतुः **भवतस्तन्वे**ति । कालं वञ्चयितुं देषान्तरगमनं वारयति **गभीररंहसे**ति । प्रतीकारं वारयति **दुरन्तवीर्येणे**ति । ननु मम तत्वेति कथं निश्चितं तत्राहुः यतो राज्य भ्रंशानन्तरं **भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाः** । गतदोषाः सन्तः **चरणौ स्मरात ते** । महान्त गुणं प्राप्ताः यदि भगवानेव तथा न कुर्यात्तदा राज्यभ्रंशे सुतरामेव सद्बुद्धिर्न स्यात् भगवांस्त्वतिकृपालुः अनर्थात्त्याजयित्वा परमार्थे योजित वानिति कार्यानुरोधात् कालस्य तव शरीरत्वमध्यवसीयते ।।१३।।

व्याख्यार्थ—कृष्ण! यह संबोधन राजाओं ने तब दिया है जब उनमें स्नेह से भगवान् से संवाद करते हुए धृष्टता उत्पन्न हो गई । 'अद्य' पद से यह बताया कि यह परोक्ष नहीं किन्तु सामने ही है अर्थात् आज क्या हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि गभोर वेग वाले काल से हम लक्ष्मी से दूर हो गए, काल मे इतनी सामर्थ्य कहाँ से आई? द्वेश के भी अभाव में हेतु देते हैं 'भवतःतन्वा आप का ही शरीर है, अतः आपके शरीर में दूसरे से तो सामर्थ्य आने की नहीं है, स्वयं शक्तिमय हैं, और आप होने से द्वेष का भी अभाव स्वतः सिद्ध है, काल को ठगने के लिए दूसरे देश में चला जाना था जिसके उत्तर में कहते हैं 'गभीर रहसा' वह काल जबर्दस्त वेग वाला है वहाँ भी पहुंच जाने में जिसको देरी नहो लगती है, यों नहीं कर सकते तो प्रतीकार करना था, जिसका उत्तर देते हैं कि उसमें इतना वीर्य है जिसका अन्त लेना कठिन है, काल मेरा शरीर है यह कैसे जाना, तो कहते हैं कि आप की कृपा से अभिमान नष्ट हो गया, अभिमान नाश होने से सब दोष निकल गए, जिससे आपके चरणों का स्मरण करता हूँ, अतः महान् गुण को प्राप्त हुए यदि भगवान् ही वैसा न करे तो राज्य भ्रंश होने पर भी आपही सद्बुद्धि नहीं आती है भगवान् ने तो, बहुत कृपालु होने से, अनर्थ से छुड़ा कर परमार्थ में लगा दिया, यों कार्य के अनुरोध से 'काल' आपका शरीर समझा जाता है ।।१३।।

आभास—ननु दोषसहितानामेव राज्यमनर्थहेतुः यथा ज्वरसहितानामन्नम् । अतः सांप्रतं दोषस्य निवृत्तत्वात् राज्यं गृह्णन्त्वित्याशङ्कायामाहुः **अथो न राज्यं मृ तृष्णिरूपितमिति** ।

आभासार्थ—दोष वालों के लिए ही राज्य अनर्थ का हेतु है जैसे ज्वर वालों को अन्न अनर्थ का हेतु हैं, अतः अब दोष निवृत्त हो गए हैं राज्य ग्रहण करो, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अथो न राज्यं'—

श्लोक—अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत्पतता रुचां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचकम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—रोग के गृह और निरन्तर नाश होने वाली देह से मृगतृष्णा समान राज्य को भोगना हम नहीं चाहते हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु परलोक में कर्णप्रिय फल वाले स्वर्ग को भी नहीं चाहते हैं ।

सुबोधिनी—अनेन इहामुत्र दोषप्रदर्शनपूर्वकं वैराग्यं निरूप्यते । **अथो** दोषगमनान्तरं **राज्यं न स्पृहयामहे** । राज्यस्य स्वरूपतो दोषमाह **मृगतृष्णिरूपितमि**ति । अर्थशून्यमिति यावत् । अस्य करणं त्वतिदुष्टमित्याह **देहेनोपासितव्य**मिति । न हि राज्यमात्मना सेव्यं किंतु देहेनैव देहस्तु विद्यमानदशायाम् । अग्रे च दुष्टमिति दोषद्वयमाह **शश्वत्पतता** सर्वदा मृत्युग्रस्तेन **रुजां भुवा** रोगोत्पत्तिस्थानेन अतः स्वतः परिकरतश्च दुष्टत्वात् वयं न **स्पृहयामे** । एवमैहिकफले दोष उक्तः । पारलौकिकेप्याह **क्रियाफलं** च **प्रेत्य** न स्पृहयामाह इति । क्रिया यागादिस्तस्य फलं स्वर्गादिः तदपि प्रेत्यैव मृत्वैव प्राप्तव्यं लोका जातिभ्रंशप्राप्यमपि न मन्यन्ते कथं मृत्युप्राप्यं बुधो मन्यते । तत्रापि कर्णमात्र**रोचकं** दूरात् समीचीनमिति श्रूयते न तु समीचीनं स्पर्धासूयाभयादीनां तत्रैवाधिक्यात् ।।१४।।

व्याख्यार्थ—इससे इस लोक और परलोक में दोष दिखाकर उनसे अपना वैराग्य निरूपण करते हैं, 'अथो' का अर्थ है दोषों के जाने के अनन्तर अर्थात् हमारे दोष नष्ट हो गए हैं तो भी, हम राज्य को नहीं चाहते हैं, राज्य के स्वरूप से दोष बताते हैं, मृगतृष्णा के समान अर्थ, शून्य है फिर इसका साधन, अर्थात् जिस देह से राज्य भोग किया जायगा वह देह भी बहुत दोषों वाली है, राज्य आत्मा से भोगा नहीं जाता है देह से ही भोगा जाता है, देह तो वर्तमान (मौजूद) दशा में सदा नहीं रहती है, आगे दोष युक्त हो जाती है, जैसे कि सर्वदा मृत्यु से ग्रस्त है और रोगों की उत्पत्ति का क्षेत्र है, अतः स्वयं और परिकर दोनों से राज्य दुष्ट होने से हम अब नहीं चाहते हैं, इस प्रकार इस लोक के फल में दोष बताया, अब परलोक में भी दोष कहते हैं, । यज्ञ आदि क्रियाओं के फलस्वरूप स्वर्ग आदि जो मरने के अनन्तर मिलता है वह भी नहीं चाहिए, क्योंकि लोक जाति भ्रंश होने से जो मिलता है वह भी लेना नहीं मानते हैं तो मृत्यु से प्राप्य समझदार लेना कैशे पसंद करेगा ? फिर उसमें भी वहां का सुख केवल कर्ण प्रिय है, दूर से ही अच्छा लगता है, वास्तव में अच्छा नहीं है क्योंकि वहाँ स्पर्धा, असूया और भय यहां से विशेष है ।।१४।।

आभास—एवमैहिकामुष्मिकफलवैराग्यं निरूप्य ज्ञानोपदेशे स्वयमधिकारी इति ज्ञापयित्वा प्रार्थयन्ते **तन्नः समादिशोपाय**मिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार इस लोक और परलोक से अपना वैराग्य निरूपण कर दिखाया कि हम अब ज्ञानोपदेश के अधिकारी हैं इसलिए 'तन्नः समादिशोपायं' श्लोक से प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—**तन्नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।**
मतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥

श्लोकार्थ—इस संसार में भ्रमण करने वाले हमको ऐसा उपाय बतलाईए कि जिससे हम आपके चरणारविन्द को भूल न जावें ॥१५॥

सुबोधिनी—चरणस्मरणेनैवैतावद्दूरे समागतमिति निरन्तरस्मरणहेतुमेव प्रार्थयन्ते, उपायश्चेत् ज्ञायते तदैव साध्यं स्वाधीनं भवत्यतो **यथा येनोपायेन ते चरणाब्जविषयिका मतिर्न विरमेत्।** स्वतो मतिस्थापनमशक्यमिति वक्तुं तद्विघातकं निर्दिशति **अपि संसरतामिह** इति। संसृतिरेव जननमरणरूपा भगवच्चरणविस्मारिका। तर्हि तदभाव एव प्रार्थनीयः स्यात् कथं स्मरणोपायप्रार्थना तत्राहुः **अपीति**। संसरणं त्वभीष्टं भगवदीयमार्गोपयोगित्वादिति भावः ॥१५॥

व्याख्यार्थ— चरणों के स्मरण करने से ही इतने दूर पहुँच गए हैं, इसलिए सदैव स्मरण रहे जिसके वास्ते प्रार्थना करते हैं, यदि उपाय का ज्ञान हो जाय तब ही साध्य अपने आधीन होता है, अतः जैसे जिस उपाय से आपके चरण कमल के विषय वाली मति हो जावे वहाँ से कभी भी विराम न पावे वह उपाय कृपया कहिये, स्वयं स्वतः आपके चरणों में मति स्थापित करनी अशक्य है, क्योंकि हम जन्म मरण रूप संसार चक्र में भ्रमण कर रहे है, वह भ्रमण भगवान् के चरणों को विस्मरण कराने वाला है, वह ही विघातक है, यदि यों है तो उसके अभाव की प्रार्थना कीजिए, स्मरण के उपाय की प्रार्थना क्यों करते हो, "अपि" शब्द से इसका उत्तर दिया है कि यह संसार तो अभीष्ट है क्योंकि भगवद्भक्तों के मार्ग के लिए उपयोगी है यों भाव है अतः चरण स्मरण रहे उसका उपाय ही हम चाहते हैं वह बताईए ॥१५॥

आभास—एवं प्रार्थयित्वा भगवतः षड्गुणख्यपकानि नामान्यनूद्य नमस्यन्ति **कृष्णायेति।**

आभासार्थ— इस प्रकार प्रार्थना कर भगवान् के छ गुणों के प्रसिद्ध करने वाले नाम कहकर नमन करते हैं 'कृष्णाय' श्लोक से।

श्लोक—**कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।**
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥

श्लोकार्थ—कृष्ण, वासुदेव, हरि, परमात्मा, प्रणत लोगों के क्लेश मिटाने वाले गोविन्द भगवान् आपको हम नमस्कार करते हैं ॥१६॥

सुबोधिनी— सदात्मकत्वात्कालरूपत्वाद्वा वैराग्यहेतुः। **वासुदेवो** ज्ञानहेतुः, शुद्धसत्त्वं वसुदेव इति। **हरिः** श्रीहेतुः बाह्यं दुःखं श्रियैव गच्छतीति। **परमात्मा** यशोहेतुः, सर्वोत्कर्ष एव यशः कारणम् **प्रणतानां** क्लेशनाशो हेतुः वीर्यकार्यम्, **गोविन्द** इन्द्रत्वादीश्वरः, आदरे वीप्सा। आदरेण नमनं सर्वकार्यसाधकमिति सूचितम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ— श्रीकृष्ण सदात्मकपन से अथवा कालरूप पन से वैराग्य के हेतु हैं, 'वासुदेव' होने से ज्ञान के कारण हैं क्योंकि वसुदेव शुद्ध सत्त्व है अतः सत्व से उत्पन्न वासुदेव ज्ञान के कारण हैं, 'हरि' होने से श्री के कारण हैं क्योंकि बाहर का दुःख श्री से ही नाश होता है, 'परमात्मा' होने से यश के कारण हैं क्योंकि सर्वोत्कर्ष ही यश का कारण है, परमात्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु सर्वोत्कर्ष वाली नहीं है, शरणागतों के क्लेशनाश के कारण हैं यह काय वीर्य गुण का है, गोविन्द नाम से इन्द्र का सत्वन कर ऐश्वर्य गुण दिखाया है, यह आदर में वीप्सा, है आदर से नमन करने से सर्व कार्यों की सिद्धि होती है क्योंकि आदर से प्रणाम करना सर्व कार्यों की सिद्धी का कारण है यों सूचित किया है ॥१६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **संस्तूयमानो भगवानिति।**

आभासार्थ— पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन शुकदेवजी 'संस्तूयमानो' श्लोक में करते है।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः।**
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ॥१७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि बन्धन से मुक्त हुए राजाओं ने इस प्रकार जब स्तुति की, तब दयालु और शरणागत वत्सल भगवान् मधुर वाणी से हे तात! संबोधन देकर कहने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—महान् स्तुतिप्रियो भवत्येव। अत उक्तं **भगवानिति**। महद्भिः स्तुतस्तुष्यतीति ज्ञापयितुं **राजभिरिति**। मोचनेन गतार्थतां वारयति **मुक्तबन्धनैरिति** सकृत्प्राप्तफलैर्वा। धाष्टर्यं क्रोधमकृत्वा वरदाने हेतुः **करुण** इति। **तातेति** परीक्षित्संबोधनमप्रतारणाय। **शरण्य** इति स तस्य सहजो धर्म इति। श्लक्ष्णा वाणी श्रवणमात्रेण सुखदात्रीति। शब्दोऽपि पञ्चमो विषयो निरूपितः ॥१७॥

व्याख्यार्थ— जो महान् होता है वह स्तुति प्रिय होता ही है इसलिए कहा 'भगवान्' अर्थात् षड्गुण सम्पन्न होने से महान् हैं फिर 'राजभिः' पद से दिखाया है कि स्तुति करने वाले भी राजा होने से महान् हैं अतः महान् पुरुषों से स्तुत होने से आप प्रसन्न होते हैं, बन्धन से छूटने का आशय है कि एक ही कार्य से फल की प्राप्ति हो गई है। राजाओं ने धृष्टता की है, तो भी, क्रोध न कर वरदान दिया, जिसका कारण यह है, कि आप दयालु हैं 'तात' यह संबोधन देकर बताया है कि

हम आपको ठगते नहीं, सत्य भाव कहते हैं 'शरण्य' पद से दिखाया है कि आप में शरणागतों पर दया कर उनकी रक्षा करने का सहज गुण है, सुन्दर मधुर वाणी सुनते ही आनन्द देनेवाली है 'शब्द' भी पाँचवाँ विषय निरूपण किया है (पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां श्लोक में 'रूप', 'रस', 'गन्ध' और 'स्पर्श' ये चार कहे हैं यहां 'शब्द' पाँचवाँ विषय भी कह दिया है) ।

कारिका—**जिज्ञासार्ती तदधिकारे द्वयमस्तीति वै हरिः ।**
सात्त्विकेभ्यो मुख्यशास्त्रं सगुणं प्राह योग्यतः ॥
स्वकीयान् षड्गुणान्प्राह षड्भिः सर्वत्र दुर्लभान् ।
भक्तिदानं बुद्धिशंसा राज्यदोषः कृपाकृतिः ॥
ऋणत्रयं निराकृत्य तत्र चिन्ता विरागता ।
एवं स्वधर्मैर्हरिप्राप्तिरिति वाक्यार्थसङ्ग्रहः ॥

कारिकार्थ—भगवान् ने राजाओं में 'जिज्ञासा' और आर्ति, ये दो धर्म उनमें उपदेश योग्य अधिकार के देखे, अतः उन सात्विकों को सगुण मुख्यशास्त्र सुनाने लगे, आपके छ गुण जो सर्वत्र दुर्लभ हैं उनको निम्न प्रकार क्रम से कहा १-भक्ति का दान २-बुद्धि की प्रशंसा ३-राज्य का दोष ४-उन पर कृपा की ५-तीन ऋणों से मुक्ति ६-वैराग्य ये छ गुण छ श्लोकों से कहे हैं जिनसे भक्त को भगवान् की प्राप्ति होती है ।

आभास—जरासंधवधेन तेषां शरीराणि मोचयित्वा स्तुत्या तुष्ट आत्मनो मोचयति **अद्यप्रभृतीति** षड्भिः ।

आभासार्थ— जरासन्ध के वध से इन राजाओं के शरीरों को बन्धन से छुड़ाया, अब स्तुति से प्रसन्न होकर इनके आत्माओं को संसार रूप कैद से छुड़ाने के लिए भगवान् 'अद्य प्रभृति' श्लोक से ६ श्लोकों में राजाओं को उपदेश देते हैं ।

श्लोक—श्री भगवानुवाच—**अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ।**
सुदृढा जायतां भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा ॥१८॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे भूपतिओं ! सब का ईश्वर और आत्मा जो मैं हूँ, उसमें जैसी भक्ति तुम चाहते हो वैसी ही आज से लेकर दृढ भक्ति होवे ॥१८॥

सुबोधिनी—आदौ तैर्यत्प्रार्थितं स्मृतिविच्छेदो मा भवत्विति तत्रोत्तरमाह **अद्यप्रभृति वो** युष्माकं **मयि सुदृढा भक्तिर्जायतामिति** । अत्यन्तस्नेह एव नित्यं स्मरणमिति सिद्धान्तः प्रयोजनसाधकत्वं

औपाधिकं संस्मरणहेतुः, तदप्याह **मयि आत्मनि अखिलेश्वर** इति । अन्तर्बहिरावश्यकसेव्य इति । **भूपा** इति संबोधनं तारतम्यज्ञानार्थम् । **बाढं** यथेष्टं इदं यथावदाशंसितमेव दत्तं न त्वपूर्वम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ— पहले जो इन राजाओं ने मांगा था कि आपका स्मरण सदा बना रहे कभी भी आपको भूल न जाए, इसका उत्तर कहते हैं, आज से लेकर तुम्हारी मुझ में सुदृढ़ भक्ति होवे नित्य स्मरण ही अत्यन्त स्नेह है यह सिद्धान्त है, प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्मरण तो औपाधिक है, वह भी कहते हैं । मैं जो सबकी आत्मा और सब का ईश्वर हूं वह मैं अन्दर और बाहर अवश्य ही सर्वदा सेवा के योग्य हूं, 'भूपा' यह संबोधन, तारतम्य के ज्ञान के लिये है, जो आपको इष्ट है और जो आपने चाहा है वह ही दिया है न कि अपूर्व दिया है ॥१८॥

आभास—तर्हि आशंसायां दोषो भविष्यतीत्याशङ्क्य साध्वाशंसितमित्वाह **दिष्ट्या व्यवसितं भूपा** इति ।

आभासार्थ— तो प्रार्थना में दोष होगा ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि नहीं प्रार्थना तो अच्छी की है यह 'दिष्ट्या' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ।**
श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे भूपतिओं ! तुम्हारा उद्यम श्रेष्ठ है, आप सत्य बोलने वाले हैं, श्री के साथ जो ऐश्वर्य है उससे मनुष्यों में उत्पन्न सर्वदा मद की जो स्थिति है उसको देखने से मालूम होता है कि मद की स्थिति भ्रम को जगाती है ॥१९॥

सुबोधिनी-एतादृशो व्यवसायो न साधारणानां भवति । निरन्तरस्मरणोपायप्रार्थनाविषयः । किंच । **भवन्त ऋतभाषिणः** राज्यस्यानर्थहेतुत्वभाषणं भवतामन्तःकरणपूर्वकं सत्यमेव यतः अहमपि **श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं नृणामुन्मादकमेव पश्ये** । श्री सहितं यदैश्वर्यं तेन यो **मदोन्नाहः** मदबन्धनं सर्वदा मदस्थितिः तत् नृणामुन्मादकं भ्रान्ति जनयतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणम**हं पश्य** इति ॥१९॥

व्याख्यार्थ— ऐसा व्यवसाव साधारण पुरुषों को नहीं होता है निरन्तर स्मरण होता रहे जिसके उपाय बताने के लिए प्रार्थना है, तुम, सत्य बोलने वाले हो यों कैसे कहते हो, तो उसका उत्तर देते हैं कि राज्य अनर्थकारो है, यों हमारे सामने तुम अभी कह चुके हो, अतः तुम्हारा अन्तः करण सत्य ही है क्योंकि मैं भी मनुष्यों को लक्ष्मी के मद से भ्रमित और अभिमानी देख रहा हूं जिस मद की अधिकता से भ्रान्ति होती है, मेरा इस प्रकार देखना ही इसमें प्रमाण है ॥१९॥

आभास—अत एव बहवो मया तस्माष्मदात्त्याजिता इत्याह **हैहय** इति ।

आभासार्थ— मैंने उस मद से बहुतों को छुड़ाया है 'हैहय' श्लोक में वह बताते हैं—

श्लोक—**हैहयो नहुषो बेनो रावणो नरकोऽपरे ।**
श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥२०॥

श्लोकार्थ—सहस्रार्जुन, नहुष, वेन, रावण, नरकासुर, और दूसरे भी देव, दैत्य तथा राजा लोग 'श्री' के मद होने से अपने स्थान से गिरे हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—यद्यद्यैव एव एव त्याजिताः स्युः तदा अविवेकदशायां मात्सर्यमपि भवेत् पूर्वमप्येवंभावे तु 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इतिवन्न दोषः संभवति सुतरां ते चेन्महान्तः अतस्तेषां महत्त्वसिद्ध्यर्थं नामानि गृह्णाति । **हैहयः** सहस्रार्जुनः । **नहुषः** ययातिपिता । परशुरामेण इन्द्राण्या च भ्रंशितौ । **बेनो** ब्राह्मणैः । **रावणो** रामेण । **नरको** मयैव । **अपरे** चैवंभूताः हिरण्यकशिपुप्रभृतयः शतशः सन्ति **श्रीमदात् स्थानाच्च** च्याविताराज्यं शरीरं च दूरी कृतमिति । **देवा** नहुषादयः **दैत्या** हिरण्यकशिपुप्रभृतयः **नरेश्वरा** अर्जुनादयश्चेति त्रिगुणा अपि स्थानभ्रष्टाः क्रियन्ते ॥२०॥

व्याख्यार्थ— यदि आज ही केवल ये ही गिराए जावें तो अविवेक दशा में इनको मात्सर्य भी हो जाय, किन्तु आगे भी यों हुवा है, अतः 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इस उक्ति के अनुसार बहुतों से जो कुछ दुःख हुवा है यदि वैसा अपने को भी हो जाय तो उसमें दोष नहीं है, यदि वे बहुत कर महान् पुरुष होवे तो, इसलिए उनके नाम कहते हैं।

१- सहस्रार्जुन, नहुष इनको परशुराम और इन्द्राणी ने गिराया है। वेन को ब्राह्मणों ने गिराया, रावण को रामने गिराया है, नरकासुर को मैंने गिराया है और दूसरे भी ऐसे लक्ष्मीमदान्ध हिरण्यकशिपु प्रभृति सैकड़ों 'श्री' मद के कारण स्थान से गिरे, राज्य और शरीर दोनों गए, नहुष आदि देव थे हिरण्यकशिपु आदि और अर्जुन आदि नरेश्वर भी गिरे, तीन गुण वाले स्थान भी भ्रष्ट किए जाते हैं ॥२०॥

आभास—अतो मदे सति स्थानभ्रंशो भविष्यतीति निश्चित्य मदं परित्यज्य मदुक्तं कुरुतेत्याह **भवन्त** इति ।

आभासार्थ— अतः मद होने पर स्थान भ्रष्ट होगा यह मन में निश्चय से समझ कर मद का त्याग कर मेरा कहा करो, यह 'भवन्त' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।**
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥२१॥

श्लोकार्थ—ऊपर दिए हुए दृष्टान्तों से तुम समझ लो कि देह, राज्य आदि सब अन्त वाले हैं अतः यज्ञ आदि से मेरा यजन करो तथा धर्म से प्रजा की रक्षा करो ॥२१॥

सुबोधिनी—**एतत्** पूर्वोक्तं भ्रंशरूपमनुभवयुक्तिभ्यां विशेषतो ज्ञात्वा । देहादौ वैराग्यं कर्तव्यमिति वदन् प्रथमं देहदोषमाह **देहादि** देहराज्यादिकम् । **उत्पाद्यं** केनचिदुत्पाद्यते न तु नित्यं सहजम् । अत एव **अन्तवत** नश्वरं **एतत्** ज्ञात्वा देहरक्षायां शिथिलप्रयत्नाः सन्तः तेन स्वत एव दैववशात् विद्यमानेनाध्वरैर्यागैर्मां **यजन्तः धर्मेण प्रजा रक्षथ** । राज्ञः प्रजापालनं यज्ञाश्च धर्माः ॥२१॥

व्याख्यार्थ— यह पहले कहा हुआ राजाओं के गिरने का कारण अनुभव और युक्ति से विशेष जानकर देह आदि मैं वैराग्य करना चाहिए, यों कहते हुए प्रथम देह दोष कहते हैं, देह राज्य आदि यह सब किसी प्रकार से भी पैदा होते है, अतः ये नित्य स्वभाव सिद्ध नहीं है, इसलिए इनको अन्तवाला अर्थात् नाशवाला समझकर देह (राज्य) की रक्षा में स्वल्प प्रयत्न करो स्वतः ही दैव वश से जो विद्यमान हो उससे यज्ञ द्वारा मेरा पूजन करो और धर्म से प्रजा कि रक्षा करो, प्रजा की रक्षा करना और यज्ञ करना राजा के धर्म हैं ॥२१॥

आभास—साधारणं धर्ममाह **वितन्वन्तेः प्रजातन्तूनिति** ।

आभासार्थ— 'वितन्वन्तः प्रजातन्तून्' श्लोक में साधारण धर्म कहते है।

श्लोक—**वितन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ ।**
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥

श्लोकार्थ—पुत्र आदि सन्तति उत्पन्न करते हुए और सुख दुःख लाभ और अलाभ जो आ जाय, उसका सेवन करते हुए मुझमें चित्त लगाकर विचरते रहो ॥२२॥

सुबोधिनी—गृहस्थस्यैवैष धर्मः सर्वत्रैव पुरुषार्थसिद्धिरिति वक्तुं नाश्रमान्तरमुपदिशति **प्रजातन्तून्** सन्ततिपरंपराम्, **वितन्वन्तः** विशेषेण संपादयन्तः, तदनन्तरं **सुखं दुःखं भव** उद्भवः, **अभवो** हानिः । एतच्चतुष्टयं साध्यसाधनरूपं दैववशात् **प्राप्तं प्राप्तं** सकृत् क्लेश प्राप्य निवृत्तो रोगे पुनरागते पूर्वानुभूतदुःखभयात्तन्निराकरणार्थं यत्नो न कर्तव्य इति सूचियितुं वीप्सा । चकारादन्यान्यपि सुखदुःखसाधनानि प्राप्तानि । सहने साधनं **मच्चित्ता** इति कृष्णोऽस्ति मम, किमनेन समीचीनेनासमीचीनेन वेति निश्चित्य यथाप्राप्तार्थानुभवः कर्तव्य इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ— सर्वत्र ही पुरुषार्थ सिद्ध करना यह गृहस्थ का ही धर्म है, यों कहने के लिए दूसरे आश्रमों का उपदेश नहीं करते हैं, अतः कहते हैं कि पुत्रादि सन्तति का विस्तार करते हुए, सुख, दुःख, लाभ और हानि ये चार साध्य और साधन रूप प्रारब्ध वश प्राप्त होवे तो उससे प्राप्त क्लेश का एक बार अनुभव कर लेना चाहिए। रोग निवृत्त हो जाकर पुनः आजावे तो पहले अनुभव किए हुए दुःख के भय से उसके निराकरणार्थ यत्न नहीं करना चाहिए, ऐसी शिक्षा देने के लिए दो बार 'प्राप्तं प्राप्तं' कहा है, 'च' पद से यह सूचित किया है कि दुःख के मिटाने के अन्य साधन प्राप्त भी हो एवं सुख प्राप्त्यर्थ दूसरे साधन होवें तो भी उनका उपयोग नहीं करना चाहिए, दुःखादि के सहन में उनका साधन यही है कि उनका चित्त मुझमें है, वे यों हो रटते हैं कि जो कुछ

है वह मेरे तो कृष्ण ही हैं, (अशक्ये वा सुशक्ये सा सर्वथा शरणं हरिः) इस अच्छे सुख अथवा बुरे दुःख से क्या ? यों निश्चय कर जैसा भी अर्थ प्राप्त हो उसका अनुभव करते रहना चाहिए यों तात्पर्य है ॥२२॥

आभास— एवं कृते यद्भविष्यति फलं तत्साधनसहितं निर्दिशति **उदासीना** इति ।

आभासार्थ— यो करने से जो फल होगा वह साधन सहित 'उदासीना' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ।**
मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ।।२३।।

श्लोकार्थ—जो तुम देह आदि सब पदार्थों से उदासीन एव आत्माराम होकर नियम पूर्वक रहोगे और मुझमें मन अच्छी तरह लगाओगे तो अन्त में परब्रह्म रूप मुझको प्राप्त करोगे ।।२३।।

सुबोधिनी—स्वेषु धनबन्ध्वादिषु देहधर्मादिषु च **उदासीना** भवन्तु मा भवन्त्विति रागद्वेषरहिताः । न केवलं बहिर्मुखताभाव एव जयोजकः किन्त्वात्मरमणमपि एतदुभयसिद्धयर्थं **धृत**भगवद्व्रताः । एवं साधनैर्यावज्जीवं **मयि सम्यङ् मन आवेश्य अन्ते** मरणसमये ब्रह्मस्वरूपं **मां यास्यथ** गमिष्यथ । मध्ये देहनाशार्थं प्रयत्ने देहे बीजं तिष्ठेत, अतो देहान्तस्यैव प्रतीक्षा कर्तव्या। मत्स्मरणमेव कर्तुं शक्यं कार्यसाधकं च ततश्च मत्प्राप्तिरेव भविष्यति । मम ब्रह्मत्वात्तत्फलं मोक्ष एवेति फलं तत्स्तुतिश्चोक्ता ।।२३।।

व्याख्यार्थ— अपने धन बन्धु आदि में तथा देह के धर्मादि में राग द्वेष रहित होकर रहो अर्थात् इनमें न प्रेम रखो और न द्वेष रखो, ऐसी, वृत्ति को उदासीन वृति कहते हैं । आप वैसे बन के रहो, केवल बहिर्मुखता का अभाव नहीं होना चाहिए किन्तु आत्मा में रमणभी चाहिए । इन दोनों की सिद्धि के लिए साधन बताते हैं कि 'धृतव्रता' अर्थात् भगवान् का ही व्रत धारण करिए, इस प्रकार साधनों से जब तक जीवन है तब मुझ में मन को पूर्णरीति से प्रवेश कराके, अन्त में अर्थात् मरण समय में ब्रह्म स्वरूप मुझको पाओगे, मध्य में देह नाशार्थ प्रयत्न होने पर भी देह में बीज रहे अतः देहान्त की ही प्रतीक्षा करनी चाहिए, कार्य की सिद्धि करने वाला मेरा स्मरण ही करना शक्य है उससे मेरी ही प्राप्ति होगी, मैं ब्रह्म हूँ जिसका फल मोक्ष ही है इस प्रकार फल और उसकी स्तुति दोनों कही है ।।२३।।

आभास—एवं निरभिमानस्थितिं प्रेमभक्तिं निरन्तरस्मरणमन्ते मोक्षं च तेभ्यो दत्ता कृतार्थानपि लोकपुरस्कारार्थं लौकिक्य परिचर्यया संस्कृतान् कृतवानित्याह **इत्यादिश्येति** त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार अभिमान रहित स्थिति, प्रेमभक्ति, निरन्तर स्मरण और अन्त में मोक्ष देकर कृतार्थ किया, कृतार्थ हुए उनको लौकिक पुरस्कार के लिए लौकिक परिचर्या से संस्कृत करने लगे, यों 'इत्तादिश्य' से तीन श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच – **इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः ।**
तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियोमज्जनकर्मणि ।।२४।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्ण ने राजाओं को इस प्रकार आज्ञा कर उन्हें स्नान आदि कराने के लिए कितनेक पुरुष व स्त्रियों को आज्ञा दी ।

सुबोधिनी—यतः कृष्णः सदानन्दः भक्तसुखार्थ मेव गृहीतावतारः । साधनसंपत्त्यर्थमाह **भुवनानामीश्वर** इति । **तेषां** प्रथमं **मज्जनकर्मणि** स्नान कर्मणि **पुरुषान् स्त्रियश्च न्ययुङ्क्त** । श्रमापनोदःपुरुषैः सौष्ठवं स्त्रीभिरित्युभयविनियोगः । अमज्जनकर्मणि मज्जनकर्मणि वा येषु कर्मसु कृतेषु मज्जनममज्जनं वा प्राप्नोतीति श्मश्रुकर्मोन्मर्दनादिषु मज्जनं तिलकादिष्वमज्जनमिति ।।२४।।

व्याख्यार्थ— क्योंकि श्रीकृष्ण सदानन्द ने भक्तों को सुखदान देने के लिए अवतार धारण किया है, साधन सम्पत्ति के लिए कहते है कि लोकों के ईश्वर हैं, पहले उन राजाओं के स्नान आदि कर्म कराने के वास्ते पुरुष और स्त्रियों को लगाया अर्थात् आज्ञा दी, उनका श्रम अर्थात् थकावट दूर करना आदि कार्य पुरुष करा सकेंगे, सुख से स्नान आदि स्त्रियों करा सकेगी इसलिए दोनों को इस कार्य में लगाया, दो प्रकार के कार्य हैं एक प्रकार वह जिसके करने से स्नान आदि करना पड़े वह मज्जन कर्म, जिस कर्म करने से स्नानदि न करना पड़े वह अमज्जन कर्म है, जैसे कि बाल बनवाना, तेल की मालिश आदि कर्म के अनन्तर स्नान करना पड़ता है अतः वह मज्जन कर्म हैं, तिलक आदि कर्म करने पर स्नान नहीं करना पड़ता है अतः वह अमज्जन कर्म हैं ।।२४।।

श्लोक—**सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।**
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्त्रग्विलेपनैः ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! राजाओं के योग्य वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दन लेपन आदि से पूजन सहदेव से कराया ।।२५।।

सुबोधिनी—ततस्तो राजानो गृहे समागता इति **सहदेवेन** जरासंधपुत्रेण कृत्वा तेषां **सपर्यां** पूजां विधिवत्**कारयामास** । **भारते**ति धर्मकर्मणि विश्वासार्थम् । पूजायां प्रकारमाह **नरदेवोचितै**रिति । उत्कृष्टैः कञ्चुकोष्णीषादिभिर्भूषणैः कुण्डलादिभिः **स्त्रग्भिश्चन्दनादिभिः** ।।२५।।

व्याख्यार्थ— पश्चात् वे राजा घर आए, तब जरासन्ध के पुत्र सहदेव से उनकी विधिवत् पूजा करवाई, 'हे भारत !' सम्बोधन से बताया कि धर्म कर्म में आपका विश्वास है पूजा का प्रकार कहते हैं कि, राजाओं के योग्य जैसी पूजा होनी चाहिए वैसी करवाई, उत्कृष्ट कञ्चुक, पगंडी (पाग) आदि वस्त्रों से और कुण्ड़ल आदि आभूषणों से माला और चन्दन के लेप आदि से पूजा की ।।२५।।